भारत का इतिहास 300 ईस्वी से 1200 ईस्वी तक तक

इतिहास विभाग

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

विश्वविद्यालय मार्ग, तीनपानी बाईपास

हल्द्वानी-263139

ई-मेल info@uou.ac.in, http@//uou.ac.in

अध्ययन मण्डल

अध्यक्ष

कुलपति

अध्ययन मण्डल के सदस्यों के नाम

प्रोफेसर गिरिजा प्रसाद पाण्डे , प्रोफेसर इतिहास एवं निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा**,** उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय**,** हल्द्वानी

प्रोफेसर आर.पी. बहुगुणा, प्रोफेसर इतिहास एवं पूर्व निदेशक**,** दूरस्थ शिक्षा केन्द्र **,** जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय**,**दिल्ली

प्रोफेसर शन्तन सिंह नेगी, पूर्व विभागाध्यक्ष इतिहास विभाग**,** एच.एन.बी. गढ़वाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय**,** श्रीनगर (गढ़वाल)

प्रोफेसर वी.डी.एस.नेगी, विभागाध्यक्ष इतिहास**,** एस.एस.जीना विश्वविद्यालय**,**अल्मोड़ा

डॉ. एम.एम.जोशी, एसोसिएट प्रोफेसर**,** इतिहास एवं समन्वयक इतिहास**,** उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय**,** हल्द्वानी

श्री विकास जोशी, असिस्टेण्ट प्रोफेसर(एसी)**,** इतिहास विभाग**,** उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय**,** हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ. मदन मोहन जोशी

ब्लाक एक

इकाई एक- गुप्त साम्राज्यः चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा उनकी सफलताएं- डॉ. प्रशान्त श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ

इकाई दो- समुद्रगुप्त का उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ अभियान- विकास जोशी, असिस्टेण्ट प्रोफेसर(एसी), उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

इकाई तीन- कुमारगुप्त प्रथम एवं उसके उत्तराधिकारी, गुप्त साम्राज्य का पतन- विकास जोशी, असिस्टेण्ट प्रोफेसर(एसी), उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

ब्लाक दो

इकाई चार- गुप्तकाल:प्रशासन, कला, साहित्य और विज्ञान- डॉ. जीतेश कुमार जोशी, असिस्टेण्ट प्रोफेसर(एसी), उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

इकाई पांच-गुप्तकाल में व्यापार तथा वाणिज्य- डॉ. प्रशान्त श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ

इकाई छह-हर्षकालीन सास्कृतिक जीवन- डॉ. मदन मोहन जोशी , असिस्टेण्ट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

ब्लाक तीन

इकाई सात-गुप्तोत्तरकालीन प्रशासन, कृषि एवं राजस्व व्यवस्था- डॉ. जीतेश कुमार जोशी , , असिस्टेण्ट प्रोफेसर(एसी), उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

इकाई आठ- राजपूतों का उदय तथा भारतीय सामंतवाद- विविध दृष्टिकोण - डॉ.दीपक कुमार,इतिहास विभाग,जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

इकाई नौ- पल्लव,चालुक्य,चोल कालीन दक्षिण भारत- दीपांकर दास इतिहास विभाग, मोतीलाल नेहरू कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय,

ब्लाक चार

इकाई दस- राष्ट्रकूट, पाल, प्रतिहार – त्रि-पक्षीय संघर्ष- डॉ. सम्पत्ति नेगी, असिस्टेण्ट प्रोफेसर(एसी), उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

इकाई ग्यारह- उत्तर भारत में राजपूतों का उत्थान: राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज एवं संस्कृति- डॉ. सम्पत्ति नेगी, असिस्टेण्ट प्रोफेसर(एसी), उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

इकाई बारह-अरब आक्रमण के समय भारत की स्थिति तथा अरबों के आक्रमणों का प्रभाव- डॉ. मदन मोहन जोशी , असिस्टेण्ट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

ब्लाक पांच

इकाई तेरह-महमूद गजनवी एवं मोहम्मद गौरी के आक्रमणों का प्रभाव- डॉ. मदन मोहन जोशी , असिस्टेण्ट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

इकाई चौदह- तुर्क आक्रमण की पूर्व संध्या में भारत की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक दशा- डॉ. मदन मोहन जोशी , असिस्टेण्ट प्रोफेसर, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी

आई.एस.बी.एन. :

कॉपीराइट : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष :

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

Printed at :

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथ्वा किसी अन्य साधन से पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इकाई एक- गुप्त साम्राज्य : चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त , चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा उनकी सफलताएं

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 चन्द्रगुप्त I

1.4 समुद्रगुप्त

1.5 चन्द्रगुप्त II

1.6 साराशं

1.7 तकनीकी शब्दावली

1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

चन्द्रगुप्त I ,समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त II की उपलब्धियों पर चर्चा करने से पहले गुप्तों के विषय में सामान्य जानकारी प्राप्त करना उचित होगा।गुप्तों के आदिदेश के समान उनकी उत्पत्ति के विषय में भी विद्वान एकमत नहीं हैं। काशी प्रसाद जायसवाल विज्जिका कृत 'कौमुदीमहोत्सव' के चण्डसेन की पहचान चन्द्रगुप्त I से करते हैं। उक्त रचना में चण्डसेन को कारस्कर बताया गया है। 'बौधायन धर्मसूत्र' में कारस्कर का उल्लेख मद्र, आरट्ट आदि के साथ किया गया है, जो पंजाब की जाट जातियाँ हैं। इस आधार पर जायसवाल गुप्तों को जाट बताते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वान 'कौमुदीमहोत्सव' के चण्डसेन को चन्द्रगुप्त I पहचानने के पक्ष में नहीं है।

अनन्त सदाशिव अलतेकर इस वंश के शासकों के गुप्त नामान्त के आधार पर गुप्तों को वैश्य मानने का सुझाव देते हैं क्योंकि धर्मशास्त्र में गुप्त नामान्त वैश्यों के लिए उपयुक्त बताया गया है। किन्तु प्राचीन भारत में इस व्यवस्था के अपवाद उपलब्ध हैं। ब्राह्मण वर्ण में 'अर्थशास्त्र' का रचनाकार विष्णुगुप्त, तथा खगोलशास्त्री ब्रह्मगुप्त ज्ञात है।कुछ विद्वानों के अनुसार गुप्त ब्राह्मण थे। वाकाटक अभिलेखों में चन्द्रगुप्त II की पुत्री, प्रभावती गुप्ता का गोत्र धारण बताया गया है। अभिलेखीय स्रोतों से ज्ञात है कि वाकाटक विष्णुवृद्ध गोत्रीय ब्राह्मण थे। अतः प्रभावतीगुप्ता के लिए प्रयुक्त धारण गोत्र उसका पैतृकगोत्र, अर्थात् गुप्तों का, गोत्र रहा होगा। गुप्तकाल में धारण ब्राह्मणों का गोत्र था। नरेन्द्र के कुरुड अभिलेख में उल्लिखित भश्रुतस्वामि, धारण गोत्रीय ब्राह्मण था। अतः धारण गोत्रीय गुप्त भी ब्राह्मण रहे होंगे। किन्तु अश्विनी अग्रवाल का विचार है कि वाकाटक अभिलेखों में धारण गोत्र का उल्लेख

प्रभावतीगुप्ता नहीं, अपितु उसकी माता, कुबेरनागा, के गोत्र के रूप में हुआ है, और इस उल्लेख के आधार पर गुप्तों के वर्ण का अनुमान लगाना उचित नहीं होगा।

स्वयं अश्विनी अग्रवाल का मत है कि गुप्तों के विष्णुवृद्ध गोत्रीय वाकाटक तथा मानव्य गोत्रीय कदम्ब जैसे ब्राह्मण राजवंशों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध ज्ञात हैं। अतः स्वयं गुप्त भी ब्राह्मण रहे होंगे। किन्तु यहाँ यह कहना आवश्यक है कि राजवंशों के मध्य वैवाहिक सम्बन्धों की स्थापना के समय अनेक बार वर्ण एवं जाति की अपेक्षा राजनीतिक कारण अधिक प्रभावी भूमिका निभाते हैं। यदि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति की सूचना को विश्वसनीय माना जाए, तो परवर्ती कुषाण, शक, मुरुण्ड, श्रीलंका, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक द्वीपों की विदेशी कन्याओं का विवाह राजनीतिक कारणों से गुप्त वंश में हुआ था। गुप्तों से पूर्व भी कार्दमक शक महाक्षत्रप, रुद्रदामन् की पुत्री का विवाह सातवाहन वंश में हुआ था। ऐसी दशा में ब्राह्मण राजवंशों के साथ गुप्तों के वैवाहिक सम्बन्धों के आधार पर गुप्तों को ब्राह्मण मानना उचित नहीं लगता।

1.2 उद्देश्य

पिछली इकाइयों में आपको प्राचीन भारतीय इतिहास के विविध पक्षों की जानकारी दी गयी थी और आपको उक्त से संबंधित जानकारी हो पायी।इस इकाई का उद्देश्य प्राचीन भारत में गुप्तवंशीय शासकों चन्द्रगुप्त I, समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त II की राजनीतिक उपलब्धियां किस प्रकार रही ,इससे संबंधित तथ्यों से आपको अवगत कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आपको निम्नांकित तथ्यों के विषय में जानकारी हो सकेगी-

- चन्द्रगुप्त I की उपलब्धियां
- समुद्रगुप्त की उपलब्धियां
- चन्द्रगुप्त II की उपलब्धियां

1.3 चन्द्रगुप्त I

चन्द्रगुप्त I गुप्त वंश में 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण करने वाला पहला शासक हुआ। इसके आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वह अपने वंश का पहला स्वतंत्र शासक था। सम्भव है कि लिच्छवियों के साथ स्थापित हुए वैवाहिक सम्बन्ध ने इसमें चन्द्रगुप्त I की सहायता की हो। स्मिथ के अनुसार पाटिलपुत्र पर लिच्छवियों का अधिकार था। चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के विवाह के परिणामस्वरूप उस पर गुप्त अधिकार स्थापित हो गया। राजनीतिक शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि होने पर चन्द्रगुप्त ने 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की होगी। किन्तु एलन इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार पाटलिपुत्र गुप्त के काल से ही गुप्तों के अधिकार में था। चन्द्रगुप्त I ने लिच्छवियों को पराजित किया। बाद में गुप्तों और लिच्छवियों के मध्य संधि हो गई, जिसकी एक शर्त के अनुसार लिच्छवि राजकुमारी, कुमारदेवी, का विवाह चन्द्रगुप्त प् के साथ किया गया। इस विवाह के परिणामस्वरूप गुप्तों की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ी, और इस कारण चन्द्रगुप्त I तथा कुमारदेवी के पुत्र, समुद्रगुप्त, ने दोनों के विवाह की स्मृति में चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी प्रकार की मुद्रा जारी की, और गुप्त वंशावली में उसे 'लिच्छवि' दौहित्र' कहा गया। अलतेकर

एलन से सहमत नहीं हैं। यदि चन्द्रगुप्त प् ने लिच्छवियों को पराजित किया होता, तो समुद्रगुप्त उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ने में गौरव का अनुभव न करता।

स्वयं अलतेकर का विचार है कि चन्द्रगुप्त I और कुमारदेवी के विवाह के परिणामस्वरूप गुप्त और लिच्छवि राज्यों का एकीकरण हो गया। इस राजनीतिक व्यवस्था में कुमारदेवी राजा की पत्नी होने के साथ-साथ स्वयं सहशासिका भी थी। इस कारण सहशासन के दौरान जारी चन्द्रगुप्त-कुमारदेवी प्रकार की मुद्रा के अग्रभाग पर चन्द्रगुप्त I एवं कुमारदेवी, दोनों के नाम तथा आकृतियाँ, तथा पृष्ठभाग पर लिच्छवियों का उल्लेख किया गया। प्रभाव क्षेत्र एवं राजनीतिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होने पर चन्द्रगुप्त I ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर 'महाराजाधिराज' को उपाधि धारण की। अधिकांश विद्वान 319 ईसवी में गुप्त संवत् के प्रवर्तन का श्रेय भी चन्द्रगुप्त I को देते हैं।

'वायुपुराण' तथा 'विष्णुपुराण' से ज्ञात होता है कि गुप्त के वंशज गंगा के किनारे के क्षेत्रों , प्रयाग, साकेत, एवं मगध के सभी जनपदों का, अथवा गंगा के किनारे स्थित प्रयाग, तथा साकेत एवं मगध के सभी जनपदों का उपभोग करेंगे। गुप्त राज्य का यह विस्तार गुप्त और घटोत्कच जैसे अधीनस्थ शासकों के लिए बहुत अधिक प्रतीत होता है। समुद्रगुप्त से स्कन्दगुप्त तक गुप्त शासकों का अधिकार क्षेत्र इससे कहीं अधिक विस्तृत था। स्कन्दगुप्त के उपरान्त गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ संकुचित होने लगीं। फिर भी बंगाल पर गुप्तों का अधिकार लगभग अंत तक रहा। यदि पुराणों में उल्लिखित उपरोक्त विस्तार स्कन्दगुप्त के बाद की स्थिति की ओर संकेत कर रहा होता, तो उसमें बंगाल का उल्लेख होना चाहिए था। इस कारण अधिकांश विद्वान इसे चन्द्रगुप्त प् का राज्य विस्तार मानते हैं। अतः चन्द्रगुप्त प् ने पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के क्षेत्रों पर शासन किया होगा।

प्रयाग प्रशस्ति की खण्डित आरम्भिक पंक्तियों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त प् ने अपने पुत्र, समुद्रगुप्त, की योग्यता की प्रशंसा करते हुए उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। समुद्रगुप्त के एरण प्रस्तर लेख से संकेत मिलता है कि चन्द्रगुप्त I, समुद्रगुप्त से उसकी वीरता, भक्ति और सच्चरित्र के कारण अत्यंत प्रसन्न था। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार चन्द्रगुप्त I की उत्तराधिकार सम्बन्धी घोषणा से राजसभा में उपस्थित सिंहासन के अन्य दावेदारों के मुख म्लान पड़ गए। इससे यह अनुमान लगाना अनुचित नहीं होगा कि समुद्रगुप्त को पिता द्वारा उत्तराधिकारी चुने जाने के बाद भी सिंहासन पर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए प्रतिद्वन्द्वियों से संषर्घ करना पड़ा। सम्भवतः इसी कारण उसके द्वारा जारी सर्वप्रथम मुद्रा प्रकार, दण्डधारी प्रकार, के अग्रभाग के लेख में उसके द्वारा सौ युद्धों में विजय प्राप्त किए जाने का उल्लेख मिलता है।

1.4 समुद्रगुप्त

समुद्रगुप्त के कृतित्त्व एवं व्यक्तित्व के विषय में हरिषेण रचित प्रयाग प्रशस्ति से विस्तृत सूचना प्राप्त होती है। अभिलेख में उत्तर भारतीय, दक्षिण भारतीय, तथा विदेशी शक्तियों के साथ उसके सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। उत्तर भारत में उसकी सैन्य गतिविधियों की चर्चा दो बार की गई है-उसके दक्षिण भारतीय अभियान के वर्णन से पूर्व, तथा उसके पश्चात् भी। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने यह अनुमान व्यक्त किया है कि उसने उत्तर भारतीय राज्यों की विजय हेतु कम से कम दो अभियान किए। किन्तु अन्य विद्वानों की धारणा है कि एक उत्तर भारतीय राजा,

उत्तर भारत में अपनी स्थिति को सुदृढ़ किए बिना दक्षिण की ओर अभियान नहीं करेगा, और समुद्रगुप्त ने उत्तर भारत के एक विस्तृत भूभाग पर अपना अधिकार स्थापित करने के उपरांत ही दक्षिण भारत की विजय की योजना बनाई होगी।

समुद्रगुप्त के शासन के आरम्भिक वर्षों में उत्तराधिकार के लिए संघर्ष के परिणामस्वरूप व्याप्त राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाकर सम्भवतः अच्युत, नागसेन, गणपतिनाग, तथा कोतकुलज जैसे कुछ राजाओं ने गुप्तों के मूल्य पर अपने अधिकार क्षेत्र के विस्तार का प्रयास किया। समुद्रगुप्त ने इन सभी को पराजित किया। इनमें अच्युत सम्भवतः अहिच्छत्रा का नाग शासक था, जिसकी मुद्राएं पंचाल क्षेत्र से प्राप्त हुई हैं। नागसेन और गणपतिनाग भी नागवंशीय शासक थे जो क्रमशः पदमावती तथा मथुरा पर राज्य करते थे। कोतकुलज का राज्य ऊपरी गंगा घाटी में स्थित प्रतीत होता है। देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर के अनुसार इन चारों शासकों ने गुप्तों के विरुद्ध एक संघ का गठन किया था। प्रयाग प्रशस्ति में दक्षिणापथ अभियान के विवरण के पश्चात् पंक्ति 21 में समुद्रगुप्त की आर्यावर्त विजय का पुनः उल्लेख मिलता है। यहाँ उसके द्वारा पराजित नौ राजाओं का नामोल्लेख है। इनमें रुद्रदेव की पहचान पहले के0 एन0 दीक्षित द्वारा वाकाटक राजा, रुद्रसेन । , से की गई थी। किन्तु रुद्रदेव का उल्लेख आर्यावर्त के राजा के रूप में किया गया है, जबकि वाकाटक राज्य दक्षिणापथ में स्थित था। दिनेश चन्द्र सरकार रुद्रदेव की पहचान कार्द्दमक क्षत्रप रुद्रसेन । अथवा रुद्रसेन ।।। से करने का सुझाव देते हैं, जबकि एम0 एम0 नागर और परमेश्वरी लाल गुप्त जैसे विद्वान उसका सम्बन्ध कौशाम्बी से जोड़ते हैं, जहाँ से श्रीरुद्र नाम वाली मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। नागदत्त की पहचान पुण्ड्रवर्द्धन के दत्त सामन्त परिवार के पूर्वज के रूप में की गई है। मतिल को बुलन्दशहर से प्राप्त एक मुहर के मत्तिल से अभिन्न माना गया है, किन्तु एलन तथा जगन्नाथ अग्रवाल जैसे विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। चन्द्रवर्मन् की पहचान सुसुनिया अभिलेख के चन्द्रवर्मन् से की गई है, जिसे उस अभिलेख में पुष्करण (पश्चिम बंगाल में सुसुनिया से 25 मील उत्तरपूर्व में स्थित पोखरण) का राजा कहा गया है। गणपतिनाग और नागसेन के विषय में ऊपर भी चर्चा की जा चुकी है। बलवर्मन् का सम्बन्ध कामरूप अथवा कौशाम्बी से जोड़ने के प्रयास किए गए हैं जो मान्य नहीं हैं। अश्विनी अग्रवाल उसे एरण का शक शासक मानते हैं। सरकार और कुछ अन्य विद्वान अच्युत और नन्दिन् को दो अलग-अलग राजा न मानकर एक ही नाम, अच्युतनन्दिन्, मानने का सुझाव देते हैं। ऊपर हमने देखा कि अच्युत अहिच्छत्रा का नाग राजा प्रतीत होता है। यदि नन्दिन् एक अलग राजा का नाम है तो उसकी पहचान अज्ञात है। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त के राजाओं का उच्छेद कर दिया। इससे उसके अधिकार क्षेत्र में विस्तार हुआ होगा।

उत्तर भारत में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के उपरान्त समुद्रगुप्त ने गंगा-यमुना दोआब के दक्षिणपूर्व के वन्यक्षेत्र की वन्य जातियों (आटविक राज्य) पर अपना प्रभाव स्थापित किया। प्रयाग प्रशस्ति की पंक्ति 21 से स्पष्ट है कि वह इन आटविक राज्यों से अपनी सेवा करवा कर संतुष्ट हो गया। इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपनी राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचय दिया, क्योंकि इन वन्य जातियों पर प्रत्यक्ष शासन स्थापित रखना किसी भी शासक के लिए कठिन था।

प्रयाग प्रशस्ति की पंक्ति 19-20 में उसके दक्षिणापथ अभियान का वर्णन मिलता है। इस संदर्भ में दक्षिण भारत के उन 12 राज्यों और उनके राजाओं का नामोल्लेख है, जिन्हें समुद्रगुप्त ने पराजित किया। इनमें कोसल की पहचान दक्षिण कोसल से की गई है, जिसके अंतर्गत रायपुर, बिलासपुर, और सम्भलपुर क्षेत्र आते हैं। वहाँ पर महेन्द्र का शासन था। महाकान्तार ऊपरी दक्षिणापथ का वन्य क्षेत्र था, जहाँ व्याघ्रराज शासन करता था। कुराल की पहचान फ्लीट द्वारा केरल से की गई। किन्तु अब विद्वान इसे पश्चिमी गोदावरी जिले में एल्लूर के निकट कोल्लैर झील के आस-पास का क्षेत्र, अथवा गंजाम के निकट कोलड, अथवा दक्षिण कोसल के निकट स्थित मानते हैं। कुराल का राजा मण्टराज था। पिष्टपुर की पहचान पूर्वी गोदावरी जिले में स्थित आधुनिक पीठापुरम् से की गई है। उस पर महेन्द्रगिरि राज्य कर रहा था। कोट्टूर महेन्द्रपर्वत के निकट कोथूर था जिस पर स्वामिदत्त का शासन था। एरण्डपल्ल को फ्लीट ने महाराष्ट्र के खानदेश में स्थित एरण्डोल पहचाना था। किन्तु अब अधिकाँश विद्वान उसे उड़ीसा के गंजाम क्षेत्र अथवा आंध्र प्रदेश के विशाखापत्तनम् क्षेत्र में स्थित बताते हैं। वहाँ के राजा का नाम दमन था। का४ची पल्लव राज्य की राजधानी थी, और वहाँ का शासक, विष्णुगोप, स्कन्दवर्मन् II का पुत्र और सिंहवर्मन् का अनुज था। अवमुक्त की पहचान के विषय में अनिश्चिता की स्थिति है। हेमचन्द्र रायचौधरी उसे गोदावरी घाटी में स्थित मानते हैं, जबकि अन्य विद्वान इसका सबंध कडापा, कुर्नूल, अथवा खारवेल के हाथीगुम्फा लेख के अव (घ्) और पिथुण्ड से जोड़ते हैं। अवमुक्त का शासक नीलराज था। वेंगी आन्ध्रप्रदेश के कृष्णा जिले में स्थित पेड्डवेगी है। वहाँ समुद्रगुप्त द्वारा पराजित राजा हस्तवर्मन् था, जो शालंकायन वंश का था। पालक्क की पहचान नेल्लूर क्षेत्र में स्थित पलक्कड से की गई है। अधिकतर विद्वान वहाँ के राजा का नाम उग्रसेन मानते हैं, किन्तु कुछ लेखक उसे उग्रवर्मन् पढ़ कर उसका सम्बन्ध पल्लव वंश से जोड़ते हैं। फ्लीट ने देवराष्ट्र की पहचान महाराष्ट्र से की है। किन्तु जूवो-दुब्रुआ उसे विशाखापत्तनम् के निकट येल्लमंचिली क्षेत्र मानते हैं। वहाँ के राजा का नाम कुबेर बताया गया है। स्मिथ ने कुस्थलपुर को कुशास्थलपुर (द्वारका) पहचानने का सुझाव दिया था, किन्तु अधिकाँश विद्वान एल0 डी0 बार्नेट के इस विचार से सहमत हैं कि कुस्थलपुर की पहचान आंध्र प्रदेश के उत्तरी आर्कोट जिले में स्थित कुट्टलूर से की जानी चाहिए। समुद्रगुप्त ने वहाँ के राजा धनंजय को पराजित किया था।

फ्लीट ने एरण्डपल्ल की पहचान खानदेश में एरण्डोल से, कुराल की पहचान केरल से, और देवराष्ट्र की पहचान महाराष्ट्र से करके यह सुझाव दिया कि समुद्रगुप्त अपने दक्षिणापथ अभियान के दौरान पूर्वी समुद्रतट के मार्ग से आगे बढ़ता हुआ कांची पहुँचा, और वहाँ से पश्चिमी समुद्रतट पर केरल, महाराष्ट्र आदि होते हुए उत्तर भारत वापस लौटा। किन्तु ऊपर हमने देखा कि अन्य विद्वानों ने प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित दक्षिणापथ के सभी विजित राज्यों को पूर्वी समुद्रतट ही स्थित सिद्ध कर दिया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त पाटलिपुत्र से चलकर मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ के मार्ग से उड़ीसा पहुँचा, और पूर्वी समुद्रतट के मार्ग से आगे बढ़ता हुआ कांची तक गया, और फिर पूर्वी समुद्रतट के मार्ग से ही उत्तर भारत वापस लौटा। प्रयाग प्रशस्ति के अनुसार उसने दक्षिणापथ के पराजित शासकों से कर ग्रहण कर उन्हें उनका राज्य वापस लौटा दिया, और एक बार पुनः अपनी राजनीतिक समझदारी का परिचय दिया। पूर्वी समुद्रतट के ये राज्य गुप्त शासक के राजनीतिक प्रभाव में आ गए।

प्रयाग प्रशस्ति में पाँच प्रत्यन्त राज्यों और नौ गणतन्त्रात्मक राज्यों के उल्लेख हैं, जिन्होंने समुद्रगुप्त का राजनीतिक प्रभाव स्वीकार कर लिया था। प्रत्यन्त राज्यों के अंतर्गत समतट की पहचान दक्षिणपूर्वी बंगाल से, डवाक की असम के नौगाँग जिले में आधुनिक डबोका से, कामरूप की असम के गुवाहाटी क्षेत्र से, तथा कर्तृपुर की पहचान जालंधर के निकट आधुनिक करतारपुर अथवा कुमाँऊ, गढ़वाल एवं रुहेलखण्ड के कत्यूरी राज्य से की गई है। पाँचवा प्रत्यंत राज्य नेपाल है। अभिलेख में जिन गणराज्यों का उल्लेख है, उसमें मालव गणराज्य राजस्थान और पश्चिमी मालवा में स्थित था। अर्जुनायन गणराज्य मथुरा और ब्रज क्षेत्र में स्थित प्रतीत होता है। यौधेय गणराज्य का विस्तार पँजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में था। माद्रक गणराज्य की राजधानी शाकल (आधुनिक स्यालकोट) थी। आभीर गणराज्य अपरान्त अर्थात् कोंकण क्षेत्र में स्थित था। प्रार्जुन गणराज्य के अंतर्गत मध्यप्रदेश का नरसिंहपुर क्षेत्र आता था। सनकानीक गणराज्य पूर्वी मालवा में स्थित था। काक गणराज्य की स्थिति काकनादबोट (सांची) बताई गई है। खरपरिक गणराज्य के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। इन प्रत्यन्त राज्यों और गणराज्यों ने समुद्रगुप्त को सभी कर प्रदान किए, उसकी आज्ञापालन को स्वीकार किया, तथा स्वयं उपस्थित होकर उसके प्रति आदर व्यक्त किया।

प्रयाग प्रशस्ति की पंक्ति 23-24 में विदेशी शक्तियों की चर्चा की गई है। उन्होंने स्वयं समुद्रगुप्त का राजनीतिक प्रभाव स्वीकार किया, अपनी कन्याओं का विवाह गुप्त वंश में किया, तथा समुद्रगुप्त से आग्रह किया कि वह गरुड़ मुद्रा से अंकित राजाज्ञा जारी करके उन्हें अपने-अपने राज्य पर शासन करने की अनुमति प्रदान करे। ऐसी विदेशी शक्तियों में दैवपुत्रषाहिषाहानुषाहि को पश्चिमोत्तर भारत के परवर्ती कुषाण शासक माना गया है। फ्लीट, एलन, जायसवाल आदि विद्वानों के अनुसार शक-मुरुण्ड दो अलग-अलग शक्तियाँ, शक और मुरुण्ड हो सकती हैं। किन्तु कुछ विद्वान मानते हैं कि शक भाषा में 'मुरुण्ड' शब्द का अर्थ स्वामी है, और अभिलेख में 'शक-मुरुण्ड' का अर्थ शक-स्वामी अर्थात् परवर्ती शक राजा से लगाया जाना चाहिए। सिंहल की पहचान श्रीलंका से की गई है। सर्वद्वीप से तात्पर्य सम्भवतः दक्षिणपूर्वी एशिया के द्वीपों से है।

इस प्रकार कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, पश्चिमी राजस्थान, सिंध और गुजरात को छोड़कर लगभग पूरे उत्तर भारत पर समुद्रगुप्त का शासन था। दक्षिण भारत के पूर्वी समुद्रतट पर स्थित कम से कम 12 राज्यों की उसने विजय की थी। अन्य दिशाओं में उसके करद राज्यों की लगभग अक्षुण्ण शृंखला थी। निःसंदेह समुद्रगुप्त अपने समय का भारत का सर्वप्रमुख शासक था। सम्भवतः अपने शासनकाल के अंतिम वर्षों में उसने अश्वमेध का आयोजन किया। प्रयाग प्रशस्ति में इसका उल्लेख उपलब्ध नहीं है। किन्तु इस अवसर पर पुरोहितों को दक्षिणा प्रदान करने हेतु उसने अश्वमेध प्रकार की स्वर्ण मुद्राएं जारी कीं, जो उसके द्वारा अश्वमेध के सम्पादन की एकमात्र समकालिक साक्ष्य हैं। किन्तु उसके उत्तराधिकारी उसके लिए 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्ता' की उपाधि का प्रयोग करते हैं। अधिकांश विद्वान समुद्रगुप्त द्वारा केवल एक अवश्मेध के आयोजन की बात स्वीकार करते हैं। किन्तु अजय मित्र शास्त्री ने अश्वमेध प्रकार के दो भिन्न वृत्ताकार लेखों के आधार पर समुद्रगुप्त द्वारा दो अश्वमेध के सम्पादन का सुझाव दिया है। प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपत्र लेख में समुद्रगुप्त को 'अनेकाश्वमेधयाजिन्' कहा गया है।

प्रयाग प्रशस्ति से समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व पर भी प्रकाश पड़ता है। उसे 'कविराज' कहा गया है। अलतेकर का सुझाव है कि गुप्त मुद्रा पर छन्दबद्ध वृत्ताकार लेख अंकित करने की जो परम्परा समुद्रगुप्त के काल में आरम्भ हुई, उसका कारण समुद्रगुप्त का कवि होना था: सम्भव है कि अपनी मुद्राओं के लिए छन्दबद्ध लेखों की रचना स्वयं समुद्रगुप्त ने की हो। प्रयाग प्रशस्ति की पंक्ति 27 के अनुसार उसने अपनी विलक्षण बुद्धि से बृहस्पति को, और संगीत में अपनी दक्षता से तुम्बुरु और नारद को लज्जित कर दिया था। समुद्रगुप्त के संगीतानुरागी होने की पुष्टि उसकी वीणावादक प्रकार की मुद्रा से भी होती है। वह दीनों एवं असहायों के कल्याण के प्रति सजग रहता था। उसके द्वारा बड़ी संख्या में स्वर्ण मुद्राएं दान किए जाने की चर्चा प्रयाग प्रशस्ति के अतिरिक्त उसके उत्तराधिकारियों के अभिलेखों में भी की गई है।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. विद्वान 319 ईसवी में गुप्त संवत् के प्रवर्तन का श्रेय चन्द्रगुप्त I को देते हैं (सत्य/असत्य)
2. चन्द्रगुप्त I के विषय में हरिषेण रचित प्रयाग प्रशस्ति से सूचना प्राप्त होती है(सत्य/असत्य)
3. प्रभावतीगुप्ता के पूना ताम्रपत्र लेख में समुद्रगुप्त को 'अनेकाश्वमेधयाजिन्' कहा गया है(सत्य/असत्य)
4. कर्तृपुर की पहचान कुमाँऊ, गढ़वाल एवं रुहेलखण्ड के कत्यूरी राज्य से की गई है(सत्य/असत्य)
5. प्रयाग प्रशस्ति में पाँच प्रत्यन्त राज्यों और नौ गणतन्त्रात्मक राज्यों के उल्लेख हैं(सत्य/असत्य)
6. प्रयाग प्रशस्ति की पंक्ति 20-21 में विदेशी शक्तियों की चर्चा की गई है।

1.5 चन्द्रगुप्त II

चन्द्रगुप्त II गुप्त वंश का एक प्रभावशाली शासक हुआ। उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की और भारतीय परम्परा के विक्रमादित्य से उसका सम्बन्ध जुड़ने के कारण उससे सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्रचलित हुईं, जिनके ऐतिहासिक महत्त्व के विषय में कुछ कहना कठिन है। गुप्त संवत् 82 के उदयगिरि अभिलेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त II दिग्विजय पर निकला था। किन्तु उसकी कार्द्दमक शक विजय के अतिरिक्त किसी सैन्य गतिविधि के विषय में निश्चित सूचना उपलब्ध नहीं है।

दिनेश चन्द्र सरकार जैसे विद्वानों के अनुसार समुद्रगुप्त द्वारा पराजित आर्यावर्त के राजाओं में सम्मिलित रुद्रदेव की पहचान कार्द्दमक क्षत्रप, रुद्रसेन II अथवा रुद्रसेन III, से की जानी चाहिए। यदि यह विचार सही है तो ऐसा प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त द्वारा पराजित किए जाने के उपरान्त भी कार्द्दमक क्षत्रप काठियावाड़ में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति के रूप में अपना अस्तित्त्व बनाए रखने में सफल रहे। चन्द्रगुप्त II ने उन्हें पराजित करने के उद्देश्य से पश्चिम की ओर अभियान किया। इसके लिए उसने मालवा में अपनी शक्ति केन्द्रित की। उसके अनेक मन्त्रियों, अधिकारियों, और अधीनस्थ राजाओं ने इस अभियान में उसकी सहायता की। इस संदर्भ में गुप्त संवत् 82 के उदयगिरि लेख से ज्ञात वीरसेन शाब, तिथिविहीन उदयगिरि लेख से ज्ञात सनकानीक महाराज, और गुप्त संवत् 93 के साँची लेख से ज्ञात आम्रकार्द्दव आदि उल्लेखनीय हैं। गुप्त संवत् 82 के उदयगिरि लेख से स्पष्ट है कि उस

समय चन्द्रगुप्त II अपने पश्चिमी अभियान के संदर्भ में वहाँ उपस्थित था। गुप्त संवत् 93 के साँची अभिलेख से संकेत मिलता है कि उस समय तक पश्चिमी अभियान सफल हो चुका था। अतः चन्द्रगुप्त II कार्द्दमक क्षत्रपों के विरुद्ध अपने संघर्ष में लगभग 10 वर्ष तक संलग्न रहा। किन्तु इस अभियान में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई, और काठियावाड़ गुप्त साम्राज्य का अंग बन गया। अंतिम ज्ञात कार्द्दमक क्षत्रप रुद्रसिंह III है, जो चन्द्रगुप्त II का समकालिक भी है। इससे ऐसा अनुमान लगाया गया है कि चन्द्रगुप्त प्प् ने उसे ही पराजित किया होगा।

राधा कुमुद मुखर्जी का सुझाव है कि काठियावाड़ क्षेत्र पर अपनी विजय की स्मृति में चन्द्रगुप्त II ने सिंह-निहन्ता प्रकार की स्वर्ण मुद्राएं जारी कीं। इन मुद्राओं के अग्रभाग पर उसे सिंह का आखेट करते दिखाया गया है। यह पशु आज भी भारत में काठियावाड़ क्षेत्र में पाया जाता है। चन्द्रगुप्त II की इस विजय से पूर्व गुप्त शासकों ने केवल स्वर्ण और ताम्र मुद्राएँ जारी की थीं। किन्तु नवविजित काठियावाड़ क्षेत्र में पिछले लगभग 300 वर्षों से शकों की रजत मुद्राएँ प्रचलित थीं, और वहाँ के निवासी उनके प्रयोग के अभ्यस्त थे। इस कारण चन्द्रगुप्त II ने काठियावाड़ क्षेत्र के लिए रजत मुद्राएँ निर्गत थी, जो कार्द्दमक रजत मुद्राओं से प्रभावित थीं।

चन्द्रगुप्त II की अन्य उपलब्धियों का अनुमान लगाने से पूर्व मेहरौली लौह स्तम्भ लेख पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस अभिलेख में चन्द्र नामक एक राजा की प्रशस्ति उसके मरणोपरांत दी गई है। लेख के अनुसार चन्द्र दिग्विजय पर निकला और उसने वंग में शत्रुओं को पराजित किया, और सिंधु के सात मुखों को पार कर वाजीकों पर विजय प्राप्त की। उसने अपनी भुजाओं के बल से पृथ्वी का राज्य प्राप्त किया, और दीर्घ अवधि तक शासन किया। दक्षिण समुद्र का जल उसकी शक्ति की वायु से सुगन्धित था। वह वैष्णव मतावलम्बी था। इस लेख में उल्लिखित चन्द्र की पहचान विवादास्पद है। विभिन्न विद्वानों ने उसकी पहचान चन्द्रवर्मन्, चन्द्रांश, सदाचन्द्र, और देवरक्षित जैसे राजाओं से करने का सुझाव दिया है, जिनके विषय में विस्तृत सूचना उपलब्ध नहीं है। चन्द्र की पहचान चन्द्रगुप्त मौर्य से करने के सुझाव को स्वीकार करने में सबसे बड़ी कठिनाइयाँ मेहरौली लेख की लिपि और चन्द्रगुप्त मौर्य का जैन धर्म की ओर झुकाव है। रमेश चन्द्र मजुमदार चन्द्र को 'चन्द्र' कनिष्क पहचानते हैं किन्तु कनिष्क की रुचि बौद्ध धर्म में होने के साक्ष्य उपलब्ध हैं। एस0 के0 आयंगर, जे0 एफ0 फ्लीट, और राधा गोविन्द बसाक जैसे विद्वान चन्द्र को चन्द्रगुप्त I मानते हैं। किन्तु चन्द्र का प्रभावक्षेत्र चन्द्रगुप्त I के प्रभावक्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत है। श्रीराम गोयल ने चन्द्र की पहचान समुद्रगुप्त से की है। किन्तु समुद्रगुप्त की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि, अश्वमेध के सम्पादन, का उल्लेख मेहरौली लेख में न मिलने से श्रीराम गोयल से सहमत होना कठिन है। अधिकाँश विद्वान ए0 एफ0 आर0 हर्नले के इस विचार से सहमति व्यक्त करते हैं कि मेहरौली लेख के 'चन्द्र' की पहचान चन्द्रगुप्त II से की जानी चाहिए। जिस प्रकार लेख में राजा का नाम चन्द्र बताया गया है, उसी प्रकार चन्द्रगुप्त II की कुछ ताम्र मुद्राओं पर लेख 'चन्द्र' प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त II ने रामगुप्त और काच से राज्य अपनी भुजा के बल पर प्राप्त किया था, और दीर्घकाल तक शासन किया था। चन्द्रगुप्त II की पुत्री, प्रभावतीगुप्ता, वाकाटक रानी थी, और पति की मृत्यु होने पर जब वह संरक्षिका के रूप में शासन संभाल रही थी, उस समय दक्षिण भारत के वाकाटक राज्य पर चन्द्रगुप्त प्प् का पर्याप्त प्रभाव था। इसके अतिरिक्त तालगुण्ड अभिलेख की सूचना है कि एक कदम्ब

राजकन्या का विवाह गुप्तवंश में हुआ था। चन्द्र वैष्णव मतावलम्बी था, और चन्द्रगुप्त II को मुद्रा-लेखों में 'परमभागवत' कहा गया है।

यदि चन्द्रगुप्त II से मेहरौली लेख के चन्द्र की पहचान सही मानी जाती है, तो चन्द्रगुप्त II ने वंग और वाह्लीक की विजय की होगी। वंग की पहचान समतट अर्थात दक्षिणपूर्वी बंगाल से की गई है, और वाह्लीक की पहचान बल्ख अर्थात् बैक्ट्रिया से। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि समतट क्षेत्र पर, तथा परवर्ती कुषाणों पर गुप्तों का प्रभाव था। चन्द्रगुप्त II ने उन्हें गुप्तों के प्रत्यक्ष शासन के अंतर्गत लाने के लक्ष्य से वंग एवं वाह्लीक विजय की होगी। यह भी सम्भव है कि रामगुप्त/काच प्रकरण का लाभ उठाकर वे गुप्त प्रभाव से मुक्त हो गए हों, और उन्हें गुप्तों के प्रत्यक्ष शासन के अंतर्गत लाना चन्द्रगुप्त II का उत्तरदायित्व बन गया हो। वाह्लीक क्षेत्र पर चन्द्रगुप्त II के अधिकार का संकेत हुंजा से प्राप्त उन अभिलेखों से मिलता है जिनमें उस राजा का उल्लेख है। वंग पर चन्द्रगुप्त II की विजय सम्भवतः उसके शासनकाल के अंतिम वर्षों में हुई होगी। इसी कारण वह उस क्षेत्र में कोई अभिलेख जारी नहीं कर सका, और बंगाल से प्रथम ज्ञात गुप्त अभिलेख चन्द्रगुप्त प्प् के पुत्र और उत्तराधिकारी, कुमारगुप्त I, के काल का है। किन्तु कुछ समय पूर्व बंगाल से चन्द्रगुप्त II की कुछ ताम्र मुद्राएं प्राप्त हुई हैं, जो उस क्षेत्र पर उसके अधिकार का संकेत करती है। इन मुद्राओं पर अश्व की आकृति और लेख 'श्री-विक्रम' अंकित है। इससे कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि चन्द्रगुप्त II ने भी अश्वमेध का सम्पादन किया था। किन्तु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

1.6 साराशं

चन्द्रगुप्त I ने साम्राज्य की जो आधारशिला निर्मित की उसपर अपने सफल युद्धों के फलस्वरूप भारतीय नेपोलियन समुद्रगुप्त ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। डॉ0 मजूमदार के अनुसार उसके साम्राज्य में ''कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, पश्चिमी राजपूताना, सिन्धु और गुजरात के अतिरिक्त शेष सारा भरत सम्मिलित था और छत्तीसगढ तथा उडीसा प्रदेश तथा पूर्वी तट के साथ साथ दक्षिण तक के प्रदेश साम्राज्य में सम्मिलित थे। इस प्रकार यह साम्राज्य छः सदियों पूर्व के अशोक के साम्राज्य के पश्चात भारत में सबसे बडा था। समुद्रगुप्त ने जो विजय कार्य आरंभ किया, उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सम्पूर्ण किया। साम्राज्य की रूप रेखा में उसने न केवल सीमावर्ती जातीय राज्यों तथा राजतन्त्रों को ही विलीन नहीं किया बल्कि शकों और कुषाणों के राज्यों को भी साथ मिला दिया। शान्तिमय और सुगंठित विशाल साम्राज्य जो उसने अपने उत्तराधिकारी को सौंपा, यह एक महान् सेनानी और सुयोग्य राजनीतिज्ञ के ही नहीं, एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के प्रयत्नों का भी परिणाम था।

1.7 तकनीकी शब्दावली

महाराजाधिराज - महाराजाओं का भी राजा

महाक्षत्रप - शक शासकों की उपाधि

विक्रमादित्य - प्राचीन भारतीय शूरवीर शासकों द्वारा घारण की जाने वाली उपाधि, भारतीय इतिहास में कुल मिलाकर 14 शासकों द्वारा यह उपाधि धारण की गयी।

1.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

भाग 1.4 के प्रश्न 1 का उत्तर- सत्य

भाग 1.4 के प्रश्न 2 का उत्तर- असत्य

भाग 1.4 के प्रश्न 3 का उत्तर- सत्य

भाग 1.4 के प्रश्न 4 का उत्तर- सत्य

भाग 1.4 के प्रश्न 5 का उत्तर- सत्य

भाग 1.4 के प्रश्न 6 का उत्तर- असत्य

1.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

अग्रवाल, अश्विनी, राइज एण्ड फॉल ऑव द इम्पीरियल गुप्ताज़, दिल्ली, 1989.

अलतेकर, ए0 एस0, क्वाइनेज ऑव द गुप्त एम्पायर, वाराणसी, 1957. (हिन्दी संस्करण, गुप्तकालीन मुद्राएँ, उपलब्ध).

गुप्त, परमेश्वरीलाल, गुप्त साम्राज्य, 2 खण्ड, वाराणसी, 1991.

गोयल, श्रीराम, गुप्तकालीन अभिलेख, मेरठ, 1984.

गोयल, श्रीराम, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, मेरठ, 1987.

फ्लीट, जे0 एफ0, भारतीय अभिलेख संग्रह, 3 (प्रारम्भिक गुप्त शासकों के अभिलेख), हिन्दी अनुवाद, जयपुर, 1974.

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

मजुमदार, आर0 सी0, तथा ए0 डी0 पुसालकर (सं0), द क्लासिकल एज (द हिस्टरी एण्ड कल्चर ऑव दि इण्डियन पीपल, 3), बॉम्बे, 1988. (हिन्दी संस्करण, श्रेण्ययुग, उपलब्ध).

मजुमदार, आर0 सी0, तथा ए0 एस0 अलतेकर (सं0), द वाकाटक-गुप्त एज, लाहौर, 1946. (हिन्दी संस्करण, वाकाटक-गुप्त युग, उपलब्ध).

राय, उदय नारायण, गुप्त राजवंश तथा उसका युग, इलाहाबाद, 1996.

सिंह, उपिन्दर, ए हिस्टरी ऑफ एंशियण्ट एण्ड अर्ली मेडीएवल इण्डिया, दिल्ली, 2009.

1.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. समुद्रगुप्त के शासनकाल की प्रमुख उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए।
2. समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ अभियान और दक्षिण भारत में उसके मार्ग का वर्णन कीजिए।

इकाई दो – समुद्रगुप्त का उत्तरापथ एवं दक्षिणापथ अभियान

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 समुद्रगुप्त का राज्यारोहण

2.4 प्रयाग प्रशस्ति और हरिषेण

2.5 साम्राज्य विस्तार

2.5.1 समुद्रगुप्त का उत्तरापथ अभियान

2.5.2 समुद्रगुप्त का दक्षिणापथ अभियान

2.5.3 सीमान्त प्रदेश और गणराज्य

2.5.4. आटविक राज्य

2.5.5 विदेशी शासकों से संबंध

2.6 समुद्रगुप्त का शासक के रूप में मूल्यांकन

2.7 सारांश

2.8 तकनीकी शब्दावली

2.9 स्वमूल्यांकित प्रश्न

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.11 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इतिहास केवल राजाओं की जय पराजय का लेखा-जोखा मात्र नहीं है वरन वह तत्कालीन परिस्थितियों में उपजी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को व्यक्त करने और समझने का एक माध्यम भी है। अब तक आपने पिछले अध्यायों में पढ़ा की कैसे एक महान मौर्य साम्राज्य पूरे भारत में अपना साम्राज्य कायम करता है और कतिपय कारणों से पुनः काल के ग्रास में समा जाता है। मौर्यों के बाद कई राजनैतिक शक्तियों ने भारत के विभिन्न भागों में मौर्यों के अवशेषों पर अपने साम्राज्य को स्थापित किया और पुनः समय के साथ काल-कवलित हो गये। वस्तुतः मौर्यों के पश्चात गुप्त ही वह शक्ति थे जिन्होंने पुनः लगभग पूरे भारत पर अपनी राजनैतिक शक्ति स्थापित करी और भारत की सांस्कृतिक विरासत को भी आगे बढ़ाया। जैसा की आप लोग पूर्व में भी पढ़ चुके हैं की गुप्त वंश का आदि पुरुष श्री गुप्त को माना जाता है और उसी का परपौत्र था समुद्रगुप्त, जिसने

अपनी दूरदर्शिता और पौरुष के बल पर गुप्त साम्राज्य का विस्तार तो किया ही वरन गुप्त साम्राज्य को अपनी नीतियों से दृढ़ता भी प्रदान करी। समुद्रगुप्त को जानने का मुख्य आधार उसके दरबारी कवि हरिषेण द्वारा रचित प्रयाग प्रशस्ति है। इसके अलावा इसका एक अन्य पाषाण लेख और स्वर्ण मुद्राएँ हमें एरण से भी प्राप्त हुई हैं। गया और नालंदा से भी हमें इसके शासनकाल की दो ताम्रपट्टिकाएं प्राप्त होती हैं, हालाँकि इन ताम्रपत्रों की मौलिकता संदिग्ध है।

2. 2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप जान सकेंगे-

- समुद्रगुप्त के राज्यारोहण संबंधी जानकारी
- प्रयागप्रशस्ति और हरिषेण के बारे में
- समुद्रगुप्त के विजय अभियानों और उसकी राज्य संबंधी नीतियों के बारे में
- समुद्रगुप्त के व्यक्तित्व के बारे में तथा इतिहास में उसका मूल्यांकन

2.3 समुद्रगुप्त का राज्यारोहण

गुप्त वंश का वास्तविक संस्थापक चंद्रगुप्त प्रथम को माना जा सकता है और इसी चन्द्रगुप्त प्रथम का पुत्र था समुद्रगुप्त। उसकी माता कुमारदेवी प्रसिद्ध लिच्छवी कुल से सम्बंधित थी और इसी कारण समुद्र गुप्त को 'लिच्छवी दौहित्र' के नाम से भी जाना जाता है। चंद्रगुप्त ने अपने जीवित रहते ही अपनी राजसत्ता अपने पुत्र समुद्रगुप्त को सौंप दी थी और यही विषय इतिहासकारों के बीच एक विचारणीय प्रश्न बनकर उभरा की ऐसी कौन सी परिस्थितियां थी जिनके चलते अपनी मृत्यु से पूर्व ही चंद्रगुप्त को समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक करना पड़ा। पुरातत्वविदों को खुदाई में कुछ ऐसी स्वर्ण मुद्राएँ भी प्राप्त हुई है जिन पर 'काच'नाम उत्कीर्ण है (संभवतः उसके भाई काचगुप्त ने उससे पूर्व कुछ समय तक शासन की बागडोर सम्भाली हो।) हालाँकि कुछ विद्वान जैसे स्मिथ, फ्लीट व एलन 'काच' को समुद्रगुप्त का ही दूसरा नाम बतलाते हैं और वह ऐसा इसलिए बतलाते हैं क्योंकि गुप्त वंश में एक शासक के दो नाम रखने की प्रथा अस्तित्व में थी। उदाहरणतः समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी चंद्रगुप्त द्वितीय का दूसरा नाम 'देवगुप्त' भी था। परन्तु कुछ विद्वान जैसे कि हेरास का मानना है कि 'काच' समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ था और संभवतः वह राज्य का उत्तराधिकारी भी था। हालाँकि वह अपने पिता के समुद्रगुप्त के प्रति मोह से भली-भाति पारिचित था और इसी कारणवश उसने अपने पिता की गद्दी पाने हेतु उनकी मृत्यु से पहले कुछ मुद्राओं पर अपना नाम उत्कीर्ण करवा लिया हो। हालाँकि जो भी हो चंद्रगुप्त प्रथम ने अपने सबसे योग्य पुत्र को राजगद्दी सौंप कर होने वाली पारिवारिक कलह से अपने वंश को बचा लिया था। इतिहासकार परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक

३३८ से ३४५ ई. के मध्य हुआ होगा और वहीं रमेश चन्द्र मजूमदार के अनुसार इसके राज्यारोहण की तिथि ३४० ई. से ३५० ई के मध्य मानी जा सकती है।

2.4 प्रयागप्रशस्ति और हरिषेण

प्रयागप्रशस्ति समुद्रगुप्त के इतिहास को जानने का सबसे महत्त्वपूर्ण स्त्रोत है जिसका रचनाकार उसका दरबारी कवि हरिषेण था। हरिषेण के पिता का नाम ध्रुवभूति था जो कि गुप्तों के अधीन महादंडनायक के पद पर कार्य कर चुका था। निश्चित ही हरिषेण भी राजदरबार का एक विशिष्ठ और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति रहा होगा क्योंकि उसे समुद्रगुप्त द्वारा संधिविग्राहक (युद्ध और संधि का मंत्री) और कुमारामात्य (न्यायिक या सैन्य संबंधी अधिकारी) की उपाधियां प्राप्त थी।

इस प्रशस्ति की रचना में हरिषेण द्वारा समुद्रगुप्त को एक महान तथा असाधारण गुणों से संपन्न व्यक्तित्व तथा आदर्श सम्राट के रूप में चित्रित किया गया है। इतिहासकारों का अनुमान है कि निश्चित ही यह अभिलेख उसकी मृत्यु से पूर्व का ही है। फ्लीट के अनुसार यह अभिलेख ३६० ई. के लगभग उसकी दिग्विजय के पश्चात खुदवाया गया होगा क्योंकि इसमें समुद्रगुप्त द्वारा किये गए अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख नहीं किया गया है। यह पूरी प्रशस्ति चम्पू काव्य (गद्य और पद्य का मिला जुला रूप) में लिखी गई है जो कि एक ३५ फुट ऊँचे पाषाण के एक गोल स्तंभ पर अंकित है। गंगा और यमुना के तट (प्रयागराज) पर स्थित यह अभिलेख वही है जिस पर सर्वप्रथम महान मौर्य सम्राट अशोक ने अपना अनुशासन लेख खुदवाया था। यह इतिहास की एक व्यथा ही है कि जहाँ अशोक के साम्राज्य का आदर्श शान्ति और धर्म था वहीं समुद्रगुप्त अपनी युद्ध और प्रसार की नीति में उसका एकदम विरोधाभासी था; और इन दोनों सम्राटों के अभिलेख इस एक ही पाषाण पर उत्कीर्ण हैं। एक ओर जहाँ इस पाषाण अभिलेख मेंअशोक के शांतप्रिय उपदेश उत्कीर्णित हैं तो वहीं समुद्रगुप्त के रक्त रंजित विजय का अभियान भी इसी पाषाण में उल्लेखित है। आगे चलकर मुग़ल सम्राट जहाँगीर ने भी इस स्तंभ पर अपना एक फारसी लेक खुदवाया था। इसी कारण इतिहासकार रोमिला थापर द्वारा इस स्तंभ को "ऐतिहासिक पुनरांकन" (historical palimpsest) दिया गया नाम यथार्थ प्रतीत होता है।

2.5साम्राज्य विस्तार

समुद्रगुप्त के विजय अभियानों की विस्तृत चर्चा उसकी प्रयागप्रशस्ति से हमें ज्ञात होती है। वह गुप्त वंश का एक महान सम्राट होने के साथ साथ एक कुशल सेनानायक, राजनीतिज्ञ तथा वीर योद्धा भी था। जिस वक्त वह सिहांसनसीन हुआ उस समय गुप्त वंश का आधिपत्य बिहार के मगध क्षेत्र और उस के आसपास के उत्तरप्रदेश तथा बंगाल के क्षेत्र तक था। संभवतः उसने अपने सैन्य अभियानों का आरम्भ इसी क्रोड़ क्षेत्र के समीपवर्ती क्षेत्रों को नियंत्रण में लेने से किया होगा जिसमें सफल होने के पश्चात उसने पूरे भारत में अपने विजय अभियानों को जारी रखा। वस्तुतः यदि देखा जाए तो उसके सैन्य अभियानों की योजना के पीछे दो प्रमुख कारण (1) भौगोलिक-

राजनैतिक तथा (2) सामाजिक-आर्थिक श्रेष्ठता प्रतीत होते हैं। उसके इन्हीं वीरोचित गुणों के कारण से उसे प्रयागप्रशस्ति में 'धरणी-बंध' कहा गया है जिसका अर्थ पूरे भारत का एकराट सम्राट होने से था।

2.5.1समुद्रगुप्त का उत्तरापथ अभियान

अपना पहला दिग्विजय अभियान समुद्रगुप्त ने गंगा-यमुना के दोआब में स्थित आर्यावर्त राज्यों के विरुद्ध किया था। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए समुद्रगुप्त ने इस अभियान को संचालित किया था क्योंकि उस समय तक उत्तर भारत में नाग वंशी शासक पश्चिम में एक महत्त्वपूर्ण शक्ति के रूप में उभरने लगे थे और पूरे उत्तर भारत में साम्राज्य की स्थापना के लिए यह आवश्यक हो गया था कि नागाओं की चुनौती को समाप्त किया जाए। इस अभियान के दौरान उसने कठोर नीति का पालन किया और इन सभी रज्यों को नष्ट कर उन्हें अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया। इसे ही उसकी 'राज्यप्रसभोद्वरण' की नीति अर्थात राज्यों को बलपूर्वक अपने राज्य में सम्मिलित कर लेना कहा गया है। नीचे आर्यावर्त के उन नौ नृपतियों का उल्लेख किया जा रहा है जिन्हें समुद्रगुप्त ने पराजित किया:-

(1) रुद्रदेव: इसकी पहचान शक शासक रुद्रसेन तृतीय से की जाती है। हालाँकि कुछ विद्वान् इसे वाकाटक शासक रुद्रसेन-I से भी अनुमानित करते हैं। परन्तु आर्यावर्त विजय में वाकाटकों का उल्लेख होना अस्वाभाविक प्रतीत होता है और वैसे भी वाकाटक लोग मुख्यतः दक्षिण क्षेत्र से सम्बंधित थे।

(2) मतिल: उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर से प्राप्त एक मुहर पर इसका नाम अंकित है।

(3) नागदत्त: संभवतः यह कोई नाग राजा था।

(4) चंद्रवर्मन: यह बंगाल का कोई स्थानीय शासक हो सकता है जिसकी पहचान 'शुसुनिया अभिलेख' में उल्लेखित बाँकुड़ा के पुष्करणा के शासक से की गई है।

(5) गणपतिनाग: इसके सिक्के मध्य भारत में पवया (आधुनिक ग्वालियर) नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं इसके अलावा गंगा-यमुना दोआब से प्राप्त ताम्रमुद्राएं भी इसके शासक होने को स्पष्ट करती हैं।

(6) नागसेन: यह भी एक नाग शासक था जो कि मथुरा तथा उसके आसपास के क्षेत्र पर शासन करता था।

(7) अच्युत: अहिछत्र (बरेली) से प्राप्त मुद्राओं में 'अच्यु' नामक राजा का उल्लेख मिलता है।

(8) नन्दिन: यह भी एक नागवंशी शासक था।

(9) बलवर्मन:यह भी संभवतः नागवंशी शासक था।

2.5.2 समुद्रगुप्त का दक्षिणापथ अभियान

इस अभियान के दौरान समुद्रगुप्त ने पूर्वी दक्कन और दक्षिण भारत के 12 राजाओं को पराजित किया। इस अभियान का उद्देश्य धन प्राप्ति के साथ साथ महत्त्वपूर्ण बंदरगाहों पर अपना अधिकार कायम करना और श्रीलंका तथा दक्षिणपूर्व एशियाई द्वीपों के साथ नियमित संबंध स्थापित किया जाना रहा होगा। इस अभियान के दौरान उसने 'ग्रहणमोक्षानुग्रह' की नीति को अपनाया अर्थात इन राज्यों को जीतने के पश्चात उन्हें अनुग्रह के तौर पर पुनः शासन

का अधिकार दे दिया। ऐसा करने से जहाँ उसने उन शासकों की कृतज्ञता हासिल करी वहीं अपनी दूरदर्शिता का परिचय भी दिया। आगे हम देखेंगे की इस दूरदर्शिता का आभाव हमें मोहम्मद बिन तुगलक की दक्षिण नीति में देखने को मिलेगा। दरअसल तत्कालीन युग में संचार के साधनों की सीमितता की समझ समुद्रगुप्त की व्यवहारिक सोच को भी दर्शाती है। उसने इन राज्यों को जीतकर पुनः लौटा दिया और एक वार्षिक कर के रूप में इन राज्यों से धन-संपदा की प्राप्ति का उपाय किया। इस अभियान की एक ख़ास बात यह भी थी कि समुद्रगुप्त ने अपना अभियान तो पूर्वी तट से प्रारम्भ किया था पर वह वापस सामानान्तर पश्चिमी मार्ग से लौटा था। दक्षिणापथ के इन 12 शासकों के नाम नीचे दिए जा रहे हैं:-

1. कोशल का महेन्द्र: इसका शासन वर्तमान छत्तीसगढ़ राज्य के रायपुर-संबलपुर-बिलासपुर अंचल में था।

2. महाकांतार का व्याघ्रराज: महाकांतार शब्द का आशय वन क्षेत्र से है इतिहासकार रायचौधरी के मतानुसार यह क्षेत्र मध्यभारत का जंगली प्रदेश था।

3. कौशल का मण्टराज: यह दक्षिण भारत के सोनपुर क्षेत्र (आंध्रप्रदेश) का शासक था जिसकी राजधानी गोदावरी तट के समीप ययाति थी।

4. पिष्टपुर का महेंद्रगिरि: इसकी पहचान संभवतःपूर्व गोदावरी जिले (आंध्रप्रदेश) के पीठापुरम से की गई है।

5. कोट्टूरा पहाड़ी का स्वामिदत्त: ओडिशा के गंजाम जिले के आधुनिक कोटूर का शासक।

6. एरण्डपल्ली: - इस शासक की वास्तविक स्थिति अनिश्चित है; संभवतः इसका शासन क्षेत्र आंध्रप्रदेश के विशाखापत्तनम या पश्चिम गोदावरी जिले में अवस्थित था।

7. कांची का विष्णुगोप: यह कांची का एक पल्लव शासक था जिसका शासन मद्रास के निकट कांजीवरम में संचालित था।

8. अवमुक्त का नीलराज: आंध्रप्रदेश राज्य में स्थित इस राज्य के बारे में हाथीगुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसकी राजधानी गोदावरी के तट पर पिथुंडा थी।

9. वेंगी का हस्तिवर्मन: हस्तिवर्मन संभवतःसालंकायन वंश का एक राजा था जिसका शासन क्षेत्र आन्ध्रप्रदेश में कृष्णा और गोदावरीनदियों के मध्य पड़ता था।

10. पालक्क का उग्रसेन: आंध्रप्रदेश के नेल्लोर क्षेत्र का शासक था।

11. देवराष्ट्रकाकुबेर: इसे विशाखापत्तनम जिले के येलमचिली क्षेत्र से चिन्हित किया गया है।

12. कुस्थलपुर का धनंजय: इसकी पहचान तमिलनाडु के उत्तरी आरकाट जिले के कुत्तुल्लुर से की गई है।

2.5.3सीमान्त प्रदेश और गणराज्य

समुद्रगुप्त के सैन्य-अभियानों ने सीमान्त प्रदेश के शासकों और गणराज्यों में भी असुरक्षा की भावना उपत्पन्न कर दी थी और इस से आशंकित होकर उन्होंने स्वयं समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली थी। समुद्रगुप्त ने इन राज्यों के प्रति 'सर्वकरदानाज्ञाकरण प्रणामागमन' की नीति को अपनाया जिसके तहत ये राज्य समुद्रगुप्त को कर देने लगे, उसकी आज्ञा का पालन करने लगे और उसके राजदरबार में उपस्थित होकर उसे प्रणाम करने लगे। इन पाँच सीमान्त प्रदेशों में शामिल थे:-

(1) समतट: वर्तमान बांग्लादेश का नोआखाली-कुमिल्ला का क्षेत्र।

(2) ड्वाक: असम का नौगाँव जिला क्षेत्र।

(3) कामरूप: ब्रह्मपुत्र का मैदानी क्षेत्र असम में।

(4) नेपाल: भारत के उत्तर पूर्व में अवस्थित एक पहाड़ी देश।

(5) कर्तपुर: कुमाऊँ, गढ़वाल या रूहेलखंड का कुतरिया राज्य या फिर पंजाब का करतारपुर क्षेत्र से इसकी पहचान की गई है।

इन राज्यों की अधीनता स्वीकार कर लेने से समुद्रगुप्त को पूर्वी तट पर अवस्थित ताम्रलिप्ति जैसे समृद्ध और महत्त्वपूर्ण बंदरगाह पर नियंत्रण प्राप्त हो गया था जहाँ से माल जहाजों के माध्यम से मलय प्रायद्वीप, चीन तथा अन्य पूर्वी द्वीपों को जाते थे। इससे अवश्य ही गुप्त साम्राज्य को आर्थिक समृद्धि में सहायता मिली होगी।

जिन गणराज्यों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर उसके समक्ष आत्मसमपर्ण कर लिया था उनका वर्णन निम्नानुसार है:-

(1) मालव:राजस्थान एवं मालवा के पश्चिमी भाग में निवासित थे।
(2) अर्जुनायन: यह गणराज्य राजस्थान के अलवर और भरतपुर जिलों में फैला हुआ था।
(3) यौधेय: ये उत्तरी राजपूताना के निवासी थे और पंजाब तक फैले थे।
(4) मद्रक: इनकी राजधानी वर्तमान पाकिस्तान के शाकल या सियालकोट थी।
(5) आभीर: इनका शासन क्षेत्र उत्तरी कोंकण (दक्षिण पश्चिमी गुजरात) था।
(6) प्रार्जुन:मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग में; इनकी राजधानी नरसिंहपुर या नरसिंहगढ़ थी ।

(7) सनकानीक: मध्यप्रदेश के विदिशा क्षेत्र में; उदयगिरी के एक लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के किसी सनकानीक सामंत का उल्लेख किया गया है।

(8) काक: इनका क्षेत्र मध्यप्रदेश का साँची अंचल था।

(9) खरपरिक: ये मध्यप्रदेश के दमोह अंचल में आवासित थे।

2.5.4 आटविक राज्य

प्रयागप्रशस्ति के अनुसार समुद्रगुप्त ने आटविक राज्यों को भी विजित किया था। इतिहासकार फ्लीट के मतानुसार यह वनक्षेत्र गाजीपुर से जबलपुर तक के क्षेत्र में विस्तारित था। इन राज्यों को जीतना इसलिए भी आवश्यक था क्योंकि ये राज्य समुद्रगुप्त के दक्षिण अभियान में बाधक सिद्ध हो सकते थे। इसी कारण उसने इन राज्यों को अपनी अधीनता स्वीकारने पर विवश किया और अपनी साम्राज्य की सीमा को नर्मदा नदी तक विस्तारित कर लिया। उसने इन राज्यों के प्रति 'परिचारकीकृत' अर्थात उन्हें अपना सेवक बना लेने की रणनीति को क्रियान्वित किया।

2.5.5 विदेशी शासकों से संबंध

समुद्रगुप्त के बढ़ते राजनैतिक सामरिक प्रभाव के चलते उसकी समकालीन राजनैतिक शक्तियां भी उससे कूटनीतिक संबंध बनाये रखना चाहती थी। इन विदेशी शासकों में शक, कुषाण, मुरुन्ड (संभवतः अफगानिस्तान के शासक) तथा सिंहल शासक (श्रीलंका) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी शक्तियां पृथ्वी के अप्रतिरथ शासक (पृथिव्यामप्रतिरथ:) के प्रति स्वेच्छा से आत्मनिवेदन, कन्योपयन और गरुत्मंदिकत की नीतियां अपनाते हैं। अर्थात वे स्वेच्छा से समुद्रगुप्त के समक्ष उपस्थित होकर मैत्री की याचना करते, उससे अपनी कन्या का विवाह कर खुद को धन्य समझते तथा अपने अपने क्षेत्रों में शासन-प्रशासन के क्षेत्र में गरुड़ मुहर का प्रयोग करते थे।

2.6 समुद्रगुप्त का शासक के रूप में मूल्यांकन

जिस प्रकार समुद्रगुप्त द्वारा अपने दिग्विजय अभियानों में विभिन्न नीतियों का सफल क्रियान्वयन किया गया है उससे यह सिद्ध होता है कि वह एक श्रेष्ठ साम्राज्यवादी और यथार्थवादी शासक था। वह अपनी राजधानी के चारों और के शासकों को जहाँ सीधा अपने राज्य में मिलाता है वहीं सीमान्त प्रदेश के राज्यों के साथ मैत्री पूर्ण संबंधों की स्थापना कर अपने राज्य को एक सुरक्षित आधार प्रदान करता है। वह अपनी शक्तियों का यथार्थ आंकलन करते हुए गणराज्यों को जहाँ स्वायतता प्रदान करता है वहीं दक्षिण भारत के राज्यों के साथ वह उन्हें उनका राज्य लौटकर कृतज्ञता तथा कूटनीतिक संबंध स्थापित करता है, वह इस बात से भली-भाति परिचित था की दक्षिणी राज्यों की दूरी उसकी राजधानी क्षेत्र से अत्यधिक है और ऐसी परिस्थितियों में उन पर नियंत्रण रखना आसान कार्य नहीं होगा इसी कारन उसने संसधानों की प्राप्ति पर जोर देते हुए अधिराज्त्व के सिद्धांत को अपनाया। यह उसकी दूरदर्शिता और व्यावहारिक नीति का ही परिणाम है की उसने गुप्त वंश को एक साम्राज्य में परिणित कर दिया।

समुद्रगुप्त स्वयं एक कला प्रेमी था और उसकी ललित कलाओं में विशेष रूचि थी। वह स्वयं वीणा वादन में सिद्धहस्त था जिसकी पुष्टि उसकी मुद्रा की छाप से प्रमाणित होती है। उसने 'कविराज', 'शास्त्रतत्वज्ञ', 'कृतान्तपरशु', 'व्याघ्रपराक्रम' और'पराक्रमांक' जैसी उपाधियों को धारण किया था जो उसकी ललित कला के प्रति प्रेम और निरंतर युद्ध में संलग्नता को दर्शाते हैं। उसने अपने दरबार में उच्चकोटि के विद्वानों को सरंक्षण भी प्रदान किया जिसमें हरिषेरण, बौद्ध विद्वान् वसुबंध इत्यादि प्रमुख थे। यह सब उसकी धार्मिक सहिष्णुता का भी परिचायक है। अभिलेखों में उसकी दानशीलता तथा दयालुता का भी वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार समुद्रगुप्त शस्त्र और शास्त्र दोनों का महान ज्ञाता था।

2.7 सारांश

गुप्त वंश के प्रसिद्ध शासकों में समुद्रगुप्त का नाम इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णिम अक्षरों में अंकित है। उसने न केवल उतराधिकार में प्राप्त गुप्त साम्राज्य की सीमाओं में वृद्धि करी बल्कि उसने अपने साम्राज्य को अपनी नीतियों के माध्यम से अक्षुण्ण भी रखा। उसने साम्राज्य को स्थायित्व देने के साथ-साथ अन्य राजनैतिक शक्तियों से घनिष्ठ मैत्री संबंध भी स्थापित किये जिससे उसके उतराधिकारियों की राह कुछ आसान हो गई। अंततः उसने अपने सैन्य अभियानों तथा सांस्कृतिक सरंक्षण के माध्यम से अपने उत्तराधिकारी के लिए एक विस्तृत और महान साम्राज्य की नींव रख छोड़ी। इतिहासकार स्मिथ द्वारा इसे भारत के नेपोलियन की संज्ञा प्रदान करी गई है।

2.8 तकनीकी शब्दावली

- आटविक राज्य: वनराज्य
- ऐतिहासिक पुनरांकन: जब किसी अभिलेख पर अन्य किसी शासक द्वारा पुनः अपना अभिलेख खुदवाया जाता है तो उसे ऐतिहासिक पुनरांकन कहते हैं।

2.9 स्वमूल्यांकित प्रश्न

प्रश्न: प्रयागप्रशस्ति का लेखक कौन था?

1. भवभूति 2. बाणभट्ट 3. हरिषेण 4. कालिदास

प्रश्न: विष्णुगोप कहाँ का शासक था ?

1. वेंगी 2. कांची 3. अवमुक्त 4. कोशल

प्रश्न: मद्रक गणराज्य की राजधानी कहाँ थी?

1. सियालकोट 2. भरतपुर 3. साँची 4. मथुरा

प्रश्न: समुद्रगुप्त की माता का नाम क्या था?

1. कुबेरनागा 2. अनंतदेवी 3. तारादेवी 4. कुमारदेवी

2.10सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- ❖ प्राचीन भारत का इतिहास, द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली, संस्करण-2002
- ❖ भारतीय इतिहास का आदिकाल, रणवीर चक्रवर्ती, संस्करण-2012
- ❖ प्राचीन भारत का इतिहास,डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, संस्करण-2007
- ❖ प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, उपिन्दर सिंह,संस्करण-2017
- ❖ प्राचीन भारत का इतिहास, अखिल मूर्ति, संस्करण-2016

2.11निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न: समुद्रगुप्त द्वारा लड़े गए युद्धों के आधार पर उसके चरित्र का मूल्यांकन कीजिए?

प्रश्न: समुद्र गुप्त की आर्यव्रत विजय का विस्तार से उल्लेख करते हुए उनके प्रति अपनाई गई नीति पर प्रकाश डालिए?

इकाई तीन– कुमारगुप्त प्रथम एवं उसके उत्तराधिकारी; गुप्त साम्राज्य का पतन

3.1 प्रस्तावना

3.2 उददेश्य

3.3 कुमारगुप्त प्रथम और प्रारंभिक जीवन

3.4 कुमारगुप्त की उपाधियाँ

3.5 कुमारगुप्त की राजनैतिक उपलब्धियां

3.6 कुमारगुप्तकीसांस्कृतिकउपलब्धियां

3.6.1 अश्वमेध यज्ञ

3.7 कुमारगुप्त से सम्बंधित प्रमुख अभिलेख

3.7.1 मंदसौर अभिलेख

3.7.2 बिलसड़ अभिलेख

3.7.3 करमदंडाशिवलिंगअभिलेख

3.7.4 दामोदर ताम्रपत्र अभिलेख

3.8 कुमारगुप्त द्वारा जारी मुद्राएं

3.9 पुष्यमित्रजातिकाआक्रमण

3.10 स्कंदगुप्तऔरउसेजाननेकेस्त्रोत

3.11 स्कन्दगुप्तकीसैन्यएवंराजनैतिकउपलब्धियां

3.11.1 हूणआक्रमणऔरस्कन्दगुप्त

3.11.2 नागनृपतिसेसंघर्ष

3.11.3 वाकाटक

3.12 स्कंदगुप्तकीउपाधियाँ

3.13 स्कंदगुप्त की सांस्कृतिक उपलब्धियां

3.14 स्कंदगुप्तकेलोकोपकारीकार्य

3.15 स्कंदगुप्तकेउत्तराधिकारी

3.16 गुप्त साम्राज्य का पतन

3.16.1 राजनैतिक कारण

3.16.2 प्रशासनिक दुर्बलता

3.16.3 आर्थिक कारण

3.16.4 धार्मिक नीतियों का प्रभाव

3.17 सारांश

3.18 तकनीकी शब्दावली

3.19 स्वमूल्यांकित प्रश्न

3.20 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.21 निबंधात्मक प्रश्न

3.1प्रस्तावना

अब तक पिछले अध्यायों में आपने गुप्त साम्राज्य के दो महान सम्राटों समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के बारे में जानकारी हासिल कर ली है। इस अध्याय में आप सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा ध्रुवस्वामिनी के पुत्र कुमारगुप्त के बारे में जानकारी हासिल करेंगे। कुमारगुप्त की उपलब्धियां अपने पिता सामान तो नहीं आंकी जा सकती परन्तु वह प्रशंसा योग्य इसलिए है कि वह अपने पिता द्वारा प्रदत्त राज्य को अक्षुण्ण बनाए रख सका। यूँ तो चन्द्रगुप्त द्वितीय की एक और पत्नी कुबेरनागा थी जिससे उसे प्रभावती नाम की सुपुत्री जन्मी थी, यह वही प्रभावती है जिसका विवाह वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था और इसने आगे चलकर वाकाटक राज्य को संचालित करने में अपना सहयोग भी प्रदान किया था।

कुमारगुप्त के पश्चात उसका पुत्र स्कंदगुप्त गददी पर विराजमान हुआ और सही मायनों में यह गुप्त वंश का अंतिम योग्य प्रतापी शासक था।उसने अपनी सैन्य कुशलता तथा बाहुबल का परिचय पुष्यमित्रों तथा हूणों को हराकर दिया था। सही अर्थों में कहा जाए तो वह एक योग्य पिता का सुयोग्य पुत्र था जिसने अपने अंतिम समय तक गुप्त साम्राज्य की सीमाओं को निर्विवाद रूप से कायम रखा था। स्कंदगुप्त के बाद आने वाले गुप्त शासक अपेक्षाकृत निर्बल और अयोग्य साबित हुए जिस कारण शनैः-शनैः गुप्त साम्राज्य का चमकता सितारा भी अंतरिक्ष में कहीं विलीन हो गया।

3.2 उददेश्य

इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात आप गुप्त शासक कुमारगुप्त, स्कंदगुप्त तथा अन्य परवर्ती गुप्त शासकों के राजनैतिक इतिहास के बारे में सम्पूर्ण जानकारी हासिल कर सकेंगे। साथ ही आप उनसे जुड़े ऐतिहासिक स्त्रोतों, अभिलेखों, और मुद्राओं के बारे में भी विस्तृत जानकारी जुटा पाएंगे। इस इकाई के मध्य भाग में आप पुष्यमित्र जाति तथा हूणों के आक्रमण संबंधी जानकारी से भी अवगत होंगे। अंततः इस अध्याय में उन कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है जिस वजह से इस महान गुप्त साम्राज्य का चमकता सितारा काल के गर्भ में कहीं विलीन हो गया।

3.3 कुमारगुप्त प्रथम और प्रारंभिक जीवन

वर्ष 414 ई. में चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त कुमारगुप्त सिहांसनारूढ़ हुआ। परन्तु आज भी इतिहासकारों के बीच इस बात को लेकर मतभेद हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद कौन शासक बना। इतिहासकार डॉ० भंडारकर तथा

डॉ० पी. एल. गुप्ता जैसे विद्वानों के मतानुसार चन्द्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र गोविन्दगुप्त था और वही चन्द्रगुप्त के पश्चात गुप्त वंश का शासक बना था। इसके पीछे वे तर्कस्वरुपबसाढ़ (वैशाली) से प्राप्त राजमुद्रा तथा मंदसौर के अभिलेख का उल्लेख करते हैं जिसमें गोविन्दगुप्त को चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का पुत्र बतलाया गया है। हालाँकि अन्य विद्वान् उनसे मतैक्य नहीं रखते और वे वंशावलियों के आधार पर कुमारगुप्त को ही चन्द्रगुप्त का उत्तराधिकारी बतलाते हैं और उनका मानना है कि संभवतः गोविन्दगुप्त वैशाली का कोई स्थानीय शासक रहा होगा। इसके अलावा बिलसड़ अभिलेख के अनुसार गुप्त संवत 96 (415 ई.) से भी हमें यह ज्ञात होता है कि उस समय कुमारगुप्त शासन कर रहे थे। संभवतः यदि गोविन्दगुप्त शासक बने भी होंगे तो उनका शासनकाल क्षणिक रहा होगा। बिलसड़ अभिलेख जिसे की कुमारगुप्त के शासनकाल का प्रथम लेख भी कहा जाता है; से हमें यह जानकारी मिलती है कि इसके राज्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में राज्य पर कोई बाह्य आक्रमण नहीं हुआ और राज्य शांतिपूर्ण वातावरण के साथ चतुर्दिक उन्नति कर रह था। इसके अलावा अन्य अभिलेखों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि इस शासक के प्रारम्भिक वर्षों में इसने साम्राज्य के संसाधनों का प्रयोग सार्वजनिक एवं धार्मिक कार्यों में किया था।

3.4कुमारगुप्त की उपाधियाँ

अपने लगभग 40 वर्ष के शासनकाल में कुमारगुप्त ने कई अभिलेख खुदवाए जिनमें से 18 अभिलेखों की जानकारी हमें प्राप्त होती है। वह गुप्त वंश में सर्वाधिक अभिलेख जारी करने वाला शासक है। उसने कई प्रकार की मुद्राएं भी चलाई जिनके ऊपर उसकी उपाधियाँ अंकित हैं। उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण उपाधियाँ अग्रलिखित हैं:- महेंद्र, अश्वमेध महेंद्र, श्रीमहेंद्र, महेंद्रक्रमाजीत, महेन्द्रादित्य, महेंद्रकल्प, महेंद्रसिंह, सिंहविक्रम, व्याघ्रबलपराक्रम, श्रीप्रताप इत्यादि। इसके अतिरिक्त उसे अभिलेखों में 'परमभागवत महाराजाधिराज' कहकर भी संबोधित किया गया है।

3.5कुमारगुप्त की राजनैतिक उपलब्धियां

अपने40 वर्ष के लम्बे शासनकाल में (415 ई. – 455 ई.) कुमारगुप्त द्वारा कोई सामरिक विजय तो अर्जित नहीं की गई परन्तु उसकी सफलता का अनुमान इस बात से भली-भाति लगया जा सकता है कि उसने उत्तराधिकार में पाए गए राज्य को अक्षुण्ण तथा अखंड अवश्य बनाये रखा। इसके शासनकाल में भी गुप्त साम्राज्य की सीमाएं उसी प्रकार अखंड एवं सुरक्षित रही जैसी इसे अपने पिता से प्राप्त हुई थी। इस बात की पुष्टि इसके द्वारा जारी विभिन्न प्रकार के सिक्के तथा विभिन्न स्थानों से पाए गए इसके 18 अभिलेखों के माध्यम से की जा सकती है। इन अभिलेखों से प्राप्त जानकारी से पता चलता है कि इसके राज्य की सीमा पूर्व में कामरूप तथा बंगाल, पश्चिमी भारत में पूर्वी मालवा और पश्चिमी मालवा तक विस्तारित थी। डॉ० रायचौधरी 'व्याघ्र शैली' की मुद्राओं के आधार पर बताते हैं कि नर्मदा नदी के दक्षिण का भी कुछ भाग इसके आधिपत्य में होगा। उनके अनुसार उसने अपने पितामाह के समान दक्षिण भारत का अभियान किया था और नर्मदा को पार कर व्याघ्र वाले जंगली क्षेत्र को अपने नियंत्रण में लाने का प्रयास किया था। महाराष्ट्र के सतारा जिले से उसकी 1395 मुद्राएँ तथा एलिचपुर से 13 मुद्राएं प्राप्त होती हैं। किन्तु मात्र सिक्कों के आधार पर उसकी विजय के निष्कर्ष तक पहुँच पाना थोड़ा कठिन जान पड़ता है।

3.6 कुमारगुप्त की सांस्कृतिक उपलब्धियां

जैसा कि ऊपर बताया गया है, कुमारगुप्त का पूरा शासनकाल सार्वजनिक कार्यों और धार्मिक सहिष्णुता का काल रहा है। वह भी अपने पूर्वजों की भाति वैष्णव धर्म का अनुयायी थाऔर इसकी पुष्टि उसकी मुद्राओं और अभिलेखों पर लिखी उसकी उपाधि 'परमभागवत' से सिद्ध होती है।उसने अपने राज्य में सभी धर्मों को पराश्रय दिया। व्हेनसांग अपने यात्रा वृत्तांत में इस बात का उल्लेख करता है कि शक्रादित्य (कुमारगुप्त) ने नालंदा बौद्ध विहार की स्थापना की थी। कर्मादंड अभिलेख में उल्लेख है कि उसने एक शैव मूर्ति की भी स्थापना की साथ ही इसमें उसके एक उच्च पदाधिकारी पृथ्वीषेण का भी उल्लेख है जिसे उसने महाबलाधिकृत के पद पर नियुक्त किया था और वह भी शैव धर्म का अनुयायी था। मंदसौर के अभिलेख से भी रेशम-बुनकरों की एक श्रेणी द्वारा दशपुर में सूर्यमंदिर के निर्माण की जानकारी प्राप्त होती है वहीं मनकुंवर के लेख से यह ज्ञात होता है कि उसके एक सामंत बुद्धमित्र द्वारा एक बुद्धप्रतिमा की भी स्थापना की गई। इसी प्रकार अन्य अभिलेखों में भी उसके निर्माण कार्यों तथा दान का उल्लेख मिलता है। उसने अपनी प्रजा को अपने अनुसार विभिन्न धर्मों और मंदिरों की मूर्तियों के निर्माण की अनुमति दी थी। उसकी दृष्टि में समानता का भाव था और उसने अपने पदाधिकारियों की नियुक्तियां भी योग्यता के आधार पर करी।

3.6.1 अश्वमेध यज्ञ

कुमारगुप्त ने अपने पितामाह समुद्रगुप्त का अनुसरण कर अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था इसकी जानकारी उसके सिक्के पर उत्कीर्णित उसकी उपाधि 'श्री अश्वमेधमहेंद्र' से भी ज्ञात होती है। इन सिक्कों को ब्राह्मणों को दान देने के निमित्त विशेष रूप से ढलवाया गया था। परन्तु इस बात की कोई प्रमाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है कि उसने यह यज्ञ क्यों आयोजित करवाए थे।

3.7कुमारगुप्त से सम्बंधित प्रमुख अभिलेख

कुमारगुप्तके शासनकाल से सम्बंधित 18 अभिलेखों की सूची नीचे दी जा रही है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि इन अभिलेखों में से कोई भी अभिलेख राजकीय नहीं है। इन अभिलेखों से वंशावली, तिथियाँ तथा राजकीय अधिकारियों के नाम प्राप्त तो होते हैं परन्तु उनमें राजनैतिक घटनाओं का कोई जिक्र नहीं आता है। हालाँकि यह बात सत्य है कि इन अभिलेखों से गुप्तयुगीन धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के पुनर्निर्माण में अवश्य मदद मिली होगी। इनमें से प्रारंभिक 17 अभिलेख कुमारगुप्त से सम्बंधित हैं तथा अंतिम अभिलेख कुमारगुप्त द्वितीय के शासनकाल का है।

1. बिलसड़काशिलालेख;415 ई०
2. गढ़वाकाशिलालेख; 417ई०
3. गढ़वाकाशिलालेख; राजा शिवप्रसाद द्वारा प्राप्त

4. गढ़वाकाशिलालेख; कनिंघमद्वाराप्राप्त
5. उदयगिरिकागुहालेख; 425ई०
6. मथुराकाजैनलेख; 432 ई०
7. धानाइदहकाताम्रलेख; 432ई०
8. तुमैनकालेख; 435 ई०
9. करमदण्डाकाशैवलेख; 436 ई०
10. कलाइकुरी-सुल्तानपुरकाताम्रपट; 438ई०
11. दामोदरपुरकाप्रथमताम्रपत्र; 443 ई०
12. मथुराकाभग्नप्रतिमालेख; 444ई०
13. दामोदरपुरकाद्वितीयताम्रपट; 447 ई०
14. बैग्रामकाताम्रपट; 447 ई०
15. मानकुंवरकाबौद्धलेख; 448 ई०
16. साँची का शिलालेख; 450 ई०
17. मथुराकाबौद्धप्रतिमा-लेख; 454 ई०
18. मंदसौरकीप्रशस्ति; 472 ई०

3.7.1 मंदसौर अभिलेख

इस अभिलेखकी रचना वत्सभट्टी द्वारा कुमारगुप्त द्वितीय के समय में (472 ई.) में की गई थी, हालाँकि यह प्रशस्ति अवश्य ही बाद में रची गई है परन्तु इसमें कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल की विशिष्टघटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। यह अभिलेख मध्यप्रदेश के मंदसौर जिले में शिवना नदी के किनारे से प्राप्त किया गया है। इसी मंदसौर का प्राचीन नाम दशपुर था। इस प्रशस्ति की शुरुआत सूर्य उपासना के साथ की गई है।

3.7.2 बिलसड़ अभिलेख

यह कुमारगुप्त के शासनकाल का प्रथम अभिलेख है जो कि उत्तरप्रदेश के एटा जिले से पाया गया है।इस अभिलेख का पता वर्ष 1878 ई. में कनिंघम ने लगाया था। इस अभिलेख की भाषा संस्कृत है तथा इसे गद्य और पद्य शैली में लिखा गया है। इस अभिलेख में कुमारगुप्त प्रथम तक की गुप्तों की वंशावली दी गई है साथ ही कुमारगुप्त के शासनकाल को समृद्धशील कहा गया है। इस अभिलेख में ध्रुवस्वमी नमक एक ब्राह्मण का उल्लेख भी किया गया है जिसने स्वामी कार्तिकेय के मंदिर का निर्माण भी करवाया था।

3.7.3 करमदंडा का शिवलिंग अभिलेख

यह अभिलेख उत्तरप्रदेश के फैजाबाद जनपद से प्राप्त हुआ है जो कि शिवलिंग के नीचे उत्कीर्णित है। इस अभिलेख में कुमारगुप्त के मंत्री पृथ्वीषेण का उल्लेख आता है। यह लेख महादेव की स्तुति से प्रारंभ होता है तथा इसमें गुप्त

संवत 197 (436 ई.) को कुमारगुप्त का 'विजयराज्यसंवतसर' बतलाया गया है। इसी अभिलेख में अयोध्या नगर का उल्लेख भी आता है जिसे विभिन्न विधाओं में पारंगत विद्वानों का निवास स्थान बतलाया गया है।

3.7.4 दामोदर ताम्रपत्र अभिलेख

यह गुप्त राजवंश का पहला शासक हैजिसका अभिलेख इस क्षेत्र से प्राप्त हुआ है। तत्कालीन बंगाल (आधुनिक बांग्लादेश) के दिजनापुर नामक स्थान से संस्कृत गद्य में लिखा हुआ यह अभिलेख प्राप्त हुआ है।इस अभिलेख में कुमारगुप्त की उपाधियाँ यथा- परमदैवत, परमभट्टारक, एवं महाराजाधिराज आदि उल्लेखित हैं। इसके अलावा इस अभिलेख से हमें यह भी ज्ञात होता है कि गुप्त साम्राज्य कई भुक्तियों (प्रान्तों) में, भुक्ति विषयों (जिला) में विभाजित था। उस समय इस क्षेत्र का राज्यपाल चिरातदत्त नामक व्यक्ति था जिसके लिए इस लेख में 'उपरिक' शब्द प्रयुक्त किया गया है।

3.8कुमारगुप्त द्वारा जारी मुद्राएं

कुमारगुप्त ने अपने शासनकाल में विविध प्रकार की मुद्राएं जारी करवाई थी। उसकी कुछ मुद्राओं के प्रकार नीचे दिए जा रहे हैं:-

1. राजा-रानी प्रकार: इस मुद्रा का निर्माण उसने चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा प्रचलित सिक्के की स्मृति में करवाया था और यह सिक्का केवल बयाना-निधि से प्राप्त हुआ है।
2. व्याघ्र-निहन्ता प्रकार के सिक्के
3. अश्वमेध प्रकार के सिक्केसमुद्रगुप्त का अनुकरण करते हुए
4. वीणा प्रकार के सिक्के
5. अश्वारोही प्रकार के सिक्के
6. धनुर्धर प्रकार के सिक्के चन्द्रगुप्त द्वितीय के आदर्श पर निर्मित
7. सिंह-निहन्ता प्रकार के सिक्के
8. खंगधारी प्रकार की मुद्रा
9. गजारोही प्रकार की मुद्रा
10. गजारूढ़ सिंहनिहंता प्रकार कीमुद्रा मौलिक स्वर्ण मुद्राएं
11. गैंडा निहन्ता प्रकार कीमुद्रा
12. कार्तिकेय प्रकार कीमुद्रा

3.9 पुष्यमित्र जाति का आक्रमण

स्कंदगुप्त के भीतरी अभिलेख से इस बात की जानकारी मिलती है कि कुमारगुप्त के शासनकाल का अंतिम समय अशान्तिपूर्ण रहा। इसी समय पुष्यमित्र नामक जाति ने गुप्तों के ऊपर आक्रमण किया और गुप्तों की लक्ष्मी को विचलित कर दिया था। इस अभिलेख में वर्णन है कि उन्होंने तीन बार गुप्तों की लक्ष्मी को विचलित किया था इससे

यह अंदाजा लगया जा सकता है कि यह आक्रमण कितना द्रुत और कठिन रहा होगा। क्योंकि कुमारगुप्त तब तक वृद्ध हो चला था इसलिए इस चुनौती से निपटने का दायित्व उनके पुत्र स्कंदगुप्त पर था। स्कंदगुप्त ने कई रातें युद्ध के मैदान में गुजारी और अंततः वह पुष्यमित्र जाति का सफाया करने में सफल रहा पुष्यमित्र कौन थे? और कहाँ के रहने वाले थे इस बात को लेकर अभी तक विद्वानों में मतभेद है बहरहाल जो भी हो इतना तो निसंदेह कहा जा सकता है कि कुमारगुप्त के अंतिम समय तक गुप्त राजवंश को धक्का पहुँचने लगा था।

3.10 स्कंदगुप्त और उसे जानने के स्त्रोत

आर. सी. मजूमदार और गांगुली जैसे इतिहासकारों का मानना है कि कुमारगुप्त के दो पुत्रों पुरुगुप्त और स्कंदगुप्त के मध्य राजगददी को लेकर युद्ध हुआ था। जिसमें स्कंदगुप्त विजयी रहा और उसने आगे गुप्त वंश की सत्ता संभाली। इसे गुप्त वंश का अंतिम प्रतापी शासक भी माना जाता है जिसका शासनकाल 455ई. से 467ई. तक रहा। भीतरी स्तम्भ लेख, जूनागढ़ अभिलेख, सुपिया स्तम्भ लेख, चन्द्रगर्भपरिपृच्छा नामक बौद्ध ग्रन्थ तथा सोमदेव का कथासरित्सागर एवं समकालीन मुद्राएं स्कंदगुप्त को जानने का प्रमुख साधन हैं।

3.11 स्कन्दगुप्त की सैन्य एवं राजनैतिक उपलब्धियां

स्कंदगुप्त ने शासन सँभालने से पहले ही अपने पिता के अंतिम समय में पुष्यगुप्त जाति के आक्रमण को विफल कर यह बतला दिया था कि वह योग्य प्रशासक तथा वीर राजा है।ऐसा मालूम पड़ता है कि गुप्तों ने अपनी साम्राज्य सीमा का विस्तार उत्तर-पश्चिम प्रान्तों तक कर तो लिया था तथापि उन्होंने उसकी सुरक्षा का समुचित प्रबंध नहीं कियाजिसका लाभ उठाकर विदेशी आक्रमणकारी गुप्त की सीमाओं में प्रवेश कर गए। नीचे उसके द्वारा किये गए संघर्षों को विभिन्न शीर्षकों में आपके पाठन के लिए दिया जा रहा है।

3.11.1हूण आक्रमण और स्कन्दगुप्त

इसके शासनकाल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना गुप्त साम्राज्य पर हूण आक्रमण का होना रही है। इनका मूल स्थान मध्य एशिया था और ये स्वभाव से ही बहूत क्रूर समझे जाते थे। भितरी के लेख में स्कंदगुप्त और हूणों के मध्य युद्ध का वर्णन किया गया है। इस लेख के अनुसार जब स्कंदगुप्त युद्ध के मैदान में उतरा तो उसके बाहुबल से सम्पूर्ण धरा कम्पायमान हो गई थी। जूनागढ़ अभिलेख तथा विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस में भी हूणों का उल्लेख किया गया है जिनमें इन्हें म्लेच्छ कहकर संबोधित किया गया है। यह कह पाना कठिन है की यह युद्ध किस स्थल पर हुआ होगा पर सम्भावना है कि यह युद्ध गंगा घाटी में कहीं हुआ होगा एक और सम्भावना यह भी है कि यह युद्ध एक साथ एक से अधिक स्थानों पर लड़ा गया हो। ध्यातव्य रहे की इस युद्ध में स्कंदगुप्त ने हूणों को न केवल परास्त किया बल्कि उन्हें अपनी साम्राज्य की सीमा से बहार भी खदेड़ दिया था।

3.11.2 नाग नृपति से संघर्ष

जूनागढ़ अभिलेख में एक स्थान पर यह उद्धृत है कि स्कन्दगुप्त ने भुजंग के सामान शक्तिशाली नाग नरेशों का दमन किया था। इसी के आधार पर फ्लीट महोदय कहते हैं कि स्कन्दगुप्त ने नागवंशी राजाओं को पराजित किया था

परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जाना थोड़ा कठिन है क्योंकि इस समय तक किसी ऐसे नागवंशी शासक का उल्लेख नहीं मिलता जो स्कंदगुप्त को चुनौती प्रस्तुत कर सके।

3.11.3 वाकाटक से संघर्ष

वाकाटक शक्ति की नजर गुप्तों के मालवा प्रांत पर थी, ऐसा प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त के शासन के पश्चात उन्होंने मालवा को जीतने कि कोशिश करी थी। मंदसौर अभिलेख से हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है की कुमारगुप्त के शासन के अंतिम वर्षों से 473 ई. तक मालवा पर कई शासकों ने शासन किया अर्थात यह काल इस क्षेत्र के लिए काफी उथल-पुथल वाला रहा। इतिहासकार दाण्डेकर बालाघाट ताम्रपत्र को आधार बनाकर इस बात का दावा करते हैं कि वाकाटकों ने स्कन्दगुप्त की विपत्तियों से लाभ उठाकर गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया और उसके पश्चिमी प्रदेश का कुछ भाग छीन लिया था। कई विद्वानों का यह भी मानना है कि वाकाटक नरेश नरेंद्रसेन ही पुष्यगुप्तों का नेता था। हालांकि इस मत को लेकर संदेह है यह भी सम्भव है कि मालवा के सामंतों ने गुप्तों से अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी हो कदाचित वाकाटकों के सहयोग के लिए उनकी अधीनता स्वीकार कर ली हो। परन्तु स्कन्दगुप्त ने शीघ्र ही इस प्रदेश के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तथा जीवन पर्यन्तउसका शासक बना रहा।

3.12 स्कंदगुप्त की उपाधियाँ

स्कन्दगुप्त की मुद्राओं और अभिलेखों से उसके द्वारा प्राप्त की गई अनेक उपाधियों की जानकारी हमें प्राप्त होती है। आर्यमंजूश्रीमूल्कल्प में उसे कई नामों वाला शासक बताया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस ग्रन्थ में इसे ही देवराज कहा गया है हालाँकि गुप्त वंश में मूलरूप से देवराज की उपाधि चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य की है संभवतः यह अपने वंश का द्वितीय देवराज होगा। इसके अलावा भी हमें इसकी अन्य कई उपाधियों की जानकारी मिलती हैं जो अग्रलिखित हैं- क्रमादित्य, शक्रोपम, विक्रमादित्य, तथा परमभागवत इत्यादि।

3.13 स्कंदगुप्तकीसांस्कृतिकउपलब्धियां

स्कंदगुप्त भी अपने पूर्वजों की भाति वैष्णव था और उसने परमभागवत की उपाधि धारण की थी। उसने भितरी में भगवान् विष्णु की एक प्रतिमा भी स्थापित करवायी थी हालाँकि वह निजी रूप से वैष्णव था फिर भी उसने अन्य पंथों और सम्प्रदायों के प्रति अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया।उसके समय के इंदौर के अभिलेख से हमें ज्ञात होता है कि उसके साम्राज्य में सूर्य पूजा का भी प्रचलन था साथ ही कहोमा अभिलेख से पता चलता है कि उसके समय में जैन पंथ का भी प्रसार हो रहा था।

3.14 स्कंदगुप्त के लोकोपकारी कार्य

स्कंदगुप्त एक प्रजावात्सल्य शासक था और वह अपने नागरिकों के सुख दुःख का पूरा ख्याल रखता था। इसका एक प्रमुख उदाहरण उसके द्वारा सुदर्शन झील की मरम्मत करवाया जाना है। सौराष्ट्र क्षेत्र में अवस्थित इस झील का

निर्माण कार्य सर्वप्रथम चन्द्रगुप्तमौर्य के राज्यपाल पुष्यगुप्त वैश्य ने पश्चिमी भारत में सिंचाई की सुविधा के लिए किया था। इसके बाद अशोक के शासनकाल में उसके गवर्नर तुषास्प ने इस झील पर एक बाँध का निर्माण करवाया। आगे शक शासक रुद्रदामन के समय जब यह बॉध टूट गया तो रुद्रदामन ने अपने धन से इस झील का निर्माण कार्य अपने राज्यपाल सुविशाख के देखरेख में करवाया था। स्कंदगुप्त के शासनकाल में जब अतिवृष्टि के कारण इस झील को पुनः हानि पहुँची तब सौराष्ट्र प्रान्त के राज्यपाल पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने पुनः इस झील का जीर्णोद्धार करवाया था।

3.15स्कंदगुप्तकेउत्तराधिकारी

स्कंदगुप्त के पश्चात गुप्तों में उत्तराधिकार का क्रम प्रमाणों की आभाव में पेचिदा हो जाता है। इतिहासकार उदयनारायण झा ने अपनी पुस्तक में गुप्त उत्तराधिकारियों का निम्न कालक्रम सुझाया है:- स्कंदगुप्त, पुरुगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुद्धगुप्त, वैन्यगुप्त, भानुगुप्त, नरसिंहगुप्त बलादित्य, कुमारगुप्त त्रितीय, और विष्णुगुप्त। विष्णुगुप्त को ही गुप्त वंश का अंतिम शासक भी माना जाता है।

3.16गुप्तसाम्राज्यकापतन

किसी भी साम्राज्य जिसका उदय हुआ है उसका पतन होना भी सुनिश्चित ही है। परन्तु यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि गुप्त वंश का पतन कोई आकस्मिक या अल्पकालिक घटना नहीं थी इसके समाप्त होने में लगभग 82 वर्षों (468 ई.-550 ई.) का लम्बा समय लगा। वस्तुतः यदि देखा जाए तो इस साम्राज्य के पतन के भी सामान्य कारण वहीं हैं जो कि किसी अन्य विशाल भारतीय साम्राज्य के संबंध में लागू होते हैं। आइयेगुप्त साम्राज्य के पतन के अनेक कारणों को हम सुविधा के लिए राजनैतिक, प्रशासनिक, आर्थिक और धार्मिक कारणों में विभक्त कर उनका अध्ययन करते हैं।

3.16.1राजनैतिक कारण

गुप्त साम्राज्यके पतन के तात्कालिक कारणों में स्कंदगुप्त के बाद आने वाले शासकों की अयोग्यता सर्वप्रमुख रही चूंकि गुप्त साम्राज्य का स्वरुप राजतंत्रात्मक पद्धति पर आधारित था इसलिए ऐसे में यह और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि शासक योग्य और अनुशासित हो। यदि शासक दुर्बल तथा अपनी नीतियों के क्रियान्वयन में असफल रहते हैं तो राज्य का पतन अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। गुप्तवंश के प्रारंभिक नरेश तो शक्तिशाली और दूरदर्शी थे परन्तु स्कंदगुप्त के बाद के शासकों में इस योग्यता का अभाव स्पष्ट नजर आता है। वह अंतिम शासकथा, जिसने राजवंश की एकता को बनाए रखने का प्रयास किया। इसके अलावा गुप्तवंश में उत्तराधिकार के किसी निश्चित नियम के अभाव के कारण पारिवारिक कलह एवं गृहयुद्ध की स्थिति बनी रही। इसी अव्यवस्था का लाभ उठाकर गुप्त साम्राज्य के भीतर ही अनेक महत्त्वाकांक्षी सरदार स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर अपने अपने क्षेत्रों के शासक बन बैठे। इनमेंमौखरी, मैत्रक, गौड़इत्यादिराज्यप्रसिद्धहैं।

गुप्त साम्राज्य की अखंडता पर अगला प्रहार विदेशीआक्रमणकारियोंद्वारा किया गया।जिन्होंने गुप्त साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया को और अधिक तीव्र कर दिया। इसका कारण विदेशी आक्रमणकारी हूण थे जो कि

मध्यएशियाकीएकबर्बरजाति थी और जो स्वभाव से ही अत्यधिक क्रूर थी। चीनी यात्री व्हेनसांग अपने विवरण में हूण शासकों का उल्लेख करता है उसके अनुसार इनका पहला शासक तिगिन था जिसने गांधार में अपनी सत्ता स्थापित करी। इसके सिक्के भी हमें भारत के उत्तर पश्चिमी भागों से प्राप्त होते हैं। तोरामण हूणों का प्रथम शासक था जो भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र तक आ धमका था। 'कुवलयमाला' नामक जैन ग्रन्थ से हमें इस बात की जानकारी मिलती है कि यह शासक चंद्रभागा नदी के तट पर पवैया नामक स्थान पर शासन करता था। मालवा क्षेत्र में इसका शासनकाल 508-599 ई. के मध्य आँका गया है। ऐसा अनुमानित है कि तोरामण के मालवा अभियान के चलते गुप्तों के पतन की प्रक्रिया और भी अधिक तेज हो गई होगी।

3.16.2 प्रशासनिक दुर्बलता

गुप्त साम्राज्य के पतन के प्रमुख कारणों में से एक कारण सामंतवादी व्यवस्था भी थी। वस्तुतः समुद्रगुप्त ने स्थानीय शासकों को स्वतंत्रता देकर सामंतवादी व्यवस्था को बढ़ावा ही दिया था। उसके बाद आने वाले गुप्त शासकों का भी अपने अधीन क्षेत्रों में पूर्णतःप्रशासनिक नियंत्रण नहीं रहा। गुप्तों द्वारा अधिकांश क्षेत्रों को जीतने के पश्चात वहां के स्थानीय शासकों को स्वतंत्रता देकरप्रशासनिक दायित्व सौंप दिए गए थे जिनसे वस्तुतः उन शासकों की वास्तविक स्थिती में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यह स्थिती तब तक सुचारू रूप से चलती रही जब तक सत्ता में योग्य और शक्तिशाली सम्राट मौजूद थे। परन्तु जैसे ही केंद्र में दुर्बल और अयोग्य शासक आए इन सामंती शासकों ने अपनी शक्ति का विस्तार और स्वतंत्र सत्ता का उपभोग करना प्रारंभ कर दिया। यह बात सत्य है कि गुप्तों ने निर्विवाद रूप से एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की थी परन्तु वे इसे सुदृढ़ रखने के लिए कोई उपयुक्त प्रशासिनकढाँचाउपलब्ध नहींकरसके।

इसके अलावा कुछ अन्य बातों ने भी गुप्त वंश के पतन का मार्ग प्रशस्त किया जैसे की राजपदों पर की जाने वाली नियुक्तियों में योग्यता का सिद्धांत भुला दिया गया था। एक ही व्यक्ति को कई जिम्मेदारियां देकर शक्तियों को व्यक्ति केन्द्रित कर दिया गया और इससे भी महत्त्वपूर्ण राजकीय पदों को वंशानुगत बनाकर नकद वेतन के बजाए भूमि देने की प्रथा को अधिक बल दिया गया जिससे लोगों के स्व-स्वार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए और अधिकारीयों ने इसका जमकर लाभ उठाया।

एक और महत्त्वपूर्ण कारण अंतिम गुप्त शासकों द्वारा मौर्य सम्राटों की तरह स्थायी सेना का विकास न कर पाना रहा। वे हमेशा अपनी सैन्यशक्ति की पूर्ती के लिए अपने अधीनस्थ शासकों या सामंतों पर ही निर्भर रहे। और इसका परिणाम यह हुआ की आगे चलकर जब किसी सामंत ने गुप्तों के खिलाफ विद्रोह किया तो उनके पास इतनी शक्ति भी शेष नहीं रही कि वे विद्रोही सामंत को दबा सकें।

3.16.3 आर्थिक कारण

गुप्त साम्राज्य के पतन में आर्थिक कारणों कि भी महती भूमिका रही है। तत्कालीन समय में भूमिअनुदान की प्रथा और कृषि पर अत्यधिक बल ने जहाँ आत्मनिर्भर ग्रामों के उदय का मार्ग प्रशस्त किया तो वहीं इस कारण किसान,

कारीगर, मजदूर इत्यादि सभी वर्ग भूमि से बंध गए और उनकी गतिशीलता बाधित हुई। इसका दुष्प्रभाव पूरी गुप्त अर्थव्यवस्था पर पड़ा। अनेक पुराने व्यापारिकऔरऔद्योगिककेंद्रनष्टहोगए। गुप्त राज्य को अपनी विशाल वेतनभोगी सेना के रखरखाव में भी धन का अत्यधिक व्यय करना पड़ा होगा जिससे उनकी आमदनी पर प्रभाव पड़ा होगा। विदेशी व्यापार में हरास से भी उनकी आमदनी प्रभावित हुई होगी। समकालीन स्त्रोतों से इस बात की भी जानकारी प्राप्त होती है कि रेशम बुनकरों की एक श्रेणी गुजरात से मालवा चली गई थी और उन्होंने वहां जाकर अलग पेशे अपना लिए थे। गुप्त सम्राटों की आर्थिक स्थिती के बारे में इस बात से भी अंदाजा लगाया जा सकता है कि गुप्त सम्राटों ने अपनी स्वर्णमुद्रा में सोने के अनुपात को घटा दिया था परन्तु इसका भी कोई लाभ नहीं हुआ। एक सुदृढ़आर्थिकआधारकेअभावमेंयह साम्राज्यअधिकदिनोंतकनहींटिकसका।

3.16.4 धार्मिक नीतियों का प्रभाव

गुप्त सम्राट ब्राह्मण धर्म के पोषक थे और उनका राजकीय धर्म भागवत था। हालाँकि कुमारगुप्त का शासनकाल आते आते गुप्त शासक बौद्ध धर्म से प्रभावित होने लगे थे। इस प्रभाव के चलते गुप्त शासक अपने चक्रवर्ती राजा के आदर्शों को भूलकर दान-पुण्य में अपना अधिकांश समय व्ययीत करने लगे थे। अब तक गुप्त सम्राटों की युद्धप्रियता जो की साम्राज्य का मुख्य आधार थी उसे गुप्त शासकों द्वारा विस्मृत कर दिया गया। एक तरफ जहाँ बौद्ध संस्थाओं को अधिक दान दिए जाने के कारण गुप्त साम्राज्य के संसाधनों पर अधिक दबाव पड़ा वहीं बौद्ध विहार धन संग्रह और भ्रष्टाचार के केंद्र के रूप में उभरे। इस कारण जहाँ एक ओर इन्होंने आक्रमणकारियों को अपनी ओर आकर्षित किया वहीं गुप्त साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया को भी बढ़ावा दिया।

3.17सारांश

इस अध्याय के माध्यम से आपने कुमारगुप्त प्रथम तथा उसके उत्तराधिकारियों के संबंध में विस्तृत जानकारी ग्रहण की होगी साथ ही आपने यह भी जाना कि उक्त शासकों के समक्ष क्या-क्या प्रमुख चुनौतियाँ थी और किस प्रकार उन्होंने जन कल्याणकारी कार्यों के साथ-साथ गुप्त साम्राज्य की सीमाओं को अक्षुण्ण बनाये रखा। अपनी स्थापना के समय से 467 ई. (लगभग दो शताब्दियों) तक योग्य शासकों द्वारा संचालित होने वाला गुप्त साम्राज्य फलता-फूलता रहा। आगे हम देखते हैं कि गुप्त साम्राज्य भी अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच कर पतन की ओर उन्मुख होता है। स्कंदगुप्त के शासन के पश्चात गुप्त साम्राज्य में विघटन और हरास के तत्त्व क्रियाशील होने लगे थेऔर ऐसी परिस्थितियों के बावजूद भी गुप्तों के वंशज 550 ई. तककिसीनकिसीरूपमेंशासनकरतेरहे। कालांतर में अयोग्य उत्तराधिकारियों, पारिवारिक मतभेदों, सामंतवाद, आर्थिक अवनति जैसे विभिन्न कारणों ने एकत्रित होकर इस महान गुप्त साम्राज्य का भी अंत कर दिया।

3.18तकनीकी शब्दावली

- मुद्राशास्त्र: सिक्कों के अध्ययन का विज्ञान

- ❖ अभिलेख: पत्थर अथवा धातु की सतह पर उत्कीर्णित पठन सामग्री
- ❖ भुक्ति: प्रांत के लिए प्रयोग किया जाने वाला शब्द

3.19 स्वमूल्यांकित प्रश्न

प्रश्न: स्कंदगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख किस राज्य से प्राप्त किया गया है?

1. बिहार 2. झारखंड 3. गुजरात 4. उत्तर प्रदेश

प्रश्न: पुष्यमित्र जाति का आक्रमण किसके शासनकाल में हुआ था?

1. स्कंदगुप्त 2. बुद्धगुप्त 3. भानुगुप्त 4. कुमारगुप्त

प्रश्न: मंदसौर अभिलेख का रचनाकार कौन था?

1. वत्सभट्टी 2. हरिषेण 3. रविकीर्ति 4. कल्हण

प्रश्न: निम्नलिखित में से किस शासक ने सुदर्शन झील का पुनर्निर्माण करवाया था?

1. कुमारगुप्त 2. चंद्रगुप्त 3. भानुगुप्त 4. स्कंदगुप्त

प्रश्न: शक्रादित्य किस गुप्त शासक की उपाधि थी?

1. कुमारगुप्त 2. स्कन्दगुप्त 3. समुद्रगुप्त 4. चंद्रगुप्त

3.20सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- ❖ प्राचीनभारतकाइतिहास,द्विजेन्द्रनारायणझाएवंकृष्णमोहनश्रीमाली,संस्करण-2002
- ❖ भारतीय इतिहास का आदिकाल, रणवीर चक्रवर्ती, संस्करण-2012
- ❖ प्राचीनभारतकाइतिहास,डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी,संस्करण-2007
- ❖ गुप्त सम्राट और उनका काल, उदयनारायण झा,संस्करण-2005
- ❖ प्राचीनभारतकाइतिहास, अखिल मूर्ति, संस्करण-2016
- ❖ प्रारंभिक भारत का परिचय, रामशरण शर्मा, संस्करण- 2010

3.21निबंधात्मक प्रश्न

प्रश्न: कुमारगुप्त के चरित्र एवं उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए?

प्रश्न: क्या स्कंदगुप्त, गुप्त साम्राज्य का अंतिम महान शासक था? समीक्षा कीजिये।

प्रश्न:गुप्त साम्राज्य के पतन के कारणों पर विस्तार से प्रकाश डालिए?

प्रश्न: क्या गुप्त साम्राज्य के पतन में बाह्य आक्रमण और सामंतवाद ही एकमात्र कारण थे? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क देते हुए स्पष्ट करें।

प्रश्न: हूण आक्रमण के बारे में आप क्या जानते हैं। विस्तार से बताइए?

इकाई चार: गुप्तकाल: प्रशासन, कला, विज्ञान एवं साहित्य

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था के ऐतिहासिक स्रोत

4.3 केन्द्रीय प्रशासनिक व्यवस्था

4.3.1 राजा

4.3.2 सामन्त

4.3.3 केन्द्रीय पदाधिकारी-मन्त्रीपरिषद एवं अन्य अधिकारीगण

4.3.4 प्रान्तीय शासन एवं प्रान्तीय अधिकारी

4.3.5 जिला प्रशासन एवं विषयाधिकारी

4.3.6 नगर प्रशासन

4.3.7 ग्राम प्रशासन

4.4 सैन्य-संगठन

4.5 पुलिस व्यवस्था

4.6 न्याय प्रशासन

4.7 राजस्व प्रशासन

4.8 कला

4.8.1 स्थापत्य

4.8.2 चित्रकला

4.8.3 मूर्तिकला

4.9 साहित्य

4.10 विज्ञान

4.11 चिकित्सा विज्ञान

4.12 सारांश

4.13 शब्दावली

4.14 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

4.15 निबन्धात्मक प्रश्न

4.16 सन्दर्भ ग्रन्थ एवं इस खण्ड के लिए उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप गुप्त राजाओं के प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

- राजा के दैवी उत्पत्ति को समझ सकेंगे। राजा के कर्तव्यों एवं दायित्वों के विषय में सम्यक अध्ययन कर सकेंगे।
- गुप्तकाल में सामन्तों के उदय एवं प्रशासनिक महत्व को समझ सकेंगे।
- गुप्तकालीन केन्द्रीय पदाधिकारियों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रान्तीय प्रशासनिक व्यवस्था, जिला प्रशासन एवं ग्राम प्रशासन के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- गुप्तकालीन सैन्य प्रशासन, न्याय-व्यवस्था एवं राजस्व व्यवस्था का अध्ययन कर पायेंगे।

4 .1 प्रस्तावना

स्वर्णकाल के नाम से अभिहित गुप्तकाल में एक कुशल एवं उत्कृष्ट प्रशासनिक व्यवस्था का विकास हुआ था। गुप्तकालीन शासन-प्रणाली ने पूर्वगामी राजवंशों के शासन-प्रबन्धों के सभी लाभकर तत्वों को ग्रहण कर लिया था। इसके साथ-साथ इसने आवश्यकतानुसार अनेक नवीन और मौलिक प्रशासनिक व्यवस्थाओं का भी निर्माण किया था। गुप्तकाल में दो प्रकार का शासन तन्त्र प्रचलन में था-

(1) गणतन्त्रः- इसकाल में अनेक गणतन्त्रामंक राज्यों के नाम मिलते हैं। ये राज्य पंजाब और राजस्थान में थे। इनमें मालव, आर्जुनायन, सनकानीक, यौधेय, मद्र, प्रार्जुन, कुणिन्द, काक, खरपरिक, आभीर विशेष उल्लेखनीय थे। के0 पी0 जायसवाल का मत था कि समुद्रगुप्त की साम्राज्यवादी नीति के कारण 400 ई0 पश्चात् ये गणतन्त्र समाप्त हो गये।

(2) राजतन्त्रः- गुप्तकाल में अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय शासनतंत्र राजतंत्र ही था। राजतंत्र दैवी सिद्धान्त पर आधारित था।

2.2 गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था के ऐतिहासिक स्रोत

गुप्तकालीन ऐतिहासिक ग्रन्थों, अभिलेखों, सिक्कों एंव चीनी यात्री फाह्यान के यात्रा वृतान्त से इस युग के शासन-संस्थाओं पर ठोस प्रकाश पड़ता है। कालिदास के ग्रन्थों-रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, अभिज्ञानशाकुन्तलम् में गुप्तयुगीन राजनैतिक आदर्शो एवं शासन संस्थाओं का कतिपय उल्लेख मिलता है। विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षस, विष्णुशर्मा के पंचतंत्र एवं कामन्दक नीतिसार से गुप्तकालीन शासन प्रबन्ध पर प्रभाव पड़ता है। गुप्त सम्राटों के अभिलेखों एवं सिक्को से इस युग की प्रशासनिक व्यवस्था का वृहद उल्लेख मिलता है। चीनी यात्री फाह्यान ने अपने यात्रा-वृतान्त में कहीं-कहीं इस देश के सुशासन एवं कानूनों की उत्तमता का निर्देश किया गया है, जैसे- "राजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। वे राजा की भूमि जोतते हैं और उसका

अंश देते हैं। जहाँ चाहें रहें। राजा न प्राणदण्ड देता है, न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्था के अनुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है। राजा के प्रतिहार और सहचर वेतनभोगी होते हैं।"

4.3 केन्द्रीय प्रशासनिक व्यवस्था

4.3.1 राजा

गुप्तकाल में राजा को देवतुल्य समझा जाता था, उसे पृथ्वी पर देवता का प्रतिनिधि और कभी-कभी तो स्वयं देवता माना जाता था। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त को देव कहा गया है (लोकधाम्नो देवस्य)। वह मानवोचित्त क्रियायें करने मात्र के कारण मनुष्य लगता था, अन्यथा वह देवता तुल्य था। प्रयाग-प्रशस्ति में उसे अचिन्त्यपुरूष (भगवान बिष्णु) कहा गया है तथा उसकी तुलना कुबेर, वरूण, इन्द्र तथा यमराज आदि से की गयी है। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य दोनों को साक्षात् अप्रतिरथ (=बिष्णु) भी कहा गया है। हरिषेण ने समुद्रगुप्त को सज्जनों के उदय एवं दुर्जनों के पतन का कारण माना है।

गुप्त सम्राटों की उपाधियाँ भी उनकी दैवी उत्पत्ति की अवधारणा की ओर संकेत करती हैं। उन्होंने 'परमदैवत','महाराजाधिराज', 'राजाधिराज', 'एकाधिराज' तथा 'परमेश्वर' जैसी उपाधियाँ धारण की। राजाओं के प्रति दैवी भावना इस युग की स्मृतियों से भी प्रकट होती है। राजा देवताओं के अंश से बना होने के कारण दैवी होता है, यह अभिव्यक्ति याज्ञवल्क्य और नारद स्मृतियों में उल्लेखित है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी यह विचार वर्णित है। जिसका प्रयोग गुप्तचर लोग जन-सामान्य में राजा का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही किया करते थे, परन्तु गुप्तकाल तक यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त हो गया था।

दैवी उत्पत्ति के बावजूद राजा स्वयं विधि-विधानों का उल्लंघन नहीं कर सकता था। राजा प्रशासन का मुख्य स्रोत था, जिसके अधिकार और शक्तियाँ असीमित थी। वह कार्यपालिका का सर्वोच्च अधिकारी, न्याय का प्रधान न्यायाधीश एवं सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था। युद्ध के समय वह स्वयं सेना का संचालन करता था। प्रशासन के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति सम्राट द्वारा ही की जाती थी और वे सभी उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। सिद्धान्ततः राजा की स्थिति एक निरंकुश शासक जैसी थी, लेकिन व्यवहार में वह उदार तथा जनहिताकारी होता था। गुप्तकाल में ऐसे रानियों का दृष्टान्त उपलब्ध है जिन्होंने अपने पतियों के साथ मिलकर शासन किया। कुमार देवी ने अपने पति चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ मिलकर शासन चलाया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता ने वाकाटक राज्य के शासन का संचालन किया था।

4.3.2 सामन्त

इतिहासकार आर. एस. शर्मा के अनुसार गुप्तकाल में 'सामन्तवाद' का उदय हो चुका था। भूमि अनुदान तथा गुप्त सम्राटों की अधीनस्थ राजाओं के प्रति अपनायी गई नीति के कारण सामन्तवाद का उदय हुआ। गुप्तकाल में सम्राट के अधीन अनेक छोटे-छोटे सामन्त हुआ करते थे जो अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से शासन करते थे तथा नाममात्र के लिए सम्राट की अधीनता स्वीकार करते थे। ये सामन्त 'महाराज' की उपाधि ग्रहण करते थे। उन्हें सेना रखने तथा अपने अधीन जनता से कर वसुलने का अधिकार प्राप्त था। पूर्वी मालवा में सनकानिक, बुन्देलखण्ड

में परिव्राजक एवं उच्चकल्प वंशों के शासक गुप्तों के सामन्त थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि के एक गुहालेख में 'सनकानिक महाराज' का उल्लेख मिलता है। सामन्त शासक अपने लेखों में अपने को पादानुध्यात कहते थे। विभिन्न अवसरों पर सम्राट् की राजसभा में उपस्थित होते तथा भेंट, उपहारादि से उसे सन्तुष्ट रखते थे। कतिपय शक्तिशाली सामन्तों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने अपने अधीन कई छोटे-छोटे सामन्त रखे थे। ऐसे शक्तिशाली सामन्तों में परिव्राजक महाराज हस्तिन् का उल्लेख किया जा सकता है। गुप्तों के अभिलेखों में सामन्तों तथा उनकी श्रेणियों का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है।

4.3.3 केन्द्रीय पदाधिकारी-मन्त्रीपरिषद एवं अन्य अधिकारीगण

गुप्त सम्राट शासन-कार्यो में मंत्रियों और अन्य पदाधिकारियों की सहायता लेते थे। मंत्रियों को अमात्य अथवा सचिव भी कहा जाता था। गुप्त अभिलेखों में हरिषेण, वीरसेन उर्फ शाव, शिखरस्वामी तथा पृथिवीषेण आदि मंत्रियों के नाम मिलते हैं। उदयगिरी गुहालेख से पता चलता है कि सचिव का पद परम्परागत था। परिव्राजकों तथा उच्च कल्पों में भी यह परम्परा प्रचलित थी। वाकाटक अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उनके राज्य में मंत्री पद एक परिवार में कई पीढ़ी तक रहा था। मन्त्री की नियुक्ति में योग्यता को महत्व दिया जाता था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य संधि-विग्रहिक वीरसेन एक निपुण कवि तथा व्याकरण, न्याय और राजनीति का पण्डित था तथा समुद्रगुप्त का सन्धिविग्रहिक हरिषेण एक निपुण कवि था।

कुमारामात्य:- साम्राज्य के मुख्य-मुख्य पदों पर कार्य करने वाले कर्मचारियों को 'कुमारामात्य' कहते थे। कुमारामात्य राजघराने के भी होते थे और दूसरे लोग भी। साम्राज्य के विविध अंगों-मुक्ति, विषय आदि का शासन करने के लिए जहाँ इनकी नियुक्ति की जाती थी, वहाँ सेना, न्याय आदि के उच्च पदों पर भी ये कार्य करते थे। कुमारामात्य साम्राज्य की स्थिर सेवा में होते थे, और शासन-सूत्र का संचालन इन्हीं के हाथों में रहता था। रोमिला थापर कुमारामात्य को प्रान्तीय पदाधिकारी मानती हैं। जबकि अभिलेखों से ये केन्द्रीय पदाधिकारी प्रतीत होते हैं। ए0 एस0 अल्तेकर ने भी कुमारामात्य को 'केन्द्रीय नौकरशाही' का पर्याय माना है। कुमारामात्य के कार्यालय को 'कुमारामात्याधिकरण' कहते थे।

अधिकरण:- केन्द्रीय शासन के विविध विभागों को अधिकरण कहते थे। प्रत्येक अधीकरण की अपनी-अपनी मुद्रा (सील) होती थी। गुप्तकाल के विविध शिलालेखों और मुद्राओं आदि से निम्नलिखित अधिकरणों और प्रधान राज-कर्मचारियों के विषय में जानकारी मिलती है:-

महासेनापति:- गुप्त सम्राट् स्वयं कुशल सेनानायक और योद्धा थे। वे दिग्विजयों और विजय-यात्राओं के अवसर पर स्वयं सेना का संचालन करते थे। पर उनके अधीन महासेनापति भी होते थे, जो साम्राज्य के विविध भागों में, विशेषतया सीमान्त प्रदेशों में, सैन्य संचालन के लिये नियत रहते थे। सेना के ये सबसे बड़े पदाधिकारी 'महासेनापति' कहलाते थे।

महादण्डनायक:- महासेनापति के अधीन अनेक महादण्डनायक होते थे, जो युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करते थे। गुप्त-काल की सेना के तीन प्रधान विभाग होते थे-पदाति, घुड़सवार और हाथी। महादंडनायकों के अधीन

महाश्वपति, अश्वपति, महापीलुपति आदि अनेक सेनानायक रहते थे। साधारण सैनिक को 'चाट' और सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहते थे। चमू का नायक 'चमूप' कहलाता था। युद्ध के लिये परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर, भिंदिपाल, नाराच आदि अनेकविध अस्त्रों को प्रयुक्त किया जाता था।

रणभांडारिकः- सेना के लिये सब प्रकार की सामग्री (अस्त्र-शस्त्र, भोजन आदि) को जुटाने का विभाग रणभांडारिक के अधीन होता था।

महाबलाधिकृतः- सेना, छावनी और व्यूह रचना का विभाग महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत के हाथ में रहता था। उसके अधीन अनेक बलाधिकृत होते थे।

दंडपाशिकः- पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दंडपाशिक कहलाता था। उसके नीचे खुफिया विभाग के अधिकारी 'चौराद्ध रणिक', 'दूत' आदि अनेक कर्मचारी रहते थे। पुलिस के साधारण सिपाही को भट कहते थे।

महासंधिविग्रहिकः- इस उच्च अधिकारी का कार्य पड़ोसी राज्यों, सामन्तों और गणराज्यों के साथ संधि तथा विग्रह की नीति का प्रयोग करना होता था। यह सम्राट का अत्यन्त विश्वस्त कर्मचारी होता था, जो साम्राज्य की विदेशी नीति का निर्धारण करता था। किन देशों पर आक्रमण किया जाय, अधीनस्थ राजाओं व सामन्तों के प्रति क्या व्यवहार किया जाय, ये सब बातें इसी के द्वारा तय होती थीं। इसे 'सन्धिविग्रहाधिकरणाधिकृत' भी कहते थे।

विनय-स्थिति-स्थापकः- मौर्यकाल में जो कार्य धर्म-महापात्र करते थे, वही गुप्त-काल में विनय-स्थिति-स्थापक करते थे। देश में धर्मनीति की स्थापना, जनता के चरित्र का उन्नत रखना और विविध सम्प्रदायों में मेल-जोल रखना इन्हीं अमात्यों का कार्य था।

भांडागाराधिकृतः- यह कोषविभाग का अध्यक्ष होता था।

महाक्षपटलिकः- राज्य के सब आदेशों का रिकार्ड रखना इसके 'अधिकरण' का कार्य था। राजकीय आय-व्यय आदि के सब लेखे भी इसी अमात्य द्वारा रखे जाते थे।

सर्वाध्यक्षः- यह सम्भवतः साम्राज्य के केन्द्रीय कार्यालय का प्रधान अधिकारी होता था।

ध्रुवाधिकरणः- यह राज्य-कर का वसूल करने वाला विभाग था। इस अधिकरण के अधीन निम्नलिखित अधिकारी एवं कर्मचारी होते थेः-

(अ) शाल्किकः- भूमिकर वसूल करने वाले।

(ब) गौल्मिकः- जंगलों से विविध आमदनी प्राप्त करने वाले।

(स) तलवाटक एवं गोप- ग्रामों के विविध कर्मचारी

महाप्रतीहार एवं प्रतीहारः- राजप्रसाद के विशाल विभाग को महाप्रतीहार और प्रतीहार नाम के अनेक कर्मचारी सभालते थे। राजा के व्यक्तिगत सेक्रेटरी को 'रहसि नियुक्त' कहते थे। अन्य अमात्यों और अध्यक्षों के भी अपने-अपने 'रहसि नियुक्त' रहते थे।

4.3.4 प्रान्तीय शासन एवं प्रान्तीय अधिकारी

विशाल गुप्त साम्राज्य अनेक राष्ट्रों या देशों में विभक्त था। साम्राज्य में कुल कितने देश या राष्ट्र थे, उसकी ठीक संख्या ज्ञात नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र में अनेक मुक्तियाँ और प्रत्येक मुक्ति में अनेक विषय होते थे। मुक्ति को वर्तमान समय की कमिश्नरी के समान समझा जा सकता है। गुप्त अभिलेख में कतिपय मुक्तियों के नाम मिलते हैं।

पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का चिरातदत्त

पश्चिमी मालवा का बन्धु वर्मा

अवध का पृथ्वीषेण

सौराष्ट्र का पर्णदत्त

एरण (पूर्वी मालवा) का घटोत्कचगुप्त

तीरमुक्ति का गोविन्द गुप्त

मगध-गया और नालन्दा ताम्रपत्रों से पता चलता है कि मगध भी गुप्त साम्राज्य का एक प्रान्त था।

भुक्ति (प्रान्त) के शासक को 'उपरिक' और 'गोप्ता' कहा जाता था। उपरिक की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी और वह सम्राट के प्रति उत्तरदायी होता था। सीमान्त प्रदेशों के शासक गोप्ता कहलाते थे जिनकी नियुक्ति सम्राट पर्याप्त विचार-विमर्श के उपरान्त किया करते थे। उपरिक के पद पर प्रायः राजकुमार अथवा राजकुल से सम्बन्धित व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जाती थी। कभी-कभी अन्य योग्य व्यक्तियों की भी उपरिक पद पर नियुक्तियां दे दी जाती थी। बन्धुवर्मा, पर्णदत्त, पृथ्वीषेण और चिरातदत्त राजपरिवार से नहीं थे फिर भी उन्हें प्रान्तपति के रूप में नियुक्ति किया गया। उससे विदित होता है कि योग्यता रही है कि नियुक्तियाँ होती थी। कतिपय इतिहासकारों की मान्यता रही है कि नियुक्तियाँ पाँच वर्ष के लिए होती थी, यद्यपि ऐसे अनेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि गवर्नरों की नियुक्तियाँ निश्चित अवधि के लिए नहीं होती थी। उपरिक पद आनुवंशिक होने के प्रमाण भी उपलब्ध हैं, जैसे-पुण्ड्रवर्धन-भुक्ति में कई पीढ़ियों तक 'दत्त' परिवार के उपरिक होते थे।

गोप्ता प्रशासन के साथ-साथ लोकोपकारी कार्य भी किया करते थे। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से पता चलता है कि पर्णदत्त-चक्रपालित ने सुदर्शन झील की मरम्मत कराई थी। राज्यपाल प्रायः 'महाराज' की उपाधि-धारण किया करते थे तथा राजा के प्रति स्वामी भक्ति प्रदर्शित करने हेतु 'तत्पादानुध्यात' कहलाते थे। राज्यपाल की सहायता के लिए सभा भी होती थी।

4.3.5 जिला प्रशासन एवं विषयाधिकारी

प्रत्येक भुक्ति अनेक विषयों में विभक्त होता था। प्रयाग-प्रशस्ति में हरिषेण ने विषय-भुक्ति का उल्लेख किया है। विषय आधुनिक काल के जिले के समान होता था। विषय का सर्वोच्च अधिकारी विषयपति (जिलाधिकारी) कहलाता था। विषयपति की नियुक्ति कभी सम्राट और कभी उपरिक (राज्यपाल) द्वारा होती थी। इन्दौर ताम्रपात्र से अन्तर्वेदी (गंगा-यमुना का दोआब) के विषयपति सर्त्वनाग का ज्ञान होता है। यहीं बुधगप्त के समय सुरश्मिचन्द्र विषयपति बना।

वैन्यगुप्त के समय पूर्वी बंगाल में विजयसेन विषयपति था। बांग्लादेश से प्राप्त ताम्रपत्रों से जिला (विषय) प्रशासक की रूपरेखा सुनिश्चित होती है। विषयपति की सहायता के लिए एक विषय-परिषद होती थी जिसके सदस्य महत्तर कहलाते थे। यद्यपि फरीदपुर के एक ताम्रपत्र में इनकी संख्या बीस बताई गयी है। परन्तु अधिकांश ताम्रपत्रों में विषय-समिति के निम्नलिखित 4 कर्मचारियों के नाम मिलते हैं-

- नगर-श्रेष्ठीः- यह नगर के साहूकारों और उद्योगपतियों का प्रतिनिधि था।
- सार्थवाह- यह व्यवसायियों का प्रतिनिधि था।
- प्रथम कुलिक- यह शिल्पकारों का प्रतिनिधि था।
- प्रथम कायस्थ- यह लिपिकों और आलेखकों का प्रधान था।

विषय के शासक कुमारामात्यों (विषयपतियों) का गुप्त-साम्राज्य के शासन में बड़ा महत्व था। अपने विषय (जिले) की सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था के लिए अनेक कर्मचारी रहते थे, जिन्हें युक्त, आयुक्त, नियुक्त आदि अनेक नामों से कहा जाता था। मौर्यकाल में भी जिले के इन कर्मचारियों को 'युक्त' ही कहते थे। गुप्तकाल में बड़े पदाधिकारियों के नाम बदल गये थे, परन्तु छोटे राजपुरूषों के अब भी वही नाम थे, जो कम से कम सात सदियों से भारत में प्रयुक्त होते आ रहे थे। विषयपति के अधीन दण्डपाशिक (पुलिस के कर्मचारी) चोरोद्धरणिक (खुफिया पुलिस), आरक्षाधिकृत (जनता के रक्षार्थ नियुक्त कर्मचारी) और दण्डनायक (जिले की सेना के अधिकारी) रहते थे।

4.3.6 नगर प्रशासन

गुप्तकाल में पाटलिपुत्र, ताम्रलिप्ति, मथुरा, तक्षशिला, उज्जयिनी, दशपुर, भृगुकच्छ, वाराणसी आदि अनेकानेक बड़े नगरों का विकास हो चुका था। नगरो की व्यवस्था के लिए नगर-पालिकाऐं थीं। नगर को 'पुर' भी कहा जाता था। नगरपालिका का उपाध्यक्ष (मेयर) 'पुरपाल' कहलाता था। इतिहासकारों की मान्यता है कि 'पुरपालों' की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती थी। गिरनार के पुरपाल चक्रपालित का नाम स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में मिलता है। चक्रपालित सौराष्ट्र के गोप्ता पर्णदत्त का पुत्र था। इसी ने सुदर्शन झील की मरम्मत कराई थी उस पर एक विष्णु-मन्दिर का निर्माण कराया था। इससे पता चलता है कि नगर-पालिकाऐं नगर में शान्ति की स्थापना, सभागृह, सरोवर, मन्दिर बनवाना तथा अन्य सार्वजनिक कार्यो को करवाना था।

नगर के प्रशासन में व्यवसायियों के संगठनों की अच्छी साझेदारी रहती थी। वैशाली से प्राप्त सीलों से पता चलता है कि शिल्पी, वणिक और लिपिक एक ही सामूहिक संस्था में काम करते थे और इस हैसियत से वे स्पष्टतः नगर के कार्यो का संचालन करते थे। उत्तरी बंगाल (बांग्लादेश) के कोटिवर्ष जिले की प्रशासनिक परिषद में मुख्यवणिक, मुख्य व्यापारी और मुख्य शिल्पी शामिल थे।

भूमि के अनुदान या खरीद-बिक्री में उनकी सम्मति आवश्यक समझी जाती थी। शिल्पियों और बैंकरों के अपने अलग-अलग संगठन-'श्रेणिया' थे। भीटा और वैशाली के शिल्पियों और वणिकों की अलग-अलग श्रेणियाँ थी। मालवा के मंदसौर और इंदौर में रेशम बुनकरों की अपनी खास श्रेणी थी। पश्चिमी और प्रदेश में बुन्देलशहर

जिले में तेलियों की अपनी अलग श्रेणियों, विशेषतः वणिकों की श्रेणियों को कई खास छूटों की सुविधा दी गई थी हर हालत में ये श्रेणियाँ अपने सदस्यों के मामले देखती थीं और श्रेणी के नियम, कानून और परम्परा का उल्लंघन करने वाले को सजा दे सकती थीं।

4.3.7 ग्राम प्रशासन

गुप्तकाल में ग्रामीण प्रशासन भी सुसंगठित था। वीभि से छोटी इकाई पेठ थी। पेठ अनेक ग्रामों के समूह को कहा जाता था। सबसे छोटी इकाई गाँव थी। ग्रामपति या ग्रामिक महत्तर, अष्टकुलाधिकारी, कुटुम्बी, तलवारक इत्यादि अधिकारियों की सहायता से गाँवों की व्यवस्था देखता था। दामोदर ताम्रपत्र सं0 03 में इन ग्राम-अधिकारियों का उल्लेख मिलता है।

ग्राम-पंचायत के कार्य को सुचारू रूप से चलाने के लिए महत्तर को स्थानीय जनता पर कर लगाने का भी अधिकार था। जो व्यक्ति 3 वर्ष तक लगातार राजस्व अदा न करे उसकी भूमि को ग्राम पंचायत को बेचने का अधिकार था। इस बेची हुई भूमि का एक भाग राजकोष में जाता था तथा शेष भाग ग्राम पंचायत को मिल जाता था। ग्राम-पंचायत अपनी आमदनी का ठीक-ठीक हिसाब रखती थी। एक सरकारी पदाधिकारी इसका निरीक्षण करता था। ग्राम-पंचायत इस धन को सार्वजनिक कार्यो में व्यय करती थी। ग्राम-पंचायत ग्राम के वृद्धों की सहायता में कृषकों के खेतों के सीमा-सम्बन्धी विवादों का निर्णय करती थी।

4 .4 सैन्य-संगठन

गुप्तकाल में सैन्य-संगठन का व्यापक विकास हुआ था, इस काल में सेना विशाल एवं सुसंगठित थी। गुप्त-शासकों ने अपने सैन्य-शक्ति के आधार पर ही एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। राजा सेना का सर्वोच्च अधिकारी होता था व युद्ध में सेनापति के रूप में सेना का संचालन एवं नेतृत्व करता था। राजा के अधिक वृद्ध होने पर युवराज सेना का संचालन करता था। सेना का सर्वोच्च अधिकारी 'महाबलाधिकृत' था। इसे 'महादण्डनायक' एवं महासेनापति भी कहा जाता था। महादण्डनायक के अतिरिक्त अनेक उपसेनापति भी होते थे। सेना के सामान की व्यवस्था रखने वाला पदाधिकारी रणभाण्डागारिक कहलाता था गुप्त सेना 4 प्रकार की थी- (1) हस्ति (2) अश्व (3) रथ और (4) पदाति। हाथियों के नायक को महापीलुपति तथा घुड़सवारी के नायक को 'भटाश्वपति' कहा जाता था। सेना की छोटी टुकड़ी के नेता का 'चमूप' कहते थे। मंत्रियों के लिए भी सैनिक दृष्टि से योग्य होना आवश्यक था। गुप्तकाल में रथ सेना को विशेष महत्व नहीं दिया जाता था। प्रयाग प्रशस्ति में गुप्तकालीन कतिपय अस्त्र-शस्त्रों के नाम इस प्रकार मिलते हैं- परशु, शर, शंकु, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच इत्यादि।

4.5 पुलिस व्यवस्था

इस समय देश में आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा के लिए पुलिस विभाग था। इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी 'दण्डपाशिक' होता था। इतिहासकार ए0 एस0 अल्तेकर ने दण्डपाशिक की तुलना आधुनिक पुलिस-अधीक्षक से की है। पुलिस विभाग के साधारण कर्मचारियों को 'चाट','भाट' अथवा 'रक्षिन' कहा जाता था। पुलिस की

सहायता के लिए गुप्तचर भी होते थे। गुप्तचर विभाग के कर्मचारियों को 'दूत' कहा जाता था। चीनी यात्री फाहियान के विवरण से पता चलता है कि 'भारत में अपराध बहुत कम होते थे एवं चोरी डकैती का भय भी नहीं रहता था। फाहियान ने स्वयं हजारों मील की यात्रा की थी किन्तु उसे कहीं चोर-डाकुओं का सामना नहीं करना पड़ता था। गुप्तकाल में पुलिस विभाग अत्यन्त सक्षम था। महाकवि कालीदास ने भी गुप्तकालीन शान्ति एवं सुरक्षा की प्रशन्सा की है।

4.6 न्याय प्रशासन

गुप्तकालीन न्याय प्रशासन का उल्लेख अभिलेखों में तो नहीं मिलता है किन्तु तत्कालीन नारद एवं वृहस्पति स्मृतियों से पता चलता है इस काल में न्याय-प्रशासन का विकास हो चुका था। गुप्तकालीन स्मृतिकारों ने प्रथम बार दीवानी तथा फौजदारी अपराधों से सम्बन्धित कानूनों की विस्तृत व्याख्या की गयी। उत्तराधिकार सम्बन्धी स्पष्ट एवं विषद कानूनों का निर्माण किया गया राजा देश का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। वह सभी प्रकार के मामलों की सुनवाई की अन्तिम अदालत था। राजा के अतिरिक्त एक मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य अनेक न्यायाधीश होते थे जो साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्थित अनेक न्यायालयों में न्याय-सम्बन्धी, कार्यो को देखते थे। गुप्त-अभिलेखों में न्यायाधीशों को दण्डनायक, महादण्डनायक, सर्वदण्डनायक तथा महासर्वदण्डनायक कहा गया है। फाहियान अपने यात्रा-वृतान्त में लिखता है कि ''व्यवहार की पढ़ी-लिखी एवं पंच पंचायत कुछ भी नहीं है। राजा न तो प्राणदण्ड देता है और न ही शारीरिक दण्ड ही देता है। अपराधी को उत्तम अथवा मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है। अपराध की पुनरावृत्ति करने पर दाहिना हाथ काट दिया जाता है।'' इससे तत्कालीन दण्ड-विधान की नरमी का पता चलता है।

वृहस्पति स्मृति धन-मूल और हिंसा मूल विवादों का वर्णन करती है। धन-मूल दीवानी विवाद थे और हिंसा मूल फौजदारी। वृहस्पति स्मृति में ही न्यायालय की चार कोटियॉ बताई गई हैं- 1- शासित 2-मुद्रित 3-प्रतिश्ठित और 4-अप्रतिश्ठित।

शासित न्यायालय में राजा न्याय करता था। मुद्रित न्यायालय का न्यायाधीश प्राड्विवाक होता था जो राजकीय मुद्रा का प्रयोग करता था। प्रतिश्ठित न्यायालय विशेश विवादों को निपटाने के लिए राजाज्ञा से सत्यापित किये जाते थे। अप्रतिष्ठित न्यायालय पूग(जातियों)और कुल(परिवारों) के न्यायालय थे। इनके अधिकार अर्थदण्ड और चेतावनी तक सीमित थे। शासित और मुद्रित न्यायालयों को ही मृत्यु-दण्ड और कारावास देने का अधिकार था। नारद स्मृति में न्याय-प्रक्रिया का विस्तृत विवरण दिया गया है। इसमें साक्षी की नियुक्ति, व्यवहार एवं सत्यापन के विशय में अनेक निर्देश हैं। न्याय-प्रक्रिया को लेखबद्ध किया जाता था और अभियुक्त को ऊपरी न्यायालय में आवेदन करने का अधिकार था। स्मृतियों में जल-परीक्षा, अग्नि-परीक्षा, विश-परीक्षा और तुला परीक्षा द्वारा अभियुक्त को अपनी निरापराधिता सिद्ध करने की बात कही गयी है। लेकिन इस बात के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि व्यवहारिक रूप से इन परीक्षाओं का प्रयोग होता था। जूनागढ़ अभिलेख में पुलिस द्वारा उत्पीड़न के प्रमाण हैं। गुप्तकालीन दण्ड विधान में मौर्ययुगीन दण्डविधान यथा-मृत्यु-दण्ड, अंगच्छेद आदि के उदाहरण नगण्य हैं। शूद्रक के

'मृच्छकटिक' में मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था थी। लेकिन अभियुक्त चारूदत्त को उससे मुक्त कर दिया गया। यह इस बात का प्रमाण है कि मृत्युदण्ड नहीं दिया जाता था। गुप्तकाल में समाज अपराध मुक्त एवं भयमुक्त था। तभी तो स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में कहा गया है कि उस राजा के शासनकाल में कोई भी व्यक्ति धर्मच्युत, आर्त्त, दरिद्र, व्यसनी, कदर्य, दण्डनीय और पुलिस द्वारा उत्पीड़ित नहीं था।

व्यापारियों तथा व्यवसायियों की श्रेणियों के अपने अलग न्यायालय होते थे जो अपने सदस्यों के विवादों का निपटारा करते थे। स्मृति ग्रंथों में 'पूग' तथा 'कुल' नामक संस्थाओं का भी उल्लेख मिलता है जो अपने सदस्यों के विवादों का फैसला करती थी। 'पूग' नगर में रहने वाली विभिन्न जातियों की समिति होती थी जबकि 'कुल' समान परिवार के सदस्यों की समिति थी। इन सभी को राज्य की ओर से मान्यता मिली हुई थी। ग्रामों में न्याय का कार्य ग्राम-पंचायतें किया करती थी। पेशेवर वकीलों का अस्तित्व नहीं था।

4.7 राजस्व प्रशासन

गुप्तकाल में राज्य की आय का मुख्य स्रोत भूराजस्व था। इस काल के विधिवेत्ताओं ने किसानों के हितों का ध्यान रखते हुए, व्यवस्था दी कि 'प्रजा से उतना ही कर लेना चाहिए जितना जन सरलता से दे सके और उसके पास अगले उत्पादन के लिए पर्याप्त धन बचा रहे।' कामन्दक नीतिसार में कामन्दक ने इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए एक माली और ग्वाले की उपमा दी है जैसे माली फूल के पौधों में पानी देता है। फिर फूल तोड़ता है, जिस प्रकार ग्वाला गायों की सेवा करता है फिर उनका दूध निकालता है, उसी प्रकार राजा को प्रजा की रक्षा और सहायता करनी चाहिए। महाकवि कालीदास ने भी इसी प्रकार विचार व्यक्त किया है कि राजा प्रजा की भलाई के लिए ही प्रजा से कर वसूल करता है। नारद स्मृति ने करों को राजा द्वारा प्रजा को दिए जाने वाले संरक्षण का प्रतिदान माना है। आधुनिक यूरोपिय विद्वानों एडमस्मिथ एवं जॉन स्टुअर्ट मिल ने गुप्तकालीन लेखकों कामन्दक एवं कालीदास के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया है। अर्थशास्त्र के जनक एडमस्मिथ ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि प्रत्येक नागरिक को करों के रूप में राज्य को उस अनुपात में धन देना चाहिए जितना वह राज्य का संरक्षण पाने के कारण कमाता है।

गुप्तकालीन विधिवेत्ताओं ने उपज का छठा भाग कर के रूप् में राज्य को देने की व्यवस्था दी है। कालीदास ने राजा के उपज के छइें भाग को उसकी वृत्ति निर्वाह का साधन कहा है। तपस्वियों से उनकी तपस्या के पुण्य का छठा भाग ही राजा का कर समझा जाता था। नारद स्मृति में उल्लेख है कि राजा प्रजा की रक्षा करने के लिए पारिश्रमिक के रूप् में ही उपज का छठा भाग भू राजस्व के रूप् में लेता था। गुप्तकालीन अभिलेखों से भी इस बात की पुश्टि होती है कि राजा साधारणतया उपज का छठा भाग भू-राजस्व के रूप् में लेता था। वृहस्पति स्मृति के अनुसार राजा को भूमि की उपज के अनुसार अलग-अलग भू-राजस्व लेना चाहिए। वृहस्पति ने लिखा है कि राजा को परती भूमि से 1/10 भाग, वर्शा जल से सींची जाने वाले भूमि से 1/8 भाग और जो फसल वसन्त ऋतु में काटी जाती है उनसे 1/6 भाग लेना चाहिए। वृहस्पति स्मृति के इस विवरण से पता चलता है कि भू राजस्व के लिए भूमि की उर्वरता तथा प्रयोग के आधार पर वर्गीकरण किया गया था। नाल (खेतिहर भूमि), खिल (परती), वास्तु (जहॉ मकान बनाये

जायें)। अप्रहत(बिना जोती हुई भूमि), अप्रदा(जिससे शासन को कोई आय नहीं होती थी), गोचर तथा वन्य आदि भूमि की श्रेणियॉं थी।

अमर सिंह ने अमरकोश में भूमि के बारह प्रकार गिनाये हैं- उर्वरा, ऊसर, मरू (रेगिस्तानी) अप्रहत (बंजर), शादूवल (गोचर) पंकिल (कीचड़ से भरी हुई), जलप्रायमनुपम् (जलयुक्त), कच्छ (कछारी), शर्करा (बंजरी कंकडयुक्त), शर्कावती (रेतीली), नदीमातृक (नदी द्वारा सिंचित) तथा देवमातृक(वर्शा द्वारा सिंचित)। अभिलेखों में 'क्षेत्र' का प्रयोग 'खेत' के अर्थ में हुआ है।

राज्य की आय के स्रोतः- प्रमुख राजकीय कर- कामन्दक नीतिसार में राज्य की आय के आठ स्रोत बताए गए हैं-कृशि, वणिक-पथ, दुर्ग, सेतु, कुज्जर-बन्धन, खाने, इमारती लकड़ी तथा शून्य स्थानों का उपनिवेशन। श्रीराम गोयल के विचारानुसार दुर्ग और हाथियों का इस सूची में परिगणन सम्भवतः इसलिए किया गया है क्योंकि इनके कारण व्यापारियों में विश्वास पैदा हुआ था, जिससे वे अधिकाधिक व्यापार कर राज्य को समृद्ध बनाते थे। गुप्त अभिलेखों से विदित होता है कि राज्य की आय का प्रमुख स्रोत विविध प्रकार के भूमि कर थे-

1-भागः- खेती में प्रयुक्त होने वाली जमीन से पैदावार का निष्चित भाग राज्यकर के रूप् में लिया जाता था। यह मानकर प्रायः पैदावार (अनाज) के रूप् में लिया जाता था। यदि वर्शा नहीं हुई हो या कोई अन्य प्राकृतिक कारण से उपज कम हुई हो तो यह कर स्वतः कम हो जाता था। क्योंकि किसानों को पैदा हुए अन्न का निष्चित हिस्सा ही मालगुजारी के रूप में देना होता था। मनुस्मृति में 'भाग' कर की मात्रा भूमि की उर्वरता के अनुसार उपज का 1/6, 1/8, या 1/2 भाग का उल्लेख मिलता है। गुप्तकालीन विद्वानों-कालीदास ने रघुवंश में तथा नारद ने नारद स्मृति में भाग कर 1/5 भाग लिए जाने का उल्लेख किया है। गुप्तोत्तर कालीन विधिवेत्ता शुक्र ने अपने शुक्रनीतिसार में सिंचाई की सुविधा के अनुसार 1/6, 1/3, 1/4 या 1/2 भाग उपज का भागकर के रूप् में लिए जाने का उल्लेख किया है। गुप्तकालीन अभिलेखों में भागकर की मात्रा अनुल्लिखित है लेकिन वे ग्राम एवं पहाड़पुर-दानपत्रों में राजा को भूमि दान से मिलने वाले 1/6 भाग का उल्लेख मिलता है। यह कर गुप्तकाल में खाद्यान्न के रूप् में लिया जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'भाग' शब्द का प्रयोग कुछ अन्य करों के नाम के साथ राजा का हिस्सा बताने के लिए किया गया है जैसे उदक भाग, लवणभाग आदि। गुप्त अभिलेखों में 'भाग' शब्द प्रायः 'भोग' और 'कर' के साथ संयुक्त मिलता है ('भागभोगकर' अथवा 'भोगभाग कर')।

2-भोगः-दिनेश चन्द्र सरकार की मान्यता रही है कि भोग का अर्थ वे फल, फूल, दूध, ईधन आदि थे, जो प्रजा समय-समय पर राजा को देती थी। मनुस्मृति में 'भोग' एक कर के नाम के रूप् में उल्लेखित है। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि और कुल्लूक ने भी 'भोग' का अर्थ फल-फूल, सब्जी, घास इत्यादि के रूप् में नित्य दी जाने वाली भेंट ही माना है। कतिपय इतिहासकारों का मानना है कि मौर्यकाल में जिस चुंगी को शुल्क संज्ञा से कहा जाता था, उसी को गुप्तकाल में भोगकर कहते थे। भट्ट स्वामी ने उल्लेख किया है कि उपज के छठे भाग में वे सब दरें अर्थात् 1/3 या 1/4 आदि भी आ जाती हैं जो भूराजस्व के रूप् में राजा देश के विभिन्न भागों में किसानों से लेता था।

3- करः-'कर' शब्द करों के लिए सामान्य शब्द भी था और एक विशेश कर का नाम भी। एक विशिश्ट कर के रूप में इसका अर्थ विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग माना है। मनुस्मृति के टीकाकारों ने कर के निम्नलिखित अर्थ दिए हैं-

1-मेधातिथि ने 'कर' को वस्तुओं की भेंट माना है।

2-सर्वज्ञनारायण ने 'कर' को भूमि पर नकद कर के रूप् में उल्लेख किया है।

3-रामचन्द्र ने उल्लेख किया है कि 'घास', ईधन इत्यादि के रूप् में जो कर दिया जाता था वह 'कर' था।

4-कुल्लूक ने गॉव और नगर के निवासियों से भाद्रपद एवं पौश माह में लिया जाने वाला कर माना है।

5-जबकि रघुनन्दन ने इसे ग्रामवासियों से प्रति मास लिया जाने वाला कर माना है।

उपर्युक्त अर्थों से स्पष्ट है कि निश्चित समय पर लिया जाने वाला टैक्स 'कर' कहलाता था। रूद्रदामन के जुनागढ़ अभिलेख से पता चलता है कि यह कर विष्टि (बेगार) तथा प्रणय (आपातकालीन कर) के समान एक अनुचित कर था जिसको वसूल करना रूद्रदामन प्रजा के लिए कष्टकर समझता था। दिनेशचन्द्र सरकार के मतानुसार अनाज के हिस्से के अतिरिक्त जो टैक्स किसानों को देना होता था उसे 'कर' कहते थे। गुप्तकालीन साहित्य तथा अभिलेखों में 'कर' सभी टैक्सों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अनुदान लेखों में 'सर्वकर परिहारे' या 'सर्व करसमेत' शब्दावली प्रयुक्त हुई है उसमें 'कर' का अर्थ स्पष्टतः सभी टैक्स है।

4- 'बलि'- गुप्तकाल में अन्य करों में सर्वप्रथम 'बलि' का उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद में यह प्रजा तथा विजित राजाओं से लिया जाने वाला एक ऐच्छिक कर था। जातकों में इस कर का उल्लेख एक अतिरिक्त कर के रूप में मिलता है। अशोक के रूम्मिनदेई स्तम्भ लेख में भी 'बलि' का उल्लेख मिलता है जिसे कतिपय विद्वानों ने 'धार्मिक कर' माना है। बलि का अर्थ धार्मिक कर गुप्तकालीन अभिलेखों में उसके प्रयोग के अनुरूप् है। एस0 के0 मैती के अनुसार 'चरू' और 'सत्र' आदि के साथ उल्लिखित होने के कारण गुप्तकालीन लेखों में भी यह धार्मिक शुल्क के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। 'बलि' में घी, अनाज, चावल, फल, फूल आदि देवताओं को अर्पित किये जाते थे। इसका अर्थ राजा को दिए जाने वाला धार्मिक कर किया जा सकता है।

5- उपरिकर और उद्रंगः- इस काल के अभिलेखों में 'उपरिकर' तथा 'उद्रंग' का भी प्रयोग मिलता है। यू0 एन0 घोशाल के अनुसार 'उद्रंग' स्थायी किसानों से तथा उपरिकर अस्थायी किसानों से वसूल किया जाता था, किन्तु अधिकतर विद्वानों ने घोषाल के इस मत से असहमति जताई है। दिनेश चन्द्र सरकार ने उपरिकर का अर्थ अतिरिक्त टैक्स किया है। सतीश कुमार मैती डी. सी. सरकार के विचार से सहमत हैं। लेकिन मैती के अनुसार उद्रंग पुलिस टैक्स भी हो सकता है जो स्थानीय पुलिस के खर्च के लिए प्रजा से लिया जाता था। राजतंरगिणी में द्रंग पुलिस चौकी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसी आधार पर मैती ने 'उद्रंग' का अर्थ पुलिस टैक्स किया है।

6- हिरण्यः- गुप्तकाल से पूर्व की स्मृतियों एवं गुप्तकालीन कई अभिलेखों में 'हिरण्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है। विष्णु स्मृति के अनुसार राजा को वस्तु के मूल्य का 1-50 भाग हिरण्य के रूप् में लेना चाहिए। वाकाटक अभिलेखों में अनुदान-ग्राहियों को 'हिरण्य' से मुक्त किया गया है। इससे पता चलता है कि हिरण्य राज्य की आय के प्रमुख

साधनों में से एक था। डी.सी. सरकार ने हिरण्य का अर्थ वह कर किया है जो नकद कर राज्य को दिया जाता था। यू0 एन. घोषाल के अनुसार हिरण्य वह टैक्स था जो विशेश प्रकार की फसलों पर नकद लिया जाता था।

7- वात-भूत करः- धरसेन द्वितीय के मालिय ताम्रलेख में वात-भूत शब्द आया है। विद्वानों की मान्यता रही है कि सम्भवतः वायु और पानी के देवताओं की पूजा के लिए यह कर इकट्ठा किया जाता होगा।

8- हलिकाकरः- शर्वनाथ के खोह ताम्रपत्र लेख में हलिकाकर शब्द आता है। यू0 एन0 घोषाल के अनुसार यह कर हलों पर था।

9- शुल्कः- अमरकोश में चुंगी कर के लिए शुल्क दिया है। प्रवरसेन द्वितीय के सिवानी अभिलेख में भी शुल्क का उल्लेख है। स्कन्दगुप्त के बिहार अभिलेख में शुल्क इकट्ठा करने वाले अधिकारी शौल्किक का उल्लेख है। यू0एन0 घोषाल के मतानुसार व्यापारियों पर लगाया जाने वाला कर शुल्क कहलाता था। एस. के. मैती के अनुसार नगर में बन्दरगाहों पर व्यापारियों द्वारा लाई वस्तुओं पर लगाया जाने वाला कर शुल्क कहलाता था।

उपरोक्त वर्णित करों के अतिरिक्त राज्य को जखीरों, खानों और नमक की खुदाई से भी बहुत आय होती थी। राज्य को जुर्माने से भी आय होती थी। नारद और वृहस्पति ने किन अपराधों में राज्य को कितना जुर्माना लेना चाहिए उसका विस्तृत विवेचन किया है। गुप्तकालीन अभिलेख भी इसकी पुष्टि करते हैं।

गुप्तशासन व्यवस्था के दौरान विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति तीव्र हुई। एक तरफ राजा का पद ज्यादा गौरवमय बन गया, तो दूसरी तरफ उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। गुप्तशासकों के अधीनस्थ शासक और सामन्त ज्यादा शक्तिशाली हो गए। इनको राजा के अनेक अधिकार (यथा-शासन करने का, सेना रखने का, सिक्का एवं मुद्रा जारी करने का) स्वतः प्राप्त हो गए। प्रो0 रामशरण शर्मा के अनुसार कुल मिलाकर गुप्तशासन-प्रणाली में हमें सामन्तवाद की स्पष्ट विशेषताएँ दिखाई देती हैं। वस्तुतः गुप्तशासन प्रणाली ने परवर्तीकाल के उस प्रशासनिक ढाँचे की नींव तैयार कर दी जो पूर्णतः सामन्तवादी था।

4.8 कला

गुप्तकाल को भारतीय इतिहास इतिहास में कला और साहित्य की दृष्टि से स्वर्णकाल पुकारा गया है। यह काल अपनी क्लासिकल या शास्त्रीय शैली के लिए जाना जाता है। इस काल के कला तथा साहित्य में सौंदर्यबोध का आदर्श रूप नज़र आता है और अध्यात्म तथा इंद्रीयनिष्ठ सुख के बीच एक अद्वितीय संतुलन दिखलायी पड़ता है। प्रस्तरीय मूर्ति कला और टेराकोटा कला गुप्त साम्राज्य के संपूर्ण क्षेत्र में उच्च कोटि की समरूपता को प्रदर्शित करती है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जब हम गुप्त कला का पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयोग करते हैं, तो इससे इस काल की कला की मीमांसा की जाती है, तो उसमें सम्मिलित प्रतिमाओं के सभी उदाहरण साम्राज्यवादी गुप्तों के राज्यक्षेत्र के भीतर के ही नहीं होते। वॉल्टर स्पिंक का कहना है कि वाकाटकों को हम गुप्तों की अपेक्षा काफी कम तरजीह देते रहे हैं, जबकि अजन्ता, बाघ, धारशिव, घटोत्कच्छ, बनोती, और औरंगाबाद की गुफाओं की

कलाएँ इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वाकाटक शासक ही वास्तव में इस तथाकथित स्वर्ण युग के अंतिम और सर्वाधिक प्रबल प्रवर्तक और संरक्षक थे। स्पिंक ने अजंता की उत्कृष्ट गुफा कलाओं के लिए वाकाटक शासक हरिषेण (460-77 ईसवी) के काल को कलात्मक अभिव्यक्ति की एक अत्यंत सशक्त और प्रेरणादायक अवधि बतलाया है। कला के अंतर्गत हम स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला का अध्ययन करेंगे।

42.8.1 स्थापत्य

यह काल स्थापत्य में, विशेषकर मंदिर स्थापत्य में एक नई आधारशिला रखने के लिए जाना जाता है। इस समय से संरचनागत मंदिरों का अस्तित्व देखने को मिलता है। अब इनकी अवस्था काफी जीर्ण-शीर्ण हो चुकी है। तिगवा का विष्णु मंदिर, भूमरा और खोह के शिव मंदिर, नचना-कुठारा का पार्वती मंदिर और साँची के बौद्ध स्तूप सभी पत्थरों से बने हैं। मध्य भारत के बाहर बिहार के बोधगया में बोधि मंदिर और झांसी जिला (उत्तर प्रदेश) के देवगढ़ का दशावतार मंदिर भी इसी काल का है। असम में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे दह पर्वतिया नामक स्थान पर एक मंदिर के अवशेष मिले हैं। इन पत्थर के बने मंदिरों के साथ-साथ ईंट से बने मंदिर भी इस काल में बड़ी संख्या में बनाए गए। इनमें से प्रमुख भीतर गाँव (कानपुर जिला, उत्तर प्रदेश), पहाड़पुर (राजशाही जिला, बंगलादेश) और सिरपुर (रायपुर जिला, छतीसगढ़) में अवस्थित हैं।

इस काल के प्रारंभिक दौर के बने मंदिर काफी छोटे-छोटे बनाए गए थे। 10×10 फीट का वर्गाकार गर्भ गृह होता था, जिसमें मुश्किल से प्रतिमा रखी जा सकती थी। द्वारमंडप भी छोटा होता था और छत समतल होता था। मंदिर की योजना तो साधारण थी, किंतु मंदिरों के प्रवेश द्वारा अधिकांशतः अत्यंत जटिल अलंकार वाले होते थे। बाद में, पांचवीं और छठी शताब्दियों से मंदिरों की संरचनाओं से मंदिरों की संरचना में हुए परिवर्तनों को महसूस किया जा सकता है। अब मंदिरों के कुरसी थोड़े ऊंचे बनाए जाने लगे थे, और मंदिरों में शिखर भी बनाए जाने लगे थे। देवगढ़ के दशावतार मंदिर और भीतरगाँव के मंदिर के शिखर वक्ररेखीय कहे जा सकते हैं। शिखरयुक्त मंदिरों के ये प्रारंभिक उदाहरण हैं।

इस काल में जो बौद्ध स्तूप, चैत्य और विहार बनाए गए, उनके प्रमुख उदाहरण जौलिया, चारसद्दा तथा गंधार के तक्षशिला में पाए जाते हैं। पूर्वी भारत में सारनाथ के धामेख स्तूप को इस काल में विस्तार दिया गया। इस काल का गुफा स्थापत्य पूर्ण रूप से बौद्ध स्थापत्य कहा जा सकता है। इसके केवल कुछ अपवाद हैं। उदाहरण के लिए, उदयगिरि में एक ब्राह्मण परंपरा की गुफा में एक अभिलेख है जो चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल का है। यह गुफा आंशिक रूप से पत्थरों से बनाई गई है, किंतु अधिकांशतः इन्हें गुफा के पत्थरों को काट कर बनाया गया है। इसके अग्रभाग में स्तंभयुक्त द्वार मंडप है और प्रवेश द्वार में नक्काशी है। स्तंभों पर पूर्ण घट वाले स्तंभशीर्ष देखे जा सकते है। एलिफेंटा की गुफाएँ भी काफी प्रसिद्ध हैं, जिनमें सबसे विशाल प्रतिमा शिव की है।

गुफाओं को काटकर बनाए गए स्थापत्य में इस काल से अजंता और बाघ की गुफाएँ सबसे प्रसिद्ध कही जा सकते हैं। कुल मिलाकर अजंता में 28 गुफाएँ हैं। अजंता की गुफाओं में 23 गुफाएँ वाकाटक काल में बनाई गई थीं। इनमें से गुफा संख्या 19 और गुफा संख्या 26 चैत्य थे। अन्य सभी गुफाएँ विहार थीं। गुफा संख्या 19 का अग्र भाग विस्तृत रूप से अलंकृत किया गया है, जिस पर अनेक उपादानों के साथ बुद्ध की प्रतिमाएँ और उनके अनुयायियों को दिखलाया गया है। यह आयताकार हॉल खम्भों से बँटा हुआ है तथा इन खम्भों पर प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। भीतरी हिस्से के ऊपरी भाग पर बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ उद्धृत है, निश्चित रूप से इनके अभ्यंतर को कई रंगों से रंगा गया होगा।

गुफा संख्या 26 कुछ बाद के काल की है। प्रतिमावली की दृष्टि से यह अधिक उत्कृष्ट है। इसमें एक विशाल स्तूप है, जिसमें बुद्ध का एक अद्भुत भित्ति चित्र है। बैठे हुए इस बुद्ध के पैर नीचे लटके हुए हैं। इस गुफा की भीतरी दीवारों में विस्तृत उद्धृत भित्ति चित्र देखे जा सकते हैं। इसमें सात मीटर लेटे हुए बुद्ध की प्रतिमा दर्शनीय है, जो गुफा के बायीं दीवार पर अवस्थित है। यह बुद्ध के परिनिर्वाण का दृश्य है, जिसके चारों ओर अनुयायी विलाप कर रहे हैं।

4.8.2 चित्रकला

अजंता की उत्कृष्ट प्रतिमाओं के साथ-साथ यहां की भित्ति चित्रकला संपूर्ण गुफा स्थापत्य को चार-चांद लगा देती है। अजंता की गुफाओं की दीवारें, छत, चौखट, दरवाजे और स्तंभ सभी पर भित्ति चित्र भी बने हुए हैं। मूल रूप से अजंता की प्रायः सभी गुफाओं में भित्ति चित्र बने थे, किंतु आज केवल गुफा संख्या 1, 2, 9, 10, 16 और 17, इन छह गुफाओं में भित्ति चित्र के अवशेष देखे जा सकते हैं। इनमें से गुफा संख्या 9 और 10 के भित्ति चित्र दूसरी/पहली शताब्दी ईसापूर्व के प्रतीत होते हैं। भित्ति चित्र निर्माण का दूसरा चरण वाकाटक काल का है। भित्ति काल के इस प्रकार को फ्रेस्को (भित्ति चित्रण) कहा जाता है। मिट्टी के एक मोटे स्तर को वनस्पति सामग्रियों के साथ मिलाकर गुफा की चट्टानों की सतह पर लेप किया जाता था। इस लेप के ऊपर पतला प्लास्टर भी चढ़ाया जाता था। इस प्रकार तैयार सतह पर चित्र बनाए गए हैं। इन पर प्रयोग होने वाले रंग में गोंद भी मिलाया जाता था। कलाकारों के द्वारा पशुओं के बाल से बने ब्रशों का प्रयोग किया जाता था। इनमें छह प्रकार के रंगों का प्रयोग हुआ है-चूना, काओलिन और जिप्सम से सफेद रंग, लाल तथा पीला रंग पांडुर से; काला रंग कजली से; हरा रंग ग्लौकोनाइट नामक एक खनिज से तथा नीला रंग लापिस लजुली या लाजवर्द से बनाया जाता था।

बुद्ध, बोद्धिसत्व और जातक कथाओं के दृश्यांकन के साथ-साथ अजंता के चित्रों में यक्ष, गंधर्व और अप्सराओं को भी चित्रित किया गया है। इन पौराणिक चित्रों के साथ-साथ शहरों और गाँवों के दिनचर्या से जुड़े दृश्यों को भी बनाया गया है। प्रकृति के विषय में कलाकारों की गंभीर और सहानुभूतिपूर्ण समझ परिलक्षित होती है। वृक्षों, पुष्पों और हाथी, बंदर, हिरण, खरहे जैसे पशुओं के चित्रांकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलंकारों की विविधता भी देखने में बनती है।

4.8.3 मूर्तिकला

इस पूरे दौर में बनायी गई मूर्तियों की प्रेरणा हिंदू, बौद्ध और जैन परंपराओं से प्राप्त की गई थी। धार्मिक प्रतिमाओं को प्रतिमाशास्त्रीय मानदंडों के अनुरूप बनाया गया था। विष्णु की प्रतिमाओं में काफी विविधता देखी जा सकती है। विष्णु की प्रतिमाओं में नर पशु आकृति और मानव आकृति दोनों का निरूपण देखा जा सकता है, जो विशेष रूप से विष्णु के बराह अवतार अभिव्यक्तियों में परिलक्षित होता है। इनके दूसरे स्वरूप में जो मथुरा और गढ़वा जैसे स्थानों से प्राप्त होती है, उनमें विष्णु को मनुष्य रूप में दिखाया गया है जिसके चारों ओर आभामंडल दिखाया गया है। विष्णु के शंख तथा चक्र को वामनाकृति वाले आयुध पुरुषों के रूप में मानवीकृत स्वरूप दिया जाने लगा। बुद्ध की प्रतिमाओं में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक मुद्राओं का निरूपण देखा जा सकता है। बुद्ध की प्रारंभिक प्रतिमा के चारों ओर जो साधारण सा आभामंडल देखा जाता था, अब उनमें व्यापक अलंकरण दिखने लगा था। बुद्ध के शरीर को पारदर्शी उत्कृष्ट परिधानों में भी देखा जा सकता है। मथुरा और सारनाथ में इस काल में मूर्तिकला को विशिष्ट शैलियों का विकास देखा जा सकता है जो विशेषकर बुद्ध से जुड़ी प्रतिमाओं में प्रतिबिंबित होती है।

मथुरा, इस काल में भी मूर्ति निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बना रहा। यहां पर कुमारगुप्त के काल की कुछ तीर्थंकरों की बैठी हुई प्रतिमाएँ है जिनमें एकाधिक प्रतिमाओं के सिर नहीं है। ये प्रतिमाएँ अधिकांशतः अलंकृत सिंहासनों की पृष्ठभूमि में बनायी गयी हैं जिसके चारों तरफ चंवर हिलाते हुए परिचारक भी दिखलाई पड़ते हैं। मथुरा के कंकाली टीला से 432-33 सा.सं. का एक तीर्थंकर की प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसे अब लखनऊ के राजकीय संग्रहालय में रखा गया है।

अपनी गंभीर आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से इस काल में बन रहीं पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की प्रतिमाएँ पहले की शताब्दियों में बन रही बुद्ध की प्रतिमाओं से काफी उत्कृष्ट मालूम पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध प्रतिमाओं को कला इतिहासकारों के द्वारा प्राचीन भारतीय इतिहास के संपूर्ण काल में बनायी गयी सभी प्रतिमाओं में सर्वश्रेष्ठ माना जाता रहा है। बुद्ध की दो खड़ी हुई प्रतिमाएँ और बुद्ध की एक बैठी हुई प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बैठे हुए बुद्ध की प्रतिमा में यह पद्मासन की मुद्रा में हैं। इनके हाथ धर्म-चक्र मुद्रा में हैं। अर्थात् जो शिक्षा देने का द्योतक है। दोनों हाथ इनके छाती को स्पर्श करते हैं, इनके सिर के पीछे बना आभामंडल अत्यंत अलंकृत है। उनके सिंहासन के नीचे बौद्ध भिक्षु भी हैं।

इस काल की टेराकोटा कला के अंतर्गत लघु मूर्तियाँ और टेराकोटा की पट्टिकाओं पर बनी प्रतिमाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं जिन्हें कोसाम्बी, राजघाट, भीटा और मथुरा से प्राप्त किया गया है। इनमें पशुओं, सामान्य मनुष्यों देवताओं-देवियों जिनमें दुर्गा, कार्तिकेय, सूर्य इत्यादि सम्मिलित हैं। कश्मीर के अखनूर नामक स्थान से पकी ईटों की या टेराकोट्स की बने कई सिर (शीर्ष) पाए गए हैं। कश्मीर के ही हरवाँ नामक स्थान से टेराकोटा की पट्टिकाओं

पर मुद्रांकित शीर्ष और मूर्तिकाएं पायी गयी हैं। गुजरात के देवनिमोरी में स्थित बौद्ध स्तूप के इर्द-गिर्द टेराकोटा की पट्टिकाओं पर बनी भित्ति कला काफी दर्शनीय है। स्तूप में टेराकोटा कला का अलंकरण भी किया गया है। भीतर गाँव में ईटों से बने मंदिर के भीतर भी टेराकोटा की पट्टिकाओं पर किए गए अलंकरण पाए जाते हैं। अहिच्छत्र से प्राप्त गंगा और यमुना देवियों की मानवाकार टेराकोटा प्रतिमाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि गुप्तकाल में मूर्ति, स्थापत्य और चित्रकला के मामले में उत्कृष्टता को हासिल किया गया।

4.9 साहित्य

हमें गुप्तकाल में संस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट स्वरूप के दर्शन होते हैं। संस्कृत भाषा ने गद्य में भी और पद्य में भी, शास्त्रबद्ध स्वरूप ग्रहण किया। इलाहाबाद प्रशस्ति में गद्य और पद्य दोनों विधाओं का सम्मिश्रण पाया जाता है। इस काल में संस्कृत साहित्य में गद्य विधा में लेखन के प्रयोग की लोकप्रियता काफी बढ़ी। इस काल में राजकीय प्रशस्तियों की भाषा प्राकृत के स्थान पर पूर्ण रूप से संस्कृत हो गई। प्राकृत की अन्य बोलियाँ विकसित हुई, जैसे, महाराष्ट्री, सौरसेनी और मागधी। इस काल में इन प्राकृत की बोलियों का रूपांतरण नई भाषाओं में होने लगा। जिन्हें हम सामान्य तौर पर अपभ्रंश के रूप में जानते हैं। नाट्यशास्त्र में, एक रोचक सिंद्धात संस्कृत नाटकों के संबद्ध में दिया गया है, कि संस्कृत नाटकों में 'उच्च' चरित्रों यथा सम्राट, मंत्री इत्यादि को संस्कृत भाषा का तथा 'निम्नतर' तबके जैसे स्त्रियाँ और नौकर-चाकर देशी भाषा का व्यवहार करेंगे।

कालिदास निश्चित रूप से इस काल के श्रेष्ठतम नाटककार थे। अभिज्ञानशाकुन्तलम, मालविकाग्निमित्रम, विक्रमोर्वशीय इनके प्रमुख नाटक हैं। रघुवंश, कुमारसंभव और मेघदूत छन्दबद्ध काव्यात्मक रचनाएँ हैं। इन्होंने प्रणय के सौंदर्य बोध का पूर्ण रूप से वर्णन किया है। इनकी रचनाओं में कई स्थानों पर हास्य और व्यंग्य का पुट भी देखने को मिलता है। इनकी शैली को कई बार वैदर्भी शैली के नाम से जानते हैं। अर्थात् विदर्भ में प्रचलित शैली। शूद्रक की मृच्छकटिकम और भारवि का किरातार्जुनीय इस युग की अन्य प्रमुख कृतियाँ हैं। भट्टी कवि का रावण वध (सातवीं शताब्दी) राम कथा के साथ-साथ व्याकरण के सिद्धांतों की सोदाहरण व्याख्या भी करता है। इस युग के अन्य नाटककारों में मेन्था का नाम लिया जा सकता है जिनकी रचना हयग्रीववध के उद्धरण बाद के कई लेखकों की साहित्यिक आलोचनाओं का विषय रहा है।

इस युग में काव्य साहित्य के काव्यपरंपरा या नाट्यपरंपरा पर सैद्धांतिक ग्रंथ भी लिखे गए हैं। भामा का काव्यालंकार और दण्डिन का काव्यदर्श मुख्य रूप से काव्य सिद्धांतों की व्याख्या करते हैं। काव्य का मुख्य उद्देश्य शास्त्र सम्मत् दृष्टिकोण से आनंद अतिरेक की अनुभुति कराना है। नाट्यशास्त्र, नाटक और प्रदर्शन की कला पर लिखा जाने वाला प्राचीनतम मानक ग्रंथ है।

व्याकरण की दृष्टि से भर्तृहरि ने पांचवीं शताब्दी में पतंजलि के महाभाष्य पर एक प्रसिद्ध टीका की रचना की। याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन और बृहस्पति की स्मृतियाँ इसी काल में लिखी गयी जो धर्मशास्त्र की सर्वोत्कृष्ट कृतियां हैं। कामंदक का नीतिसार, राज्यशास्त्र पर लिखा गया एक प्रमुख ग्रंथ है, जो इसी काल का है। कामसूत्र इंद्रियनिष्ठ आनंदानुभूति पर लिखा गया एक अद्वितीय शास्त्र है। पंचतंत्र निदर्शन शास्त्र का एक उदाहरण है। निदर्शन एक ऐसी विधा है, जिसके अंतर्गत सोदाहरण बताया जाता है कि क्या सही या क्या ग़लत। सामान्य तौर पर ऐसा माना जाता है कि पंचतंत्र की कथाओं की रचना विष्णुशर्मा नामक एक ऋषि ने की थी।

इस युग के दार्शनिक ग्रंथों में सभी संप्रदायों के बीच चल रहे बौद्धिक प्रतिस्पर्द्धा का निरूपण होता है। इस काल में ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र और न्यायसूत्र के माध्यम से बौद्ध और जैन विचारधाराओं को ब्राह्मणवाद ने एक बार फिर से चुनौती दी। इस काल में लिखी गयी रचना सांख्यकारिका के लेखक ईश्वर कृष्ण है, जिन्होंने सांख्य दर्शन का विशुद्ध विश्लेषण किया है। यह रचना चौथी/पांचवीं शताब्दी की है। पातंजलि के योगसूत्र पर इस काल में व्यास की टीका उपलब्ध है। पक्षिलस्वामी वात्सायन नाम के विद्वान न्याय दर्शन से संबद्ध थे, जो चौथी शताब्दी के मध्य के काल में थे। प्रशस्तपाद की रचना पदार्थ धर्मसंग्रह पाँचवी सदी में लिखी गई थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में संस्कृत की सभी विधाओं में विपुल साहित्य लिखा गया था।

4.10 विज्ञान

इस युग में प्राकृतिक विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति देखने को मिलती है। वराहमिहिर की पंचसिद्धातिका (छठी शताब्दी) में पहले की शताब्दियों में प्रचलित खगोल शास्त्रीय ज्ञान को एक जगह संकलित किया जा गया है। इस ग्रंथ में उस काल में प्रचलित पांच खगोल शास्त्रीय विचारों का वर्णन किया गया है। उनकी बृहतसंहिता एक प्रकार का विश्वकोश है, जिसमें खगोल शास्त्र के अतिरिक्त अन्य कई महत्त्वपूर्ण धातुओं और रत्नों का मूल्य निकालना, बिना ऋतु के वृक्षों में फलों का विकास करना, पशुओं के अच्छे नस्लों को विकसित करना, दैवीय विधि से भूमिगत जल की स्थिति का पता लगाना इत्यादि है। इस ग्रंथ में ऋतुओं और मौसमों के विषय में वैज्ञानिक व्याख्या दी गयी है।

भारत के पहले ऐतिहासिक खगोल शास्त्री आर्यभट्ट-प्रथम थे, जिन्होंने कम से कम दो ग्रंथ लिखे; आर्यभट्टीय जो ग्रंथ आज भी उपलब्ध है और मुख्य रूप से गणित तथा खगोल शास्त्र पर लिखा गया है और दूसरा, आर्यभट्ट सिद्धांत जिसके विषय में हम अन्य लेखकों के द्वारा दिए गए उद्धरणों से जानते हैं। आर्यभट्ट का ब्रह्मांड के विषय में पृथ्वी केंद्रित दृष्टिकोण था। उनका मानना था कि सभी ग्रह पृथ्वी के चारों ओर वृत्ताकार परिधि में चक्कर काटते हैं। वे पहले खगोलशास्त्री थे, जिसने ग्रहण के विषय में वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने स्थापित किया कि ग्रहण चंद्रमा के पृथ्वी की छाया में आ जाने से या चंद्रमा के पृथ्वी और सूर्य के बीच में आ जाने से घटित होते हैं। उन्होंने यह भी निश्चित तौर पर विश्लेषण किया कि चंद्रमा का कौन सा भाग ग्रहण के समय अदृश्य होगा। उन्होंने यह भी

स्थापित किया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती रहती है। उनकी अन्य उपलब्धियों में 'साइन' फंक्शन या 'ज्या' (संस्कृत में) का प्रयोग भी खगोल शास्त्र को महत्त्वपूर्ण योगदान है, उन्होंने एक ग्रह की परिधि की गणना करने के लिए एक निश्चित समीकरण की स्थापना भी की। उन्होंने एक वर्ष की अवधि का बिल्कुल सटीक निर्धारण किया (365.2586805 दिन), किंतु यह दुर्भाग्य है कि हम उन प्रयोगों और प्रविधियों के बारे में नहीं जान सके, जिसके आधार पर आर्यभट्ट अपने महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुंच सके।

ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मस्फुटसिद्धांत (628 ईसवी) की रचना की तथा खंडखाद्यक (665 ईसवी) की भी रचना की। ये ग्रंथ भारत में प्रचलित तो थे ही, लेकिन अरबी में इनके अनुवाद के माध्यम से भारतीय खगोल शास्त्र अरबों तक जा पहुंचा। ब्रह्मस्फुटसिद्धांत में खगोल शास्त्र में प्रयोग होने वाले उपकरणों के व्यवस्थित उपयोग के अतिरिक्त खगोलशास्त्रीय तत्त्वों की गणना की विधि की भी व्याख्या की गई है।धुरी पर चक्कर लगाते रहें, इत्यादि की व्याख्या इस पुस्तक में मिलती है। खगोल-शास्त्रीय युक्तियों की भी जानकारी इस ग्रंथ में है, जिसमें पाणि ब्रह्म (कम्पस का एक युग्म), अवलंब, कर्ण, छाया, दिनार्थ, सूर्य इत्यादि की व्याख्या भी की गई है। इस ग्रंथ में नौ खगोलशास्त्री उपकरणों का वर्णन है, यह हैं-चक्र (360° पर घूमने वाली एक वृताकार काठ की तश्तरी), धनुष (अर्धवृताकार तश्तरी), तुर्यगोल (चतुर्थांश पट्टिका), यष्ठी, शंकु, घटिका, कपाल, (क्षैतिज रूप से रखा गया वृत्ताकार प्लेट), करतरी (दो भिन्न स्तरों पर एक साथ जुड़ा हुआ अर्धवृत्ताकार प्लेट) तथा पीथ (क्षैतिज रूप से रखा गया चक्र) सम्मिलित है।

दशमलव पद्धति में स्थानमान का मान पहली बार स्फूटिध्वज के यवनजातक में मिलता है, यद्यपि इसमें शून्य का उल्लेख नहीं है। शून्य का प्रथम उल्लेख यद्यपि दूसरी सदी ईसा पूर्व के पिंगल के छंदों में मिला है, किंतु वराहमिहिर ने इसका एक प्रतीक या आँख के रूप में पहली बार उल्लेख किया है। आर्यभट्टीय में अंकों के अंकगणितीय आरोहण का सिद्धांत और वर्गमूल तथा धनमूल निकालने की विधियां दी गई हैं। ज्यामिति के क्षेत्र में आर्यभट्ट ने एक वृत्त के गुण-धर्म की विस्तृत व्याख्या की है तथा पाई का चार दशमलव स्थान तक सटीक गणना निकाली गई है (3.1416)। आर्यभट्ट को बीजगणित का भी जनक माना जाता है। उन्होंने अंकों के जटिल युगपत समीकरणों का भी समाधान निकाला। खगोलशास्त्रीय गणनाओं के लिए साइन या ज्या का उपयोग त्रिकोणमिति के ज्ञान की पूर्व कल्पना करता है।

4.11 चिकित्सा विज्ञान

इस समय आयुर्वेद के क्षेत्र में भी प्रमुख ग्रंथ लिखे गए। जिनमें चरक संहिता और सुश्रुत संहिता प्रमुख थे। यद्यपि चरक संहिता के शुरुआती हिस्से दूसरी सदी ईसा पूर्व में लिखे गए थे। चरक संहिता को 120 अध्यायों तथा आठ खंडों में

बाँटा गया है। चरक संहिता को 120 अध्यायों में तथा आठ खंडों में बांटा गया है। इसका सूत्र ग्रंथ औषधि ज्ञान से सम्बंधित है। 'निदान' नामक दूसरे खंड में आठ महत्त्वपूर्ण बीमारियों के कारण की व्याख्या की गई है। 'विमान' नामक तीसरे खंड में स्वाद, पौष्टिकता, चिकित्सीय जांच और चिकित्सीय अध्ययन संकलित है। 'शरीर' नामक चौथे खंड में मानव का शरीर विज्ञान, भ्रूण विज्ञान और दर्शन सम्मिलित है। अन्य खंडों में बीमारी के लक्षण इंद्रिय चिकित्सा कल्प और सामान्य उपचार या सिद्धि जैसे विषय लिए गए हैं।

सुश्रुत संहिता का मूल पाठ शल्य चिकित्सा से सम्बंधित था और जिसकी रचना ईसा पूर्व अंतिम शताब्दियों में की गई थी। लेकिन बाद में पांचवीं शताब्दी तक लगातार इसमें संशोधन किया जाता रहा। इस संहिता पर लिखी गई टीकाओं में नागार्जुन नामक एक संपादक का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। आज जो हमारे पास ग्रंथ उपलब्ध है, उसके छः खंड हैं। प्रथम खंड 'सूत्र' के अंतर्गत चिकित्सा का उद्भव और चिकित्सक का प्रशिक्षण, चिकित्सा से जुड़े अन्य अवयव, भोजन, शल्य चिकित्सा, पूर्वानुमान और लक्षण, घावों का उपचार, टूटे हुए अंगों का निष्कासन इत्यादि सम्मिलित हैं।

आयुर्वेदिक ग्रंथों में वाग्भट्ट की लिखी हुई अष्टांगहृदय एक अत्यंत विस्तृत आयुर्वेदिक चिकित्सीय ग्रंथ है जो 600 ईसवी के लगभग का बतलाया जाता है। इसके अतिरिक्त इसी रचनाकार की एक और पुस्तक अष्टांगसंग्रह भी चिकित्सा को समर्पित है।

भारत में पशु चिकित्सा का विज्ञान भी काफी उन्नत था। हस्त्यायुर्वेद पालकाप्य के द्वारा लिखा गया है, जिसमें 160 अध्याय हैं। यह हाथियों की प्रमुख व्याधियों और उनसे जुड़े उपचारों का विश्लेषण करता है। इसमें औषधि और शल्य चिकित्सा दोनों उपाय बतलाए गए हैं।

4.8 सारांश

गुप्त सम्राटों का काल भारतीय इतिहास में 'स्वर्णयुग' व 'क्लासिकल युग' के नाम से विख्यात है। इस युग में अनेक उदात्त, मेधावी और शक्तिशाली राजाओं ने उत्तर-भारत को एक छत्र के नीचे संगठित कर शासन में सुव्यवस्था तथा देश में शान्ति की स्थापना की। गुप्त सम्राटों ने जिस विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था का निर्माण किया वह अत्यन्त उदार एवं सुसंगठित थी। सर्वत्र शान्ति एवं सुव्यवस्था विद्यमान थी। गुप्तचरों एवं पुलिस अधिकारियों के आचरण से प्रजा को कोई कष्ट नहीं था। लोकोपकारी कार्य करने के लिए गुप्त सम्राट सदैव तत्पर रहते थे। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से विदित होता है कि 'जिस समय वह राजा शासन कर रहा था कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो धर्मच्युत हो, दुःखी हो, दरिद्र हो, व्यसनी हो, लोभी हो अथवा दण्डनीय होने के कारण अधिक सताया गया हो।' इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तकालीन शासन-प्रबन्ध एक आदर्श प्रस्तुत करती है जिसमें जनता का किसी प्रकार का शोषण नहीं हुआ और प्रजा सदैव सुख-शान्ति का अनुभव करती थी।

इस काल में कला और साहित्य तथा विज्ञान के क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। कला का क्लासिकी रूप विकसित हुआ। मंदिरों, गुफाओं में स्थापत्य ने नया आकार ग्रहण किया और मूर्तिकला ने संतुलन को महत्व दिया। खगोल, गणित और आयुर्वेद के क्षेत्र में भी कई नवीन अनुशीलन सामने आए।

4.9 शब्दावली

कुमारामात्य - प्रमुख पदों पर कार्य करने वाले कर्मचारी

कुमारामात्याधिकरण - कुमारामात्य का कार्यालय

महासेनापति - सेना का सर्वोच्च अधिकारी

महापीलुपति - गज सेना का अध्यक्ष

महाअश्वपति - अश्वसेना का अध्यक्ष

महासन्धिविग्रहिक - युद्ध और शान्ति का मंत्री

दण्डपाशिक - पुलिस विभाग का मुख्य अधिकारी

विनय स्थिति स्थापक - धार्मिक मामलों का मुख्य अधिकारी

रणभाण्डागारिक - सैनिक की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला प्रधान अधिकारी

महादण्डनायक - युद्ध एवं न्याय-विभाग का कार्य देखने वाला

महाभण्डागाराधिकृत - राजकीय कोष का प्रधान

महाबलाधिकृत - सैनिक अधिकारी

महाअक्षपटलिक - अभिलेख विभाग का प्रधान

ध्रुवाधिकरण - कर वसूलने वाले विभाग का प्रधान

अग्रहारिक - दान विभाग का प्रधान

शाल्किक - भूमिकर वसूलने वाला

गौल्मिक - जंगलों (वनों) से आमदनी प्राप्त करने वाला

महाप्रतिहार - राजप्रसाद का प्रभारी

तलवाटक-ग्राम अधिकारी

गोप-ग्राम अधिकारी

राष्ट्र-वर्तमान राज्य के समान

देश-वर्तमान राज्य के समान

भुक्ति-वर्तमान कमीश्नरी के समान

उपरिक-भुक्ति का शासक

गोप्ता-सीमान्त प्रदेश का शासक

विषयपति-जिलाधिकारी

श्रेष्ठी-साहूकारों एवं उद्योगपतियों का प्रतिनिधि

सार्थवाह-व्यवसायियों का प्रतिनिधि

कुलिक-शिल्पकारों का प्रतिनिधि

कायस्थ-लिपिक

कुटुम्बी-ग्राम व्यवस्थापक

4.10 स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्नः-

विषयपति कौन होता था ?

(अ) न्यायाधीश (ब) जिलाधिकारी (स) सैन्य अधिकारी (द) पुलिस अधिकारी

व्यापारियों के नेता को क्या कहाँ जाता था ?

(अ) सार्थवाह (ब) श्रेष्ठी (स) पूण (द) श्रेणी

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई क्या थी ?

(अ) गाँव (ब) वीधि (स) पेठ (द) विषय

पुलिस विभाग के प्रधान को क्या कहा जाता था।

(अ) महाबलाधिकृत (ब) महादण्डनायक (स) रणभाण्डागारिक (द) दण्डपारीक

महासंधिविग्रहिक का क्या कार्य था ?

(अ) राजस्व विभाग का प्रमुख (ब) युद्ध एवं शान्ति मंत्री (स) पुलिस विभाग का प्रमुख (द) कोषाध्यक्ष

गुप्तकालीन न्यायालय का वर्णन हमें किस गं्रथ में मिलता है?

(अ) मनुस्मृति (ब) बृहस्पति स्मृति (स) नारद स्मृति (द) गौतम स्मृति

हरिषेण किस गुप्त शासक का संधि विग्रहिक था ?

(अ) चन्द्रगुप्त प्रथम (ब) समुद्रगुप्त (स) चन्द्रगुप्त द्वितीय (द) कुमारगुप्त

कुमारामात्य के कार्यालय को 'कुमारामात्याधिकरण' कहते थे। (सत्य/असत्य)

गुप्तकालीन केन्द्रीय शासन के विविध विभागों को क्या कहा जाता था ?

(अ) कार्यालय (ब) अधिकरण (स) श्रेष्ठी (द) सार्थवाह

सेना के सबसे बड़े पदाधिकारी महासेनापति कहलाते थे। (सत्य/असत्य)

पुलिस द्वारा उत्पीड़न के प्रमाण गुप्तकालीन किस अभिलेख में मिलता है ?

(अ) प्रयाग प्रशस्ति (ब) भीतरी अभिलेख (स) जूनागढ़ अभिलेख (द) मन्दसोर अभिलेख

'पूग' नगर में रहने वाली विभिन्न जातियों की समिति होती थी। (सत्य/असत्य)

ग्रामों में न्याय का कार्य कौन करता था ?

(अ) पुलिस (ब) न्यायालय (स) कुल (द) ग्राम-पंचायतें

गुप्तकाल में पेशेवर वकीलों का अस्तित्व मिलता है। (सत्य/असत्य)

गुप्तकाल में 'उद्रंग' क्या था ?

(अ) कर (ब) किसान (स) व्यापारी (द) पुलिस

उत्तर-

1.(ब) 2. (अ) 3.(अ) 4.(द) 5. (ब) 6.(ब) 7.(ब) 8.(सत्य) 9.(ब) 10.(सत्य) 11.(स) 12(स) 13.(द) 14.(असत्य) 15.(अ)

निम्नलिखित पर 100-150 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिएं।

गुप्तकालीन पुलिस-प्रशासन

गुप्तकालीन सैन्य-संगठन

गुप्तकालीन नगर एवं ग्राम प्रशासन

कुमारामात्य

गुप्तकालीन प्रमुख राजकीय कर

गुप्तकालीन न्याय-व्यवस्था

16. कालिदास की रचना किरातार्जुनीय है। (सत्य/असत्य)

17. मथुरा से किस के काल की तीर्थंकर की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं?

(अ) समुद्रगुप्त (ब) श्रीगुप्त (स) चंद्रगुप्त प्रथम (द) कुमारगुप्त

4.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. गुप्तकालीन प्रशासनिक व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

2. गुप्त साम्राज्य की प्रशासन पद्धति पर प्रकाश डालिए।

3. गुप्तकालीन प्रमुख करों का उल्लेख करते हुए राजस्व प्रशासन का विवरण दीजिए।

4. गुप्त काल में केन्द्रीय प्रशासन के संचालन में मंत्रिपरिषद एवं अन्य अधिकारीगणों की भूमिका का उल्लेख कीजिए।

5. गुप्तकालीन प्रान्तीय शासन व्यवस्था पर प्रकाश डालिए।

6. गुप्तकालीन स्थापत्य की विवेचना कीजिए।

7. गुप्तकालीन मूर्तिकला के विषय में बताइए।

8. गुप्तकाल में विज्ञान के क्षेत्र में क्या प्रगति हुई?

9. गुप्तकाल में साहित्य के विकास का विवरण दीजिए।

4.16 सन्दर्भ ग्रन्थ एवं इस खण्ड के लिए उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें

1. Majumdar R. C. *et. al.* (Eds) The History and Culture of Indian people, Vol. III: The Classical Age (1970) Vidhya Bhawan, Bombay.

2. Sharma, R. S., Political ideas and institutions in Ancient India, New Delhi (Hindi version)

3. Altekar, A. S., State and Government in Ancient India, Varanasi (Hindi Version)

4. Maity, S. K., Economic Life in Northern India in the Gupta period Varanasi.

5. चक्रवर्ती, रणबीर. इक्स्प्लॉरिंग अर्ली इंडिया अप टू एडी 1300, (नई दिल्ली: प्राइमस बुक्स, 2016).

6. सिंह, उपिंदर. प्राचीन और पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, (नोएडा: पियर्सन इंडिया, 2017).

7. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, (नई दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय) 2017 का संस्करण।

इकाई पांच- गुप्तकाल में व्यापार तथा वाणिज्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 उद्देश्य

5.3 आन्तरिक व्यापार

5.3.1 व्यापार के नियम

5.3.2 व्यापार की सामग्री

5.3.3 व्यापार के साधन

5.3.4 मापतोल तथा मुद्राप्रणाली

5.4 बाह्य व्यापार

5.4.1 पश्चिम के साथ व्यापार

5.4.2 श्रीलंका के साथ व्यापार

5.4.3 व्यापार सामग्री

5.5 साराशं

5.6 तकनीकी शब्दावली

5.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

5.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

5 .9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

मानव की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं होतीं, और इस कारण कच्चे माल और तैयार माल के एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थानान्तरण और वितरण हेतु व्यापार और वाणिज्य आवश्यक हैं। भारत में सर्वप्रथम हड़प्पा युग में बड़े पैमाने पर व्यापार और वाणिज्य के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। वैदिक युग में भी व्यापार हो रहा था, किन्तु उसकी मात्रा घट गयी थी। छठी शताब्दी ईसा पूर्व के आस-पास लोहे का बड़े पैमाने पर प्रयोग हुआ और मुद्रा पर आधारित अर्थव्यवस्था का आरम्भ हुआ। परिणामस्वरूप इस काल से व्यापारिक और वाणिज्यिक सक्रियता एक बार पुनः बढ़ गयी।

गुप्तकाल में भी व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में अत्यधिक उन्नति हुई, जिसके परिणामस्वरूप कुछ विद्वानों ने इसे भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहा, यद्यपि इसकी पृष्ठभूमि गुप्त युग से पहले कुषाण और कुषाणोत्तर कालों में ही तैयार हो गयी थी। गुप्तकाल में व्यापार और वाणिज्य के महत्व का अनुमान उस काल की स्मृतियों, कामन्दक के 'नीतिसार', 'महाभारत', 'पंचतन्त्र', तथा 'हितोपदेश' जैसे स्रोतों से लगाया जा सकता है।

उन्नत आन्तरिक व्यापार के अतिरिक्त उस काल में भारत के व्यापारिक सम्बन्ध पश्चिम में ईरान, अरेबिया, सीरिया, रोम, यूनान, और मिस्र के साथ; उत्तर में चीन के साथ; तथा पूर्व में कम्बोडिया, स्याम, सुमात्रा, और मलाया द्वीपसमूह के साथ थे। श्रीलंका इन सभी दिशाओं में भारतीय व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। गुप्तकालीन व्यापार और वाणिज्य के विषय में गुप्तों और उनकी समकालीन शक्तियों के अभिलेखों और मुद्राओं जैसे पुरातात्विक स्रोतों; तथा याज्ञवल्क्य, कात्यायन, बृहस्पति और नारद की स्मृतियों; कालिदास, शूद्रक और अन्य लेखकों के कल्पनाप्रधान ग्रन्थों; 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश'; और फा-ह्यान तथा कॉस्मस जैसे विदेशी लेखकों के वृत्तान्त आदि से सूचना प्राप्त होती है।

5.2 उद्देश्य

पिछली इकाइयों में आपको प्राचीन भारतीय इतिहास के विविध पक्षों की जानकारी दी गयी थी और आपको उक्त से संबंधित जानकारी हो पायी।इस इकाई का उद्देश्य प्राचीन भारत में गुप्तवंशीय शासकों के काल में व्यापार एवं वाणिज्य की उपलब्धियां किस प्रकार रही ,इससे संबंधित तथ्यों से आपको अवगत कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आपको निम्नांकित तथ्यों के विषय में जानकारी हो सकेगी-

- गुप्तकाल में आन्तरिक व्यापार एवं तत्संबंधित तथ्य
- गुप्तकाल में बाह्य व्यापार एवं तत्संबंधित तथ्य

5.3 आन्तरिक व्यापार

गुप्तकाल में आंतरिक व्यापार उन्नत दशा में था, जिसमें वैश्यों के अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, और यहाँ तक कि शूद्र भी सक्रियता से भाग लेते थे। गुप्तकाल में व्यापारियों के लिये 'क्रयिक', 'विक्रयिक', 'वणिक', 'विपणि' आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। किन्तु उस काल में व्यापारियों के दो प्रमुख वर्ग 'श्रेष्ठिन्' और 'सार्थवाह' थे। इनमें से प्रथम धनी व्यापारी थे, जो ऋण के रूप में धन भी देते थे। इस कारण उन्हें व्यापारी-साहूकार कहा जा सकता है। वे उत्पादकों से अतिरिक्त उत्पाद प्राप्त करते थे, स्वदेशी और विदेशी बाजारों तक उनके वितरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे, और स्वयं लाभ कमाते थे। वे सामान्यतः श्रेणियों के महत्वपूर्ण सदस्य होते थे और अपने आर्थिक महत्व के कारण समाज में प्रतिष्ठित स्थान रखते थे। दामोदरपुर ताम्रपत्र लेखों से ज्ञात होता है कि नगर का प्रमुख व्यापारी-साहूकार 'अधिष्ठान' नामक उस परिषद का सदस्य होता था जो जिला प्रशासन में विषयपति की सहायता करती थी। 'मृच्छकटिकम्' से ऐसा संकेत मिलता है कि कभी-कभी राज्य की ओर से राज्य के सभी नगरों के लिए एक ही प्रमुख व्यापारी नियुक्त किया जा सकता था।

यद्यपि कालिदास जैसे लेखक इससे भिन्न सूचना देते हैं, तथापि यह भलीभांति विदित है कि गुप्तकाल में स्थल मार्गों पर दस्यु दलों का और जल मार्गों पर जलदस्युओं का भय रहता था। इसके अतिरिक्त वर्षा और तूफान जैसी प्राकृतिक आपदाएँ और वनों में हिंसक जीव व्यापारियों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते थे। इसलिए सुरक्षा की दृष्टि से व्यापारी सामान्यतः बड़े समूहों में और सार्थवाह नामक अनुभवी कारवाँ व्यापारी के निर्देशन में यात्रा करते थे। इन यात्राओं में अनेक बार बड़े संकटों का सामना करना पड़ता था। किन्तु व्यापारिक यात्रा के सफल रहने पर सार्थवाहों को व्यापार में बड़े पैमाने पर लाभ भी प्राप्त होता था। कभी-कभी यह लाभ सौ गुना तक हो सकता था। नारद जैसे गुप्तयुगीन स्मृतिकारों ने इन व्यापारियों के हितों की रक्षा के लिए अनेक नियम बनाए। दामोदरपुर ताम्रपत्र लेखों से ज्ञात है कि नगर-श्रेष्ठिन् के समान सार्थवाह भी जिला प्रशासन से सम्बन्धित 'अधिष्ठान' का सदस्य होता था।

'अमरकोष' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ग्रामीण स्तर पर बाज़ार होते थे, जिनका उपयोग एक से अधिक ग्राम के वासी करते थे। इन बाज़ारों में ग्रामवासी दैनिक उपयोग की वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे। अनेक बार ये बाज़ार अस्थायी होते थे और निश्चित दिनों पर लगते थे।

नगरों में नियमित और स्थायी बाज़ार होते थे, जिनके लिये कालिदास, अमरसिंह और शूद्रक जैसे लेखकों ने 'विपणि' शब्द का प्रयोग किया है। इन बाज़ारों में छोटी-बड़ी सड़कों के दोनों ओर बड़ी और माल से भरी दुकानें होती थीं। 'कुमारसम्भवम्' से ज्ञात होता है कि विशिष्ट अवसरों पर बाज़ार की मुख्य सड़क, 'अपणमार्ग', को भलीभांति सुसज्जित किया जाता था। अयोध्या, आनन्दपुर, भीटा, भृगुकच्छ, चम्पा, दशपुर, कौशाम्बी, मथुरा, पाटलिपुत्र, राजघाट, शाकल, ताम्रलिप्ति, उज्जयिनी, वाराणसी, और विदिशा जैसे नगर गुप्तकाल में व्यापार और वाणिज्य के सक्रिय केन्द्र थे।

ऊपर हमने देखा कि नगरों के व्यापारी और वणिक ग्रामों से अतिरिक्त उत्पाद प्राप्त करते थे और उसे नगर और व्यापारिक केन्द्र तक ले जाते थे, जहाँ से कभी-कभी उसका निर्यात भी होता था। अनेक बार ये व्यापारी विभिन्न स्रोतों से व्यापारिक माल आयातित करते थे, और उसे नगर और ग्राम के बाज़ारों तक पहुँचाते थे। इस प्रकार व्यापारिक माल की प्राप्ति और उसके वितरण में ये व्यापारी और वणिक दोहरी भूमिका निभाते थे, और लाभ कमाते थे।

5.3.1 व्यापार के नियम

बाज़ार के महत्व को ध्यान में रखते हुए गुप्तकाल के धर्मशास्त्रकारों ने बाज़ार की गतिविधियों को नियमित करने के लिए विस्तृत नियम बनाए। क्रय-विक्रय और बिकी हुई वस्तु की वापसी से सम्बन्धित अनेक नियमों की जानकारी प्राप्त होती है। यदि विक्रेता भावी क्रेता को दोषमुक्त वस्तु दिखाने के उपरान्त उसे दोषयुक्त वस्तु बेचता था, तो बृहस्पति और नारद के अनुसार वह दण्ड का भागी था। नारद व्यापारियों और वणिकों को कपटपूर्ण गतिविधियों के प्रति सावधान करता है। बृहस्पति और नारद, दोनों की यह धारणा थी कि अधिकांश व्यापारी बेईमान होते थे। इस कारण उन्होंने मिलावट के विरुद्ध कठोर नियम बनाए। खरीदी हुई वस्तु को बिना हानि पहुँचाए एक निश्चित

अवधि के भीतर वापस किया जा सकता था। भावी क्रेता वस्तु का क्रय करने से पूर्व एक निश्चित अवधि तक उस वस्तु की स्वयं जाँच कर सकता था, अथवा किसी अन्य व्यक्ति से जाँच करवा सकता था। विभिन्न वस्तुओं के लिए जाँच की यह अवधि अलग-अलग थी। जाँच के बाद खरीदी गयी वस्तु को सामान्य परिस्थितियों में लौटाया नहीं जा सकता था। बृहस्पति और अमरसिंह विक्रयपत्र का उल्लेख करते हैं, जिसमें बेची गयी वस्तु का विवरण और उसका मूल्य अंकित किया जाता था।

बृहस्पति निर्देश देता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु का क्रय किसी बुद्धहीन व्यक्ति, अथवा मदहोश व्यक्ति, अथवा मूर्ख, अथवा किसी ऐसे व्यक्ति से करता है, जो उस वस्तु का स्वामी नहीं है, अथवा बहुत कम मूल्य पर करता है, अथवा बल-पूर्वक करता है, तो क्रेता को उस वस्तु को लौटा देना चाहिए। यदि वह वस्तु लौटने के लिए तैयार नहीं है, तो उसे बल-पूर्वक ऐसा करने के लिए बाध्य किया जा सकता था। यदि किसी वस्तु का विक्रय किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा किया जाए जो उसका स्वामी नहीं है, तो बृहस्पति और नारद, दोनों ऐसे क्रय-विक्रय को अमान्य घोषित करते हैं। नारद और विष्णु के अनुसार चोरी की वस्तु बेचने वाले को वह वस्तु उसके स्वामी को लौटा देनी चाहिए, उसके मूल्य के रूप में ली गयी धनराशि क्रेता को लौटा देनी चाहिए, और राज्य को अर्थदण्ड के रूप में निर्धारित धनराशि चुकानी चाहिए। स्मृतिकारों के अनुसार गुप्त रूप से किया गया क्रय-विक्रय चोरी के समान है।

यह सामान्य धारणा है कि गुप्त काल में विभिन्न वस्तुओं के मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित नहीं किये जाते थे। परिणामस्वरूप बाज़ार में मूल्य अस्थिर रहते थे और विभिन्न वस्तुओं की माँग और आपूर्ति के अनुपात में घटते-बढ़ते रहते थे। इससे व्यापारी कभी बहुत अधिक लाभ कमाते थे, और कभी उन्हें बहुत अधिक हानि होती थी। किन्तु याज्ञवल्क्य व्यापारियों को निर्देश देता है कि वे वस्तुओं का क्रय-विक्रय राजा द्वारा निर्धारित मूल्यों पर ही करें। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में भी कम से कम कुछ व्यापारिक वस्तुओं का मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित किया जाता था।

5.3.2 व्यापार की सामग्री

गुप्त काल के व्यापारी विलासिता की वस्तुओं और दैनिक उपयोग की वस्तुओं, दोनों का व्यापार करते थे। व्यापारिक वस्तुएँ विलक्षण भी थीं और सामान्य भी। इन वस्तुओं में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सोना, चांदी, तांबा, लोहा तथा टिन जैसी धातुएँ; पंजाब, हिमाचल प्रदेश, और समुद्रतटीय क्षेत्रों से प्राप्त नमक; मुख्य रूप से दक्षिण भारत, और सामान्य रूप से पूर्वोत्तर क्षेत्रों, बंगाल, और नेपाल से प्राप्त काली मिर्च और मसाले; कश्मीर से प्राप्त केसर, और दक्षिणी तथा अन्य क्षेत्रों से प्राप्त चंदन जैसे सुगंधित द्रव्य; दक्षिण भारत से प्राप्त मूंगा; पश्चिमोत्तर भारत के अश्व, और उड़ीसा, बिहार, और असम के हाथी; दुग्ध और दुग्ध उत्पाद, माँस, मछली, अनाज, तिल, मदिरा, शाक, और जड़ी-बूटी जैसे खाद्य पदार्थ; अस्त्र-शस्त्र और उपकरण; विभिन्न प्रकार के वस्त्र--रेशमी, सूती, क्षौम, और ऊनी; तथा लकड़ी, पशुचर्म, हाथी-दाँत, पशुओं की अस्थियाँ, मृद्भाण्ड, पात्र, जैसी सामान्य वस्तुएँ सम्मिलित थीं।

5.3.3 व्यापार के साधन

स्थल मार्गों पर व्यापारिक माल ढोने के लिए गुप्त काल के व्यापारी सामान्यतः बैलगाड़ी का उपयोग करते थे। 'बृहत्कल्पभाष्य' में उल्लेख मिलता है कि व्यापारिक माल ढोने के लिए ऊँटों और खच्चरों का प्रयोग भी किया जाता था। इस कार्य के लिए कभी-कभी किराए पर श्रमिक भी लगाए जाते थे। इस सबसे अनुमान लगाया जा सकता है कि व्यापारिक माल के वितरण की गति धीमी रही होगी। याज्ञवल्क्य और नारद जैसे स्मृतिकारों ने श्रमिक और व्यापारी, दोनों के हितों की रक्षा के लिए विस्तृत नियम निर्धारित किए, जिनके आधार पर व्यापारी माल ढोने के लिए श्रमिक किराए पर लगाते थे। नदियों और खाड़ियों के जल मार्गों से व्यापारिक माल का स्थानान्तरण अपेक्षाकृत कम व्यय पर किया जा सकता था। समुद्रतटीय क्षेत्र के निवासी, और कालिदास के अनुसार वंग जैसे नदीय क्षेत्रों के निवासी, नौचालन में दक्ष होते थे। आन्तरिक जल मार्गों में विभिन्न आकार की नौकाएँ यातायात के सामान्य साधन थे।

5.3.4 मापतोल तथा मुद्राप्रणाली

साहित्यिक रचनाओं और अभिलेखों से 'कुल्यवाप' और 'द्रोणवाप' जैसी भूमि की मापों, और 'पल', 'आढक', 'प्रस्थ', और 'खारि' जैसे तोल के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि अन्य कालों के समान गुप्तकाल में भी माप और तोल के मानकों में स्थानीय विभिन्नताएँ रही होंगी। अमरसिंह 'तुला' का उल्लेख करता है, जिसका उपयोग व्यापारिक माल तोलने में किया जाता होगा।

गुप्त काल में आदान-प्रदान का मानक माध्यम सिक्के थे, और भारत में पहली बार स्वदेशी स्वर्ण मुद्राएँ बड़े पैमाने पर जारी की गयीं। आरम्भ में इनकी तोल लगभग 120 ग्रेन थी। किन्तु समय के साथ विभिन्न गुप्त राजाओं के कालों में सिक्के की तोल में वृद्धि हुई, और कुमारगुप्त II और विष्णुगुप्त जैसे बाद में राजाओं के काल में गुप्त स्वर्ण मुद्रा का भार लगभग 150 ग्रेन तक पहुँच गया। चन्द्रगुप्त प्प् सम्भवतः पहला गुप्त राजा था जिसने चाँदी के सिक्के जारी किए। ये गुप्त रजत मुद्राएँ कार्द्मक रजत मुद्रा पर आधारित थीं, और इनका वजन लगभग 36 ग्रेन था। गुप्त ताम्र मुद्राओं की तोल में इतनी अधिक विभिन्नता मिली है कि इनके तोलमान का निर्धारण करना कठिन है। फा-ह्यान की सूचना से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में क्रय-विक्रय हेतु कौड़ियों का प्रयोग भी माध्यम के रूप में किया जाता था। 'अमरकोष' से साक्ष्य मिलता है कि गुप्तकाल में व्यापार हेतु कुछ पैमाने पर वस्तु विनिमय भी अस्तित्व में था।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. दामोदरपुर ताम्रपत्र लेखों के अनुसार सार्थवाह भी नगर प्रशासन से सम्बन्धित 'अधिष्ठान' का सदस्य होता था(सत्य/असत्य)

2. बृहस्पति और नारद, दोनों की यह धारणा थी कि अधिकांश व्यापारी बेईमान होते थे(सत्य/असत्य)

3. अमरकोष' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ग्रामीण स्तर पर बाज़ार होते थे(सत्य/असत्य)

4.गुप्तकाल में माप और तोल के मानकों में स्थानीय विभिन्नताएँ नहीं थीं(सत्य/असत्य)

5. चन्द्रगुप्त II पहला गुप्त राजा नही था जिसने चाँदी के सिक्के जारी किए (सत्य/असत्य)

6.गुप्तकाल में क्रय-विक्रय हेतु कौड़ियों का प्रयोग भी माध्यम के रूप में नहीं किया जाता था(सत्य/असत्य)

5.4 बाह्य व्यापार

गुप्तकाल में भारत का बाह्य व्यापार जल मार्ग और स्थल मार्ग, दोनों के माध्यम से हो रहा था, यद्यपि इसके लिए जलमार्गों का प्रयोग अधिक प्रचलन में था। समुद्री यात्राओं में अधिक जोखिम रहता था, और इसमें आने वाले संकटों का विवरण चीनी बौद्ध यात्री, फा-ह्यान, तथा कालिदास और वराहमिहिर जैसे भारतीय लेखक, भलीभाँति प्रस्तुत करते हैं। इसलिए आश्चर्य नहीं है कि वे भारतीय व्यापारी, जो न केवल पश्चिमी देशों, अपितु दक्षिणपूर्वी एशिया, और चीन तक के साथ व्यापार में संलग्न थे, बड़े पैमाने पर लाभ कमाते थे। जल यातायात के सामान्य साधन विभिन्न आकारों के जलपोत और नौकाएँ थीं। ताम्रलिप्ति (तामलुक), शूर्पारक (सोपारा), प्रतिष्ठान (पैठन), भृगुकच्छ (भड़ौच), कावेरीपत्तनम्, सिंधु, ओराथा (गुजरात), कैलियाना (कल्याण), सिबोर (मुम्बई के निकट चौल), माले (मालाबार), मेंगारुथ (मंगलौर), सलोपताना, नलोपताना (नेल्सिण्डा), और मंगलौर एवं कालीकट के मध्य पोन्दोपताना, कुछ महत्वपूर्ण भारतीय बन्दरगाह थे, जहाँ से व्यापारी अपने माल के साथ समुद्री यात्रा आरम्भ करते थे। पश्चिम और उत्तर के देशों के साथ कुछ भारतीय व्यापार स्थल मार्गों से भी हो रहा था, जो समुद्री मार्गों के समान जोखिम भरे थे। ये पथ कभी-कभी दुर्गम थे, और इन पर दस्युओं, और वनों में हिंसक पशुओं का भय रहता था। फिर भी गुप्तकाल में बाह्य व्यापार और वाणिज्य में उन्नति हुई।

5.4.1 पश्चिम के साथ व्यापार

ईसाई सम्वत् की आरम्भिक शताब्दियों में भारत और रोम के मध्य बड़े पैमाने पर व्यापार हो रहा था, जिसमें भारतीय मसालों की प्रमुख भूमिका थी। किन्तु रोमन साम्राज्य की अवनति, चौथी शताब्दी ईसवी के उत्तरार्द्ध में साम्राज्य के विभाजन, और पाँचवी शताब्दी ईसवी में उस पर होने वाले गॉथ और हूण आक्रमणों का इस व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। फिर भी भारत के विभिन्न भागों से चौथी, पाँचवी, और छठी शताब्दी ईसवी के बाइजैण्टाइन सिक्के प्राप्त हुए हैं। साथ ही विदेश से रोम पहुंचने वाली व्यापारिक वस्तुओं की जस्टिनियन द्वारा दी गयी सूची में भारत से आयातित अनेक वस्तुओं के उल्लेख मिले हैं। इससे स्पष्ट है कि गुप्तकाल में भी भारत और बाइजैण्टियम के मध्य व्यापार हो रहा था। जस्टिनियन की सूची में भारत से आयातित व्यापारिक वस्तुओं में कालीमिर्च, दालचीनी, और सोंठ जैसे मसाले; रेशमी और सूती वस्त्र; हीरे, नीलम, और फ़ीरोज़ा जैसे बहुमूल्य पत्थर; तेंदुए जैसे विलक्षण पशु; तथा हाथीदाँत, लोहा, सुगन्धित द्रव्य आदि सम्मिलित हैं। रेशम का चीन के साथ निकट सम्बन्ध है। किन्तु इस बात के संकेत मिलते हैं कि भारत में उत्पादित रेशमी वस्त्र रोम और बाइजैण्टियम पहुँचता था। कुमारगुप्त प् और बन्धुवर्मन् के काल के मन्दसौर अभिलेख में रेशम के बुनकरों की एक श्रेणी का उल्लेख है। अभिलेख के अनुसार उस श्रेणी ने अपने बुने रेशमी वस्त्र से पूरी पृथ्वी को ढक दिया था। इससे प्रतीत होता है कि उसके द्वारा उत्पादित रेशमी वस्त्र का निर्यात होता था। अभिलेख में बताया गया है कि स्त्रियों में इस श्रेणी द्वारा उत्पादित रेशमी वस्त्र इतना लोकप्रिय था कि सुन्दरियाँ जब तक उसे धारण नहीं कर लेती थीं, तब तक अपना

शृंगार पूरा नहीं समझती थीं। भारत और रोम के मध्य होने वाले रेशम के व्यापार में ईरान के व्यापारी मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे, और इस व्यापार में बड़े पैमाने पर लाभ कमाते थे। जस्टिनियन और इथियोपिया के राजा, हेलीस्थियस, के मध्य एक समझौता हुआ था, जिसके अन्तर्गत इथियोपिया के व्यापारी भारतीय रेशमी वस्त्र प्राप्त करके उसे उचित लाभ पर बाइजैण्टियम भेजते। किन्तु ईरान के व्यापारियों द्वारा भारतीय रेशमी वस्त्र का पूरा-पूरा नौभार क्रय कर लेने के कारण इथियोपिया के व्यापारी भारतीय रेशमी वस्त्र प्राप्त कर पाने में असमर्थ रहे। अन्ततः बाइजैण्टियम ने स्वयं अपना रेशम उत्पादन आरम्भ कर दिया। इसमें कुछ ऐसे धर्म प्रचारकों ने उसकी सहायता की, जिन्होंने चीन में कुछ समय बिताया था, और वे रेशम उत्पादन का रहस्य जानते थे।

गुप्त काल में भारत का पश्चिम की ओर इथियोपिया के साथ व्यापारिक सम्पर्क था। कॉस्मस की सूचना से ज्ञात होता है कि इथियोपिया से मिस्र के पन्ने और इथियोपिया के हाथी, भारत द्वारा आयातित किये जाते थे। ये हाथी बड़े आकार के दाँतों वाले होते थे, और इसलिए भारत में इनकी मांग थी। भारत में अश्व वनयु से आते थे, जिसकी पहचान अरेबिया से की गयी है। ऊपर हमने देखा कि भारत और बाइजैण्टियम के मध्य होने वाले रेशम व्यापार में ईरान के व्यापारी मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे। इसके अतिरिक्त इस बात के साक्ष्य उपलब्ध हैं कि भारत से कालीमिर्च ईरान को निर्यात की जाती थी।

एस0 के0 मैती जैसे विद्वानों का विचार है कि गुप्तकाल में भारत और पश्चिमी देशों के मध्य होने वाले व्यापार को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त प्प् जैसे गुप्त सम्राटों ने पश्चिमी देशों से होने वाले भारतीय व्यापार के लिये महŸवपूर्ण पश्चिमी समुद्र तट और उस पर स्थित बन्दरगाहों पर नियंत्रण स्थापित करने के लक्ष्य से पश्चिम की ओर अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार करने का प्रयास किया, और स्कन्दगुप्त ने हूणों से अपने साम्राज्य की पश्चिमी सीमा की रक्षा की समुचित व्यवस्था की।

5.4.2 श्रीलंका के साथ व्यापार

श्रीलंका भारत में सिंहलद्वीप के नाम से जाना जाता था। यह द्वीप पूर्व को पश्चिम से जोड़ने वाले जलमार्गों के मध्य स्थित था, जिसके परिणामस्वरूप यह अत्यन्त प्राचीन काल से विश्व व्यापार में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। भारत के श्रीलंका के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे। कॉस्मस के अनुसार भारत से कालीमिर्च, लौंग, और दालचीनी जैसे मसाले; चन्दन और कस्तूरी जैसे सुगन्धित द्रव्य; भारतीय हाथी और ईरान के अश्व जैसे पशु; रेशमी और सूती वस्त्र; तथा तांबा, रेण्डी का तेल आदि पदार्थ श्रीलंका को निर्यात किए जाते थे। फा-ह्यान और वराहमिहिर के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि भारत द्वारा श्रीलंका से मोती आयातित किए जाते थे। कल्हण और 'तीर्थकल्प' की सूचना है कि श्रीलंका से वस्त्र भी भारत लाए जाते थे। कुछ मात्रा में चांदी भी श्रींलका से भारत पहुँचती थी। भारत और श्रीलंका के मध्य होने वाले व्यापार में ताम्रलिप्ति की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

गुप्तकाल में भारत के चीन और दक्षिणपूर्वी एशिया के देशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे। इस व्यापार हेतु अधिकाँशतः समुद्री मार्ग का प्रयोग किया जाता था, यद्यपि चीनी बौद्ध तीर्थयात्रियों और चीन से भारत भेजे गये राजदूतों के वृत्तान्तों से स्पष्ट है कि समुद्री यात्रा संकटों से परिपूर्ण थी। चीन के व्यापारिक जलपोत ईरान, अरेबिया,

और इनके भी आगे पश्चिमी देशों की यात्रा के समय भारत और श्रीलंका के बन्दरगाहों पर रुकते थे, और व्यापार करते थे।

5.4.3 व्यापार सामग्री

'सुंग-चू' से ज्ञात होता है कि भारत से गैंडे की सींग से बनी वस्तुएँ, कोड़िल्ला पत्थर, और एस्बेस्टस का कपड़ा, जैसी विलक्षण वस्तुएँ चीन भेजी जाती थीं। इसके अतिरिक्त चीनी स्रोतों से ज्ञात होता है कि केसर और चन्दन जैसे सुगन्धित द्रव्य, और कालीमिर्च जैसे मसाले, भारत से चीन के अतिरिक्त तिब्बत, कम्बोडिया, स्याम, जावा, सुमात्रा, इण्डोनेशिया, बाली, बोर्नियो, मलाया द्वीपसमूह, तथा अन्य देशों को भी निर्यात किए जाते थे।

चीन प्राचीन काल से ही अपने रेशमी वस्त्र के कारण विश्व में प्रसिद्ध रहा है, और कॉस्मस के अनुसार चीन को 'रेशम की भूमि' कहा जाता था। अन्य क्षेत्रों के समान भारत में भी चीन के रेशमी वस्त्र (चीनाशुक) की अत्यधिक माँग थी, विशेष रूप से सम्भ्रान्त वर्ग में। भारत में चीन की मुद्राऐं, और रेशम के अतिरिक्त अन्य चीनी उत्पाद, बहुत कम प्राप्त हुए हैं। इसके आधार पर यह सुझाव दिया गया है कि सम्भवतः भारत और चीन के मध्य होने वाले व्यापार में वस्तुविनिमय की महत्वपूर्ण भूमिका थी। भारतीय व्यापारी अपने उत्पादों के बदले चीनी व्यापारियों से मुख्य रूप से चीनी रेशमी वस्त्र प्राप्त करते थे। चीन तथा दक्षिणपूर्वी एशिया के देशों के साथ होने वाला अधिकांश भारतीय व्यापार समुद्री मार्ग से होता था, जिसमें भारत के पूर्वी तट के बन्दरगाहों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। सम्भव है कि इन देशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध ही चीन तथा दक्षिणपूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के मुख्य कारक रहे हों।

5.5 साराशं

गुप्तकाल की चतुर्दिक उन्नति के पीछे वस्तुतः उस काल की आर्थिक समृद्धता थी। बाह्य एवं आंतरिक व्यापार फलफूल रहा था तथा वाणिज्य एवं उद्योग धन्धों की अधिकता थी। उपरोक्त अध्ययन से हमें यह भी पता चला कि व्यापार संगठित था और माप-तौल के साधनों के साथ ही मुद्रा प्रणाली भी पर्याप्त विकसित थीं।समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे गुप्त सम्राटों ने पश्चिमी देशों से होने वाले भारतीय व्यापार के लिये महत्वपूर्ण पश्चिमी समुद्र तट और उस पर स्थित बन्दरगाहों पर नियंत्रण स्थापित करने के लक्ष्य से पश्चिम की ओर अपने साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार करने का प्रयास किया, और स्कन्दगुप्त ने हूणों से अपने साम्राज्य की पश्चिमी सीमा की रक्षा की समुचित व्यवस्था की।

5.6 तकनीकी शब्दावली

श्रेष्ठिन् - प्रथम धनी व्यापारी

सार्थवाह - व्यापारियों के कारवें का मुखिया

बन्दरगाह - पानी के जहाजों के ठहरने का स्थान

5.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

भाग 5.3 के प्रश्न 1 का उत्तर- सत्य

भाग 5.3 के प्रश्न 2 का उत्तर- सत्य

भाग 5.3 के प्रश्न 3 का उत्तर- सत्य

भाग 5.3 के प्रश्न 4 का उत्तर- असत्य

भाग 5.4 के प्रश्न 5 का उत्तर- असत्य

भाग 5.4 के प्रश्न 6 का उत्तर- असत्य

5.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अल्तेकर, ए0 एस0, क्वाइनेज ऑव द गुप्त एम्पायर, वाराणसी, 1957 (हिन्दी संस्करण, गुप्तकालीन मुद्राएँ, उपलब्ध).
2. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, नई दिल्ली, 1991.
3. थपल्याल, के0 के0, गिल्ड्स इन एंशियण्ट इण्डिया, नई दिल्ली, 1996.
4. पाठक, विशुद्धानन्द, प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास, लखनऊ, 2004.

5.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. बाजपेयी, कृष्ण दत्त , भारतीय व्यापार का इतिहास, मथुरा, 1951.
2. मिश्र, श्याम मनोहर, प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन, इलाहाबाद, 1997.
3. मैती, एस0 के0, इकोनॉमिक लाइफ़ इन द गुप्त पीरियड, दिल्ली, 1970.
4. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पटना, 1953.
5. सिंह, उपिन्दर, ए हिस्टरी ऑव एंशियण्ट एण्ड अर्ली मिडीएवल इण्डिया, दिल्ली, 2009.

5.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. गुप्तकालीन व्यापार एवं वाणिज्य के स्रोतों पर प्रकाश डालिए।
2. गुप्तकालीन आन्तरिक व्यापार का वर्णन कीजिए।
3. गुप्तकालीन बाह्य व्यापार के विषय में आप क्या जानते हैं?
4. गुप्तकालीन व्यापारिक वस्तुओं पर एक निबन्ध लिखिए।
5. गुप्तकालीन व्यापार एवं वाणिज्य में आदान-प्रदान के माध्यम, और यातायात के साधनों की विवेचना कीजिए।

इकाई छह - हर्षकालीन सांस्कृतिक जीवन

6.1 प्रस्तावना

6.2 उद्देश्य

6.6 हर्षकालीन सांस्कृतिक उपलब्धियां

6.6.1 कन्नौज की धर्म परिषद

6.6.2 प्रयाग का पंचवर्षीय दानोत्सव)मोक्ष-परिषद्(

6.6.3 जनहितकारी कार्य

6.6.4 विद्या व्यसनी एवं विद्वानों का आश्रयदाता

6.7 साराशं

6.8 तकनीकी शब्दावली

6.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

6.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.12 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

हर्षवर्धन, वर्धन राजवंश का सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रतापी राजा था। गुप्तकाल के पतन के बाद राजनैतिक विखण्डन को एक सूत्र में पिरोने का कार्य भी हर्षवर्धन ने किया। हर्ष ने अपनी तलवार के बल पर उत्तर भारत में एक राजनैतिक एकता स्थापित कर दी थी। हर्षवर्धन लगभग 16 वर्ष की आयु में 606 ई0 में वर्धन राजवंश का शासक बना। इस अवसर पर हर्षवर्धन नया संवतः चलाया। जो हर्ष संवत् के नाम से जाना जाता है। हर्षवर्धन का जन्म लगभग 590-91 ई0 में थानेश्वर में हुआ था। उसके पिता का नाम महाराजा प्रभाकरवर्धन तथा माता का नाम यशोमति था। हर्षवर्धन के बड़े भाई का नाम राज्यवर्धन तथा बहिन राज्यश्री (मौखरी नरेश ग्रहवर्मा की पत्नी) थी। हर्ष बड़ी ही विकट परिस्थितियों में सिंहासन संभाला। माता-पिता की मृत्यु, भाई राज्यवर्धन तथा बहनोई कन्नौज नरेश ग्रहवर्मा की हत्या एवं बहिन राज्यश्री का बंदी ग्रह में कैद होना आदि घटनाओं ने हर्ष के हृदय को विचलित कर दिया था, इसका मार्मिक विवरण बाणभट्ट ने हर्षचरित् में दिया है।

हर्षवर्धन ने सिंहासन पर बैठते ही राज्यवर्धन के हत्यारे गौड़ नरेश शशांक को मारने का संकल्प लिया। हर्ष ने एक बड़ी सेना के साथ कन्नौज की ओर प्रस्थान किया। किन्तु रास्ते में ही हर्ष को सूचना मिली कि, शशांक ने

राज्यश्री को कैद से मुक्त कर दिया है और राज्यश्री विंध्य के जंगलों में चली गयी है। अब हर्ष का उद्देश्य पहले राज्य को खोजना हो गया। विंध्य के जंगलों में राज्यश्री को खोजते हुए संयोगवश ग्रहवर्मा के बयपन के दोस्त दिवाकर मित्र जो बौद्ध भिक्षु बनकर विंध्य के जंगलों में रह रहा था के सहयोग से हर्षवर्धन ने राज्यश्री को खोज लिया। जब राज्यश्री मिली तब वह अपनी जीवनलीला समाप्त करने के लिए अग्नि में प्रवेश कर रही थी। किसी भी प्रकार से हर्ष और दिवाकरमित्र राज्यश्री को समझाने में सफल रहे। अब हर्ष ने आगे बढ़कर कन्नौज पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। हर्ष अपनी बहिन राज्यश्री के साथ कन्नौज का शासन करने लगा। चीनी स्त्रोत शे-किअ-फेंग-चे से सभी ज्ञात है कि हर्ष अपनी बहिन की सहायता से कन्नौज का शासन संचालन कर रहा था। अब हर्ष थानेश्वर और कन्नौज दोनों का शासक बन गया था, कालान्तर में हर्षवर्धन ने थानेश्वर के स्थान पर कन्नौज को ही अपनी राजधानी बनाया और समस्त उपलब्धियाँ कन्नौज के शासक के रूप में ही प्राप्त की।

ए.एल. बाशम के अनुसार यद्यपि हर्ष ने काठियावाड़ से लेकर बंगाल तक अधिकांश उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया था, तथापि उसका साम्राज्य रचना में सामन्तवादी ही था। कान्यकुब्ज और थानेस्वर राज्यों की सीमा के बाहर निकटवर्ती अनेक प्राचीन राजा अपने-अपने रासिंहासनों को अधिकार में रखे हुए थे। बंगाल का राजा तथा बौद्धों का कट्टर विरोधी शशांक जिसने हर्ष के राज्यासीन होने के समय मगध को रौंद डाला था, अपने प्रदेशों की ओर खदेड़ दिया गया और उसका राज्य हर्ष के हाथ आया। परन्तु देवगुप्त जो हर्ष के बहनोई गृहवर्मन मौखरी के पतन के लिए मुख्यत: उत्तरदायी था, अपने एक सम्बन्धी माधवगुप्त द्वारा स्थानापन्न किया गया तथा काठियावाड़ के मैतृक राजा को हर्ष द्वारा पराजित होने पर अपने राजसिंहासन को हर्ष के आश्रित राजा के रूप में रखने की आज्ञा दी गयी। हर्ष अपने तथा अपने आश्रित राजाओं के राज्यों में एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में निरन्तर भ्रमण द्वारा अपने महान् साम्राज्य पर नियन्त्रण रखता था। उसके आश्रित राजा अपने सम्राट की सेवा में अपना अधिकांश समय व्यतीत करते थे।

बाशम के अनुसार हर्ष महान गुणों से युक्त अतीव स्फूर्तियुक्त व्यक्ति प्रतीत होता है। व्हेनसांग के वण्रन के अनुसार हर्ष अपनी निरीह जनता की शिकायतों को अथक धैर्य के साथ अपने साधारण सभा भवन में नहीं अपितु जनमार्ग के निकट स्थित एक छोटे से गतिशील मंडप में आसीन होकर सुना करता था। कुछ भी हो वह वैभव प्रेमी था, उसकी यात्राओं में सेवकों, दरबारियों, अधिकारियों, बौद्ध भिक्षुओं तथा ब्राह्मणों का एक विशाल समूह उसका अनुगमन किया करता था। बाशम आगे लिखते हैं कि वह एक निष्ठावान एवं सहृदय मित्र था तथा यदि हम साक्ष्यों पर विश्वास करें तो वह उन व्यक्तियों के प्रति मनमौजी उदार था, जिनका वह पक्ष करता था। वह दर्शन शास्त्र तथा साहित्य का प्रेमी था तथा अपने अवकाश के क्षणों में समय प्राप्त कर उसने तीन उच्चकोटि के नाटकों की रचना की थी।

हर्षवर्धन, वर्धन राजवंश का सर्वाधिक शक्तिशाली और प्रतापी राजा था। गुप्तकाल के पतन के बाद राजनैतिक विखण्डन को एक सूत्र में पिरोने का कार्य भी हर्षवर्धन ने किया। हर्ष ने अपनी तलवार के बल पर उत्तर भारत में एक राजनैतिक एकता स्थापित कर दी थी। हर्षवर्धन लगभग 16 वर्ष की आयु में 606 ई0 में वर्धन राजवंश

का शासक बना। इस अवसर पर हर्षवर्धन नया संवतः चलाया। जो हर्ष संवत् के नाम से जाना जाता है। हर्षवर्धन का जन्म लगभग 590-91 ई0 में थानेश्वर में हुआ था। उसके पिता का नाम महाराजा प्रभाकरवर्धन तथा माता का नाम यशोमति था। हर्षवर्धन के बड़े भाई का नाम राज्यवर्धन तथा बहिन राज्यश्री (मौखरी नरेश ग्रहवर्मा की पत्नी) थी। हर्ष बड़ी ही विकट परिस्थितियों में सिंहासन संभाला। माता-पिता की मृत्यु, भाई राज्यवर्धन तथा बहनोई कन्नौज नरेश ग्रहवर्मा की हत्या एवं बहिन राज्यश्री का बंदी ग्रह में कैद होना आदि घटनाओं ने हर्ष के हृदय को विचलित कर दिया था, इसका मार्मिक विवरण बाणभट्ट ने हर्षचरित् में दिया है।

हर्षवर्धन ने सिंहासन पर बैठते ही राज्यवर्धन के हत्यारे गौड़ नरेश शशांक को मारने का संकल्प लिया। हर्ष ने एक बड़ी सेना के साथ कन्नौज की ओर प्रस्थान किया। किन्तु रास्ते में ही हर्ष को सूचना मिली कि, शशांक ने राज्यश्री को कैद से मुक्त कर दिया है और राज्यश्री विंध्य के जंगलों में चली गयी है। अब हर्ष का उद्देश्य पहले राज्य को खोजना हो गया। विंध्य के जंगलों में राज्यश्री को खोजते हुए संयोगवश ग्रहवर्मा के बयपन के दोस्त दिवाकर मित्र जो बौद्ध भिक्षु बनकर विंध्य के जंगलों में रह रहा था के सहयोग से हर्षवर्धन ने राज्यश्री को खोज लिया। जब राज्यश्री मिली तब वह अपनी जीवनलीला समाप्त करने के लिए अग्नि में प्रवेश कर रही थी। किसी भी प्रकार से हर्ष और दिवाकरमित्र राज्यश्री को समझाने में सफल रहे। अब हर्ष ने आगे बढ़कर कन्नौज पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। हर्ष अपनी बहिन राज्यश्री के साथ कन्नौज का शासन करने लगा। चीनी स्त्रोत शे-किअ-फेंग-चे से सभी ज्ञात है कि हर्ष अपनी बहिन की सहायता से कन्नौज का शासन संचालन कर रहा था। अब हर्ष थानेश्वर और कन्नौज दोनों का शासक बन गया था, कालान्तर में हर्षवर्धन ने थानेश्वर के स्थान पर कन्नौज को ही अपनी राजधानी बनाया और समस्त उपलब्धियाँ कन्नौज के शासक के रूप में ही प्राप्त की।

गुप्तकाल की अनेक प्रवृत्तियां हर्ष के काल में भी दिखाई देती हैं विशेषकर साहित्य के क्षेत्र में इस काल में अत्यधिक चेतना दिखाई देती है। प्राचीन भारत की इस सांस्कृतिक विरासत के विविध पहलुओं का हम इस इकाई में अध्ययन करेंगे।

6.2 उद्देश्य

पिछली इकाइयों में आपको गुप्तकालीन इतिहास के विविध पक्षों की जानकारी दी गयी थी और आपको उक्त से संबंधित जानकारी हो पायी।इस इकाई का उद्देश्य हर्षकालीन सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों से संबंधित तथ्यों से अवगत कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आपको हर्षकालीन सांस्कृतिक उपलब्धियां के विषय में जानकारी हो सकेगी-

हर्षकालीन सामाजिक जीवन

व्हेनसांग के अनुसार हर्ष के काल में भी समाज में परम्परागत चार जातियां - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विद्यमान थीं, इनके अलावा व्हेनसांग कुछ मिश्रित जातियों का भी उल्लेख करता है। अनुलोम और प्रतिलोम

विवाहों के कारण मिश्रित जातियों की संख्या भी बढ़ी थी, मिश्रित जातियां व्यवसायों के विविधीकरण और परिवर्तन के कारण भी अस्तित्व में आयीं थीं। व्हेनसांग समाज में अछूतों के अस्तित्व की भी जानकारी देता है।

समाज में प्रमुख रूप से स्वजातीय विवाहों की मान्यता थी और इन्हीं का प्रचलन अधिक था, लेकिन अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के उदाहरण भी इस काल में मिलते हैं। उच्च वर्ण के लोगों में पुनर्विवाह पूर्णत: निषेध था लेकिन निम्न वर्ण में यह प्रथा विद्यमान मिलती है। उच्च वर्ण में अनेक पत्नी रखने या बहु पत्नी प्रथा प्रचलित थी। उच्च वर्ण में सती प्रथा का प्रचलन भी दिखायी देता है। उच्च वर्ग में स्त्रिों को गायन, वादन एवं नृत्य की शिक्षा के साथ ही गृह उपयोगी कार्यों की शिक्षा दी जाती थी, पर्दे की प्रथा का अस्तित्व मिलता है, हालांकि राजश्री का अपने भाई महाराज हर्ष के साथ राजदरबार में बिना पर्दे के बैठने का उदाहरण भी प्राप्त है। हर्ष स्वयं बड़ा विद्वान था उसे शिक्षा से अनुराग था, उस काल में शिक्षा प्राय: ब्राह्मणों एवं बौद्ध भिक्षुओं द्वारा दी जाती थी। अनेक मठ एवं विहार शिक्षा के केन्द्र थे। नालंदा विश्वविद्यालय इस समय शिक्षा के एक बहुत बढ़े केन्द्र के रूप में विकसित हो चला था, जहां भारत के कोने-कोने से ही नहीं वरन् व्हेनसांग की जीवनी के अनुसार चीन, तिब्बत, कोरिया, बुखारा आदि विश्व के अनेक देशों से शिक्षार्थी अध्ययन के लिए आते थे। इस विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम के अंतर्गत महायान तथा अन्य 18 अन्य सम्प्रदायों के साहित्य, शब्द विद्या, हेतु विद्या, चिकित्सा, अथर्ववेद, सांख्य, आदि का अध्ययन-अध्यापन होता था। इस विश्वविद्यालय के तीन पुस्तकालय भी प्रसिद्ध हैं जिनका नाम , रत्नसागर,रत्नोदधि, तथा रत्नरंजक थे।

तत्कालीन साहित्यिक प्रमाणों से पता चलता है कि राज परिवार और उसके उच्च अधिकारियों का जीवन सामान्य काल में आमोद- प्रमोद में व्यतीत होता था। विविध प्रकार के पुष्प, सुगन्धित पदार्थों एवं विविध प्रलेपनों का प्रयोग किया जाता था। अनेक प्रकार के नृत्य एवं संगीत का आयोजन होता रहता था। सोना,चांदी, मोती-माणिक्य एवं अनेक प्रकार के रत्नों से विविध प्रकारके आभूषण बनाये जाते थे और स्त्री एवं पुरूष समान रूप से उन्हें धारण करते थे। रेशमीएवं सूती दोनों प्रकार के कपड़ों का प्रचलन था, वस्त्रों को रंगने का प्रचलन भी था, लेकिन बहुधा सफेध वस्त्रों का अधिक मान किया जाता था। सामान्यत: धोती(अधोवस्त्र) और उत्तरीय पुरूषों द्वारा पहना जाता था। स्त्रियां धोती पहनती थीं जो दोनों कन्धों को ढके रहती थी। उच्च वर्ण के लोग सिर में पगढ़ी धारण करते थे। मनोरंजन के अनेक प्रकार के साधन थे। द्यूत क्रिड़ा प्रचलित थी, चतुरंगएवं पांसे का खेल खेला जाता था। गांवों में नट, नर्तक, वादक, प्लवक आदि अपनी कला दिखाते थे। नगरों में रंगशाला, संगीतशाला तथा चित्रशाला का उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलता है, इससे पता चलता है कि अनेक प्रकार के नृत्य,नाटक एवं संगीत का आयोजन होता रहता था।

हर्ष के काल में खानपान सजातीय वर्ग में ही प्रचलित था। अन्तजातीय भोजन पर प्रतिबन्ध था, दैनिक जीवन और भोजन में शुद्धता का अत्यन्त ध्यान रखा जाता था। ब्राह्मणों में मदिरा का पूर्ण निषेध था और मांसभक्षण को भी उचित नहीं समझा जाता था। सामान्यत: गेहूं और चावल तथा विविध प्रकार की तरकारियों, दुग्ध पदार्थों एवं विभिन्न प्रकार के फलों का उपयोग किया जाता था।

6.6 हर्षकालीन सांस्कृतिक उपलब्धियां

हर्ष ने उत्तरी भारत में सैनिक विजय एवं राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने के पश्चात सांस्कृतिक विजय का अभियान प्रारंभ किया, जिसका आखों देखा वर्णन चीनी यात्री व्हेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में तो अंकित किया ही साथ ही इसका विशद वर्णन उसके जीवन वृत्त के लेखक हुई ली ने उसकी जीवनी में भी किया है।

6.6.1 कन्नौज की धर्म परिषद

643 ई0 में हर्ष ने कन्नौज में एक धर्म परिषद का आयोजन किया। इस धर्म परिषद का उद्देश्य बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों केा न केवल हीनयान के सिद्धान्तों से श्रेष्ठतर सिद्ध करना था। वरन् भारत के तत्कालीन अन्य धर्मों में भी उसे सर्वोच्च स्थान प्रदान करना था। धर्म परिषद समारोह का प्रारंभ बुद्ध की मूर्ति की एक विशाल शोभा यात्रा के साथ हुआ। धर्म परिषद का अध्यक्ष पद व्हेनसांग को दिया गया जिसने महायान की प्रशंसा में एक भाषण दिया और वाद विवाद का षिषय निर्धारित किया। प्रतीत होता है कि वाद विवाद के लिए विरोधियों को आमंत्रित तो किया गया, परन्तु विवाद की शर्तें न्यायसंगत न थीं राजा इस बात के लिए कृत संकल्प था कि उसका कृपापात्र शास्त्रार्थ में पराजित ना हो पाये। हर्ष द्वारा महायान का पक्ष लेने के कारण इस धर्म परिषद में षडयन्त्र भी रचा गया, सी-यू-की इस षडयंत्र को सम्राट के विरूद्ध और जीवनी व्हेनसांग के विरूद्ध बतलाती है। इस धर्म परिषद की कार्यवाही इक्कीस या तेईस दिन चली थी।

6.6.2 प्रयाग का पंचवर्षीय दानोत्सव (मोक्ष-परिषद्)

हर्ष के शासन का दूसरा महत्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य प्रयाग के पंचवर्षीय दानोत्सव)मोक्ष-परिषद् (का आयोजन था। व्हेनसांग ने हर्ष के इस छठे पंचवर्षीय दानोत्सव का वर्णन किया है। यह आयोजन तीर्थराज प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम में किया गया था, तथा इस परिषद में हर्ष तथा व्हेनसांग के अठारह राजसी मित्रों के अलावा लगभग 500000 व्यक्तियों ने भाग लिया। 75 दिनों तक चलने वाली इस परिषद में हर्ष ने पांच वर्ष का संचित सभी धन दान में दे दिया, घोडों, हाथियों और सैनिक उपकरण के अतिरिक्त जो रक्षा तथा व्यवस्था के लिए आवश्यक थे शेष कुछ भी न बचा। हर्ष ने स्वयं राज्य श्री से पुराने वस्त्र मांगकर दस दिशाओं के बुद्धों की पूजा की। हर्ष द्वारा आयोजित यह पचहत्तर दिवसीय दानोत्सव इतिहास में अपने ढंग का बेजोड कार्य है। हमें किसी राजा का ज्ञान नहीं जिसके मानवता का कष्ट निवारण के लिए सर्वस्व दान दिया हो।

6.6.3 जनहितकारी कार्य

हर्ष ने जनहितकारी कार्यों में भी विशेष रूचि ली और प्रजा के भौतिक उत्थान तथा सांस्कृतिक विकास में हाथ बंटाया। उसने सम्राट अशोक के आदर्श पर यात्रियों, निर्धनों तथा रोगियों के हित के लिए सारे साम्राज्य में अनेक परोपकारी संस्थाऐं स्थापित कीं। शहरों और देहातों में धर्मशालायें बनवाई गयी, खाद्य एवं पेय वस्तुओं तथा बिना किसी बन्धन के बीमारों की सेवा के लिए वैद्य की व्यवस्था की। हर्ष सही अर्थ में राजा था और प्रजा का रंजन ही उसके जीवन का प्रमुख लक्ष्य बन गया था।

6.6.4 विद्या व्यसनी एवं विद्वानों का आश्रयदाता

हर्ष महान विद्या व्यसनी एवं विद्वानों का आश्रयदाता भी था। बाण ने अपने आश्रयदाता के साहित्य प्रेम का विशद् वर्णन किया है ।हर्ष के दरबारी कवियों में सर्वश्रेष्ठ महाकवि बाण था, जिसने ''हर्षचरित'' एवं ''कादम्बरी'' की रचना की, उसे ''चण्डी शतक'' का रचयिता भी माना जाता है। अन्य कवियों में मयूर एवं मातंग दिवाकर का नाम प्रमुख है। मयूर ने मयूर शतक और सूर्य शतक की रचना की। बाण का पुत्र भूषण भटट भी हर्ष के दरबार का एक अन्य रत्न था, उसने अपने पिता की मृत्यु के बाद ''कादम्बरी'' को पूरा किया। अभिलेखीय साक्ष्य से ज्ञात होता है कि हर्ष ने हरिदत्त नामक एक विद्वान को सम्मानित किया था। भारवि, कुमारदास, रविकीर्ति तथा वसुबन्धु इस काल की अन्य विभूतियां थीं। वस्तुतः विद्या एवं विद्वानों के प्रति हर्ष का प्रेम एवं सम्मान इससे भी स्पष्ट होता है कि वह राजकीय आय का चतुर्थ भाग विद्वानों को सम्मानित करने में व्यय करता था। विद्या के क्षेत्र में उसकी दानशीलता का दूसरा उदाहरण नालन्दा विश्वविद्यालय हैं, जहॉ न केवल निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी , वरन् वहॉ के समस्त निवासियों के लिए निःशुल्क भोजन, वस्त्र, आवास एवं चिकित्सा आदि की व्यवस्था भी थी। व्हेनसांग के अनुसार देश के राजा ने उस विश्वविद्यालय के व्यय के लिए सौ गांवों का राजस्व दान में दे रखा था। स्पष्टतः यह राजा हर्ष ही था । जयदेव ने अपने ग्रन्थ ''प्रसन्नराघव'' में महाकवि भास एवं कालिदास के साथ ही हर्ष को भी पूर्ववर्ती महान् कवियों में स्थान दिया है। साधारणतः हर्ष को, ''प्रियदर्शिका, रत्नावली एवं नागानन्द का प्रणेता स्वीकार किया जाता है। साथ ही सुप्रभातस्तोत्रम् तथा अष्टमहाभिचैत्यसंस्कृतस्तोत्रम् की रचना का श्रेय भी हर्ष को दिया जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार मधुबन एवं बांसखेडा के ताम्रपत्र भी हर्ष द्वारा लिखित थे। अतः कहा जा सकता है कि हर्ष विद्वानों का आश्रयदाता ही नहीं वरन् स्वयं भी विद्वान था।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1- 543 ई0 में हर्ष ने कन्नौज में एक धर्म परिषद का आयोजन किया था

2- व्हेनसांग ने हर्ष के छठे पंचवर्षीय दानोत्सव का वर्णन किया है

3- हर्ष ने''हर्षचरित'' एवं ''कादम्बरी'' की रचना की थी

6.7 सारांश

हर्ष का काल शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, नालन्दा विश्वविद्यालय के साथ ही इस काल में बनारस, बल्लभी, नासिक आदि में भी विश्वविद्यालय थे। शैक्षिक विकास के कारण ही हमें इस काल में विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण विकास दिखाई देता है। गुप्त काल से चल रहे सास्कृतिक विकास को हर्ष ने जारी रखा, प्रजा का रंजन ही उसके जीवन का प्रमुख लक्ष्य बन गया था। हर्ष विद्वानों का आश्रयदाता ही नहीं वरन् स्वयं भी विद्वान था। उसकी दानशीलता भी प्रसिद्ध थी , हमें किसी राजा का ज्ञान नहीं जिसके मानवता का कष्ट निवारण के लिए सर्वस्व दान

दिया हो। गुप्तकालीन एवं हर्षकालीन सांस्कृतिक जीवन के उपरोक्त विविध पक्षों से संबंधित तथ्यों से अवगत होने के उपरांत हम कह सकते हैं कि हर्ष के काल में भारत का सांस्कृतिक दृष्टि से विकास हुआ था।

व्हेनसांग का कथन है कि इस समय भारतमें बौद्ध धर्म का निश्चित रूप से पतन हो रहा था यद्यपि अपने शासनकाल के उत्तरांश में हर्ष तीव्रता के साथ उसके प्रभाव में आ गया। अब उत्तरकालीन हिन्दु धम्र के कुछ तत्व जिनके गुप्त शासनकाल में कोई चिह्न विद्यमान नहीं थे, उग्र रूप में दिखाई पड़े। तांत्रिक उपासना का उदय तथा ऐसी ही अन्य प्रथाएं जैसे सती स्पष्ट करती है कि सांस्कृतिक पतन प्रारंभ हो चुका था। अनुशासन एवं व्यवस्था उतने सुसंगठित नहीं रहे थे जैसे गुप्तकाल में थे क्योंकि फाह्यानकी तुलना में जो भारत की शान्तिमय तथा सुव्यवस्थित दशा से इतना प्रभावित था, व्हेनसांग हर्ष के राज्य में दो बार लुटेरों द्वारा लूट लिया गया तथा एक अवसर पर वह साम्राज्य के केन्द्र में ही नदी तट के लुटेरों द्वारा लगभग दुर्गा माता की भेंट ही चढ़ा दिया गया था।

6.8 तकनीकी शब्दावली

दानोत्सव -दान से संबंधित उत्सव

महायान -बौद्ध धर्म का एक संप्रदाय

6.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

भाग 6.6 के प्रश्न 1 का उत्तर -असत्य

भाग 6.6 के प्रश्न 2 का उत्तर -सत्य

भाग 6.6 के प्रश्न 3 का उत्तर -असत्य

6.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

महाजन विद्याधर: प्राचीन भारत का इतिहास

बाशम,ए.एल.: अद्भुत भारत, शिवलाल एण्ड कम्पनी, आगरा

Basham, A.L. : The Origin and Development of Classical, Hinduism ,new Delhi,

Majumdar , R.C.: Age of Imperial Kanauj, Bombay, Bhartiya Vidya Bhawan 1955

Sharma, Baijnath ; Harsha and His Times, Varanasi, Sushama Prakashan.

Tripathi, R.S. : History of Kanauj,Delhi, Motilal, Banarasidas,1964.

6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

Majumdar , R.C.: Age of Imperial Kanauj, Bombay, Bhartiya Vidya Bhawan 1955

Sharma, Baijnath ; Harsha and His Times, Varanasi, Sushama Prakashan.

Tripathi, R.S. : History of Kanauj,Delhi, Motilal, Banarasidas,1964.

6.12 निबंधात्मक प्रश्न

1- हर्ष की सांस्कृतिक उपलब्धियों की चर्चा कीजिए।

इकाई सात : गुप्तोत्तरकालीन प्रशासन, कृषि एवं राजस्व व्यवस्था

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 पूर्व-मध्यकालीन राजव्यवस्था पर बहस

7.3.1 सामंतवादी राजव्यवस्था

7.3.2 विखंडित राजव्यवस्था

7.3.3 एकीकृत राजव्यवस्था

7.4 प्रशासनिक ढाँचा

7.4.1 राजा एवं राजत्व

7.4.2 अधिकारी-गण

7.4.3 सैन्य प्रशासन

7.4.4 चोलों का स्थानीय प्रशासन

7.5 कृषि

7.6 राजस्व व्यवस्था

7.7 स्वमूल्यांकित प्रश्न

7.8 सारांश

7.9 तकनीकी शब्दावली

7.10 संदर्भ ग्रंथ

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देश्य उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य और मध्य व दक्कनी भारत में वाकाटकों के राज्य की अवनति के बाद के काल में उभरने वाली प्रशासनिक और राजस्व की संरचना का अध्ययन करना है। हाल के समय में, इस काल को भारत के इतिहास में पूर्व-मध्यकाल के रूप में निर्धारित करने के प्रति इतिहासकार सहमति की

ओर अग्रसर हुए हैं, जिसकी विशिष्ट राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थितियाँ इतिहासकारों के बीच चर्चा का विषय रही हैं। उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य के अवसान के बाद वर्धन वंश का उदय हुआ, पश्चिम भारत में मौखरियों का और दक्षिण में मदुरै के पांड्य, काँची के पल्लव और बादामी के चालुक्य प्रमुख शक्तियों के रूप में उभरे।

इस काल को लम्बे समय तक राजनीतिक विकेंद्रीकरण के युग के रूप में देखा जाता रहा है। वहीं आर्थिक दृष्टि से इसे अवनति के काल और सामंतवाद के उदय के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है। निश्चित तौर पर इस समय कृषि का विस्तार नए क्षेत्रों में हुआ पर क्या इसने अर्थव्यवस्था के ग्रामीणीकरण को बढ़ावा दिया और किसानों की गतिशीलता को रुद्ध किया या नहीं, नगरों का पतन हुआ या नए क़िस्म का नगरीकरण हुआ, व्यापार में गिरावट आई या नहीं, ये निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता है। लेकिन ये इतिहासकारों के बीच दिलचस्प चर्चा और अनुसंधान का विषय रहा है। हाल के समय की नई दृष्टियों और इतिहासकारों के श्रमसाध्य अनुसंधान ने इस काल की सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता और सम्भावनाओं की ओर हमारा ध्यान खींचा है। इस काल में नए धार्मिक रुझानों जैसे तंत्र, शाक्त, वज्रयान और स्मार्त ब्राह्मण मतों का उदय हुआ, मूर्ति और वास्तु शिल्प की क्षेत्रीय शैलियों का विकास शुरू हुआ तथा उपमहाद्वीप की द्वितीय भाषिक क्रांति, (जैसा कि शेल्डन पॉलक ने इसे कहा है) जिसमें साहित्य तथा अभिलेखन में संस्कृत की जगह क्षेत्रीय भाषाएँ लेने लगी थीं, आकार लेने लगी थी। इस समय राजपूतों का उदय होना भी एक महत्वपूर्ण परिघटना थी।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको गुप्तोत्तर काल यानी गुप्तों के काल के बाद भारत में उभरने वाले प्रशासनिक ढाँचे से परिचित कराना है, इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- समझ पाएँगे कि राजा को कैसे प्रस्तुत किया जाता था, वह कौन सी उपाधियाँ धारण करता था, इन उपाधियों का क्या मतलब था।
- यह भी जान पाएँगे कि उस समय के प्रमुख अधिकारी कौन थे और उनके कार्य क्या थे।
- राजस्व के विभिन्न स्रोतों की जानकारी प्राप्त कर पाएँगे. जिनमें भू-राजस्व के अलावा व्यापार और उत्पादन से होने वाले राजस्व शामिल हैं।
- तत्कालीन कृषि की संरचना को समझ पाएँगे।

7.3 पूर्व-मध्यकालीन राजव्यवस्था पर बहस

गुप्तकाल के बाद भारत में किसी भी राज्य का विस्तार व्यापक क्षेत्र में नहीं था। इस समय उदित होने वाले राज्य छोटे-छोटे इलाक़ों में स्थापित थे और इसी अनुरूप इस समय कुछ विशिष्ट राजकीय और प्रशासनिक संरचनाएँ अस्तित्व में आईं। यद्यपि इनके स्वरूप को लेकर इतिहासकारों के बीच एकमत नहीं है और राजव्यवस्था

के स्वरूप को निश्चित करने के लिए तीन विशिष्ट सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है। शुरुआती इतिहासलेखन में गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद के युग को सामान्यतः अंधकार के काल और पतन के दौर के रूप में देखा गया था। बाद के मार्क्सवादी इतिहासकारों ने विस्तार से इसे सामंतवादी (फ़्यूडलिस्ट) राज्य और समाज के रूप में प्रस्तुत किया। इस सैद्धांतिक मॉडल के विरुद्ध ही अन्य संकल्पनाओं को इतिहासकारों ने आगे बढ़ाया है। राजव्यवस्था के इन तीन मॉडल के बारे में जानना काफ़ी दिलचस्प रहेगा।

7.3.1 सामंतवादी राजव्यवस्था

आर. एस. शर्मा, डी. डी. कोसांबी और बी. एन. एस. यादव इतिहासकारों ने यह दिखाया है कि गुप्तोत्तर काल में भूमि अनुदानों के परिणामस्वरूप सत्ता का विकेंद्रीकरण हुआ क्योंकि भूमि अनुदान प्राप्त करने वाली सामंतों ने न केवल भूमि को प्राप्त किया बल्कि भूमि पर वास करने वाले लोगों के ऊपर भी अधिकार प्राप्त किए इसके साथ ही राजा ने कर वसूलने, दंड लगाने और अन्य संसाधनों पर अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया और राजा के अधीनस्थ इन सामंतों को ये अधिकार प्राप्त हो गए। इन इतिहासकारों का यह मानना है कि शुरुआत में ये अनुदान केवल ब्राह्मणों को दिए जाते थे किन्तु गुप्तोत्तर काल में बड़ी संख्या में प्राप्त होने वाले ताम्रपत्र ये स्पष्ट करते हैं कि राज्य अधिकारियों को भी ये भूमि अनुदान दिए जाने लगे इसके साथ ही इस प्रकार की राजव्यवस्था में राजस्व के बँटवारे ने केंद्रीय सत्ता को कमज़ोर किया और इस तरह के विकेंद्रीकरण ने कृषि के ग्रामीणीकरण को बढ़ावा दिया, साथ ही इसके फलस्वरुप व्यापार का पतन हुआ और उत्तर भारत में नज़र आने वाले प्रमुख नगर अब अतीत का हिस्सा बनने लगे थे। इस प्रकार, राजा राजस्व और सेना के लिए अपने इन अधीनस्थ अधिकारियों पर निर्भर था और ये अधीनस्थ अपनी अधिपति की सत्ता की वाहक थे। इसके साथ ही सामंतवादी व्यवस्था में किसान अपनी भूमि से बंध गया था, उसकी गतिशीलता में कमी आई, वह अपनी ज़मीन को छोड़कर नहीं जा सकता था। इस तरह वह भूमि अनुदान प्राप्त करने वाले सामंत के अधीन हो गया था जिसके कारण कृषि की गतिशीलता में कमी आई, ऐसा इतिहासकारों का मानना है।

वस्तुतः, इन राजकीय भूमि अनुदानों से अनुदान प्राप्तकर्ताओं को भूमि की संपदा पर पूरे-पूरे अधिकार प्रदान कर दिए। यद्यपि भूमि अनुदानों का स्वरूप स्थायी और वंशानुगत था तथा सभी अनुदान राजस्व मुक्त थे, लेकिन अलग-अलग क्षेत्रों में इनके व्यवहार में हमें अंतर नजर आता है। 8वीं-12वीं सदी के बीच बिहार और बंगाल पर शासन करने वाले पालों के भूमि अनुदान अभिलेखों में स्व-सीमा-त्रिणयुति-गोचर-पर्यंत, स-तल, स-ओदेश, स-आम्रमधूक, स-जल-स्थल, स-गर्त-ओशर होने का उल्लेख किया गया है, अर्थात् भूमि के स्वामित्व के साथ-साथ इसकी सीमा में मौजूद घास, चारागाह, आम और मधुक के वृक्ष, जल और थल, बंजर और ऊसर भूमि, पोखर सभी कुछ हस्तांतरित किया गया था। भूमि अनुदान सभी करों से मुक्त तथा समस्त-भाग-भोग-कर-हिरण्य-आदि-प्रत्यय-समेत सभी करों के अधिकार के साथ दिया गया था। पाल अभिलेखों में अ-चट-भट-प्रवेश्य या राजा के स्थायी अथवा अस्थायी सैनिकों के प्रवेश निषेध के साथ अनुदान को देने की बात कही गई है।

इन अनुदान प्राप्तकर्ताओं को अनुदान क्षेत्र में न्यायिक अधिकार भी मिले, इसकी पुष्टि 'सदशापराध' अथवा 'सचौराद्धरण' जैसे प्रयुक्त शब्दों से होती है। इससे यह संकेत मिलता है कि चोरी करने वाले अपराधी को दंडित करने का अधिकार था या चोरी करने वाले अपराधियों पर आर्थिक जुर्माना लगाने का अधिकार था।

उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों से प्राप्त होने वाले अभिलेखों से अनुदान प्राप्तकर्ताओं को प्राप्त होने वाले विस्तृत अधिकारों की जानकारी मिलती है। उदाहरण के लिए, ओडिशा से प्राप्त होने वाले कुछ अभिलेखों में स-प्रद-अरण्य शब्द के आधार पर अनुदान के साथ जंगलों के उपभोग के अधिकार भी सौंपे जाने का पता चलता है। 9वीं सदी के बाद ओडिशा के अभिलेखों में में स-खेट-घट्ट नदी-तर स्थान आदि गुल्मक लिखा नजर आता है। इससे यह पता चलता है कि इन स्थान विशेष से शुल्क लेने का अधिकार तथा सैन्य छावनी या गुल्मक पर भी अधिकार का सौंप दिया जा रहा था। इन अभिलेखों में यह भी महत्त्वपूर्ण था कि बुनकर, गड़रिये, शराब बनाने वाले तथा अन्य प्रजा पर भी अनुदान पाने वालों को अधिकार प्रदान किया गया। यहां कर्नाटक के कुछ भूमि अनुदानों की भी चर्चा की जा सकती है, जिनमें भूमि के साथ-साथ अदिक या बँटाईदारों के अधिकारों को भी दान किया जाने लगा।सामंतवादी व्यवस्था का मॉडल यह व्याख्या करता है कि इन तमाम अधिकारों के सौंपे जाने ने सत्ता का विकेंद्रीकरण किया और राज्य बहुत कमज़ोर हो गया.

7.3.2 विखंडित राजव्यवस्था

राज्य के स्वरूप की व्याख्या करने के लिए दक्षिण भारत में भी उपर्युक्त सामंतवादी मॉडल का उपयोग किया किया गया है।केशवन वेलुथट तथा आर.एन. नन्दी जैसे विद्वानों ने पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत के सम्बंध में सामंतवादी मॉडल को प्रस्तावना की है।

यद्यपि शुरुआती इतिहास-लेखन में नीलकंठ शास्त्री जैसे अग्रणी विद्वानों द्वारा यत्र-तत्र बिखरे हुए स्रोतों को एकत्रित कर चोल राज्य को पूर्ण रूप से एक केंद्रीयकृत साम्राज्य के रूप में चित्रित किया गया। 1960 के दशक में इस प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना हुई, जब बर्टन स्टाईन ने 'पारंपरिक इतिहास लेखन' की प्रखर आलोचना प्रस्तुत की। स्टाईन के अनुसार दक्षिण भारतीय पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राजनीति की इस व्याख्या में राज्य को समाज तथा अर्थव्यवस्था से जोड़ने का कोई प्रयास नहीं किया गया, विशेष रूप से कृषि व्यवस्था के साथ। स्टाईन का कहना था कि एक शक्तिशाली, केंद्रीकृत, अधिकारी-तंत्र युक्त चोल राजतंत्र और मजबूत स्थानीय स्व-शासन संस्थाओं की परंपरा के बीच एक विरोधाभास नज़र आता है।केंद्रीकृत साम्राज्य का यह मॉडल इस स्थानीय संस्थाओं की स्थिति, मज़बूती और प्रकृति की उचित व्याख्या करने में असमर्थ है और नाडु, ब्रह्मदेय ग्राम, नगरम जैसी संस्थाओं की भूमिका को उचित रूप से प्रस्तुत करने में न तो यह केंद्रीकृत व्याख्या सक्षम है और नहीं सामंतवादी व्याख्या। स्टाईन के अनुसार, ऐसी विसंगति उनकी अर्थव्यवस्था की समझ के कारण नहीं, बल्कि राज्य की विशेषताओं को सही ढंग से न समझ पाने के कारण पैदा हुई थी।

स्टाईन ने जिस वैकल्पिक मॉडल को प्रस्तावित किया, उसमें आनुष्ठानिक राजतंत्र, विखंडित राज्य, कृषि समाज तथा कृषि राज्य जैसी अवधारणाएँ महत्त्वपूर्ण थीं। स्टाईन के अनुसार, दक्षिण भारत में राजतंत्र, सैद्धांतिक

और व्यावहारिक रूप से, अधिकारी तंत्र अथवा शक्तिशाली राजतंत्र के स्थान पर पवित्र या आनुष्ठानिक राजतंत्र को प्रतिबिम्बित करते हैं। केवल नाभिकीय क्षेत्र या केंद्रीय क्षेत्र में ही शासकों का प्रजा अथवा संसाधनों पर प्रभावशाली नियंत्रण सीमित था, अर्थात् चोल शासकों का वास्तविक नियंत्रण कावेरी नदी घाटी और चोलमंडलम में ही था तथा इन केंद्रों की बाहरी परिधि में इन शासकों का केवल आनुष्ठानिक महत्त्व था। भूमि पर लगाया गया राजस्व केवल एक सीमित क्षेत्र से नियमित रूप से वसूल किया जा रहा था, अन्यथा ये राज्य बलपूर्वक सैन्य अभियानों से अर्जित सम्पदा पर आश्रित थे। स्टाईन चोल साम्राज्य में एक विकसित अधिकारी तंत्र की मौजूदगी से भी इंकार करते हैं।अतः स्थानीय स्तर पर ये शासक अपनी उपस्थिति और नियंत्रण का उपभोग करने में असमर्थ थे। किसी भी प्रकार के महत्त्वपूर्ण अधिकारी-तंत्र, राजस्व वसूलने की प्रणाली अथवा स्थायी सेना के अभाव में केंद्रीकृत चोल साम्राज्य की अवधारणा को ग्रहण करना सम्भव नहीं है। स्पष्टतः, स्टाईन का मानना है कि दो आधारभूत तत्वों अर्थात राजस्व वसूली की प्रणाली और इस स्थायी सेना का अभाव चोल साम्राज्य को एक केंद्रीकृत राज्य के रूप में देखने को असंभव बनाता है।

स्टाईन की इस व्याख्या की कड़ी आलोचना हुई है, क्योंकि वे चोल साम्राज्य की व्यापक सैन्य सफलताओं और बाद के समय में भूमि सर्वेक्षण के माध्यम से राजस्व वसूली के लिए एक युक्तियुक्त प्रणाली की स्थापना को बिल्कुल नज़रअंदाज़ कर देते हैं। काराशीमा ने चोल अभिलेखों में अनेक ऐसी उपाधियों की ओर संकेत किया है जो चोल पदाधिकारियों का उल्लेख करती हैं, तथा इनसे चोल शासकों के द्वारा प्रशासन के केंद्रीकरण के प्रयत्न का भी संकेत मिलता है। हीट्ज़मैन ने भी चोल अभिलेखों में वर्णित कर सम्बंधित शब्दावलियों तथा कार्यकारी पदवियों का अध्ययन किया है। 1000 ईसवी से, संपूर्ण चोलमंडलम् में राजकीय भू-राजस्व अधिकारियों की एक व्यवस्थित संरचना, ग्रामीण परिदृश्य में अपनी नियमित उपस्थिति दर्ज कराने लगा था। चोल शासकों के द्वारा भूमि-कर की व्यवस्था को दिशा देने और पुनर्व्यवस्थित करने में व्यक्तिगत रुचि दिखलाई जा रही थी। ग्रामीण स्तर पर निगमों जैसे संगठनों का अस्तित्व किसी भी तरह यह संकेत नहीं देता कि कृषक वर्ग उच्च स्तरीय राजनीतिक शक्ति का प्रयोग कर रहा था।

7.3.3 एकीकृत राजव्यवस्था

गुप्तोत्तर काल के लिए एक अन्य वैकल्पिक व्याख्या भी दी गई है, जिसके अनुसार इन शताब्दियों में क्षेत्रीय स्तर पर राज्यों की स्थापना हुई और उनका विस्तार हुआ।इस समय राज्य-समाज का नए क्षेत्रों में विस्तार हुआ। इसके साथ ही यह अवधारणा पूर्व मध्ययुग को नगरीय परिवर्तन के दौर के रूप में देखती है, न कि नगरीय पतन के। इस व्याख्या से जुड़े प्रारंभिक इतिहास लेखन ने अखिल भारतीय या कम से कम अंतर-क्षेत्रीय प्रतिमानों पर बल दिया था, जबकि वर्तमान के इतिहास-लेखन में क्षेत्रीय तथा उप-क्षेत्रीय विशिष्टताओं और विविधताओं की ओर ध्यान दिया जा रहा है।

बी. डी. चट्टोपाध्याय ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि राजपूतों का अभ्युदय, पूर्व मध्यकालीन भारत में वंश-आधारित राज्यों की प्रचलित प्रक्रिया का ही विस्तार था। उन वंशों को जो बाद में राजपूत के रूप में

प्रतिष्ठित हुए, उनके अभ्युदय को अनेक प्रकार के कारकों के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है, जिसमें कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था का विस्तार, भूमि वितरण की नई व्यवस्थाएँ (जिसमें राज-परिवारों के सदस्यों के बीच भूमि वितरण भी सम्मिलित था), विभिन्न कुलों के बीच राजनीतिक और वैवाहिक संधियों के आधार पर बन रही सहकारिता तथा अभूतपूर्व स्तर पर किए जा रहे किलों, दुर्गों और गढ़ों का निर्माण इत्यादि शामिल था।इस व्याख्या के अनुसार भूमि अनुदानों के फलस्वरूप नए क्षेत्रों में कृषि का विस्तार हुआ, वहाँ ब्राह्मणों को बसाकर खेती की प्रणाली को बढ़ावा दिया गया, सिंचाई का विस्तार किया गया और इस प्रकार नए क्षेत्रों के उपनिवेशीकरण ने उप-महाद्वीप के नई क्षेत्रों में नए राजवंशों को स्थापित किया, अक्सर इन राजवंशों की उत्पत्ति जनजातीय और स्थानीय आधार से हुई थी।

राजतंत्रों की स्थापना और उनको वैधतापूर्ण अस्तित्व प्रदान करने के दृष्टिकोण से ब्राह्मणों को दिया जाने वाला संरक्षण महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि सामाजिक वर्ग के रूप में ब्राह्मणों को सामाजिक-धार्मिक विशेषाधिकार पारंपरिक रूप से प्राप्त थे और उनको दिए गए अनुदान किसी दृष्टि से अत्यधिक शासक के लिए वित्तीय कमजोरी या नियंत्रण में कमी का परिचायक नहीं थे। वास्तव में शासकों द्वारा दान दी गई ऐसे क्षेत्रों में थी जहां से राजस्व उगाहना ज्यादातर कठिन रहा था। जहां तक विशाल तथा स्थापित राज्यों का प्रश्न था, तो इतनी मात्रा में दिया जाने वाला अनुदान कहीं से राजकीय राजस्व को प्रभावित नहीं करता था। सच तो यह है कि अधिकांश भूमि अनुदान या प्रायः सभी बड़े अनुदान जो ब्राह्मणों या धार्मिक संस्थानों को दिए गए थे, वे सबसे प्रभावशाली राजतंत्रों अथवा शासकों के द्वारा ज़ारी किए गए थे।सामंतवादी व्याख्या के विपरीत, इस प्रकार राजकीय भूमि अनुदानों की संख्या में यह वृद्धि, इस काल में पिछले किसी भी काल की तुलना में, उत्पादन के साधनों पर शासकों के बढ़ते हुए नियंत्रण का संकेत करती है। समाज के विशेषाधिकार प्राप्त समुदायों पर नियंत्रण, उनके सहयोग और सहकारिता की रणनीतियाँ इस युग की राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा थीं।किसी भी तरह ब्राह्मणों के एक वर्ग की संपत्ति और शक्ति में वृद्धि अथवा मंदिरों जैसी संस्थाओं का उत्कर्ष राजतंत्रीय शक्ति की क़ीमत पर नहीं हो रहा था।

ब्राह्मणों का इस काल में नए क्षेत्रों में में आप्रव्रजन हुआ था और उनकी क्षेत्रीय गतिशीलता महत्त्वपूर्ण रूप से देखी जा सकती है। 16वीं सदी के केरलोत्पत्ति में मूल रूप से केरल की 32 बस्तियों का उल्लेख किया गया है, जो संभवतः पूर्व मध्ययुग की परिस्थितियों की ओर संकेत करती हैं। बंगाल के मध्ययुगीन कुलजी ग्रंथों में बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों को पांच कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की संतति बताया गया है, जिन्हें राजा आदिसुर के द्वारा बंगाल के ब्राह्मणों को परिष्कृत वैदिक अनुष्ठानों के निष्पादन हेतु प्रशिक्षित करने के लिए आमंत्रित किया गया था। पूर्व मध्यकाल में भी ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा उनके वैदिक ज्ञान पर आश्रित थी और ब्राह्मणों का मध्य-देश (मध्य गंगा नदी घाटी क्षेत्र) से पूर्वी क्षेत्रों में प्रव्रजन हो रहा था।

5वीं सदी के बाद से ही उपलब्ध पर्याप्त अभिलेखीय प्रमाण के आधार पर कहा जा सकता है कि मध्य-देश से ब्राह्मणों का महाराष्ट्र, बंगाल, मध्य प्रदेश, तथा ओडिशा में प्रव्रजन हो रहा था। इनमें से कई ब्राह्मण टकारी, श्रावस्ती, कोलन्या और हस्तिपद जैसे ब्राह्मण शिक्षा के विख्यात केंद्रों से आ रहे थे। आठवीं सदी में ब्राह्मणों की

यह गतिशीलता पराकाष्ठा पर थी। उपमहाद्वीप के विभिन्न हिस्सों में ब्राह्मणों की आवश्यकता इन क्षेत्रों में उभरकर आ रहे समुदायों को यथोचित सामाजिक वैधानिकता हासिल करने के लिए महत्वपूर्ण थी। इस प्रकार एकीकृत राज्य का यह मॉडल प्रतिपादित करता है कि नए क्षेत्रों में ब्राह्मणों की बसावट और वहाँ के जनजातीय और स्थानीय समाज में पैदा हुई गतिशीलता ने राज्य-समाज का विस्तार किया न कि उसको कमज़ोर बनाया। अब तक मुख्य परम्परा से दूर रहे जनजातीय समाजों का न केवल कृषिकरण हुआ, बल्कि उनका हिंदू धर्म में समावेश भी हुआ।

7.4 प्रशासनिक संरचना

उत्तर भारत में हर्ष के प्रशासन के विषय में हमारे पास जानकारी सीमित ही है, ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में भी गुप्तकालीन आधिकारिक पदों व परंपराओं को जारी रखा गया। राजा सर्वोच्च होता था और इसके अधीनस्थ अधिकारी होते थे, यद्यपि इस समय राजा के अधीनस्थ भी अच्छी-ख़ासी शक्ति का उपभोग कर रहे थे।हम यहाँ हर्ष के साथ-साथ अन्य राजतंत्रों में प्रचलित प्रशासन की विवेचना करेंगे।

7.4.1 राजा और राजत्व

राज सर्वशक्तिमान होता था। वह न्याय तथा व्यवस्था के मामले में सर्वोपरि होने के साथ ही सेना का भी सर्वोच्च नायक था। ऐसी स्थिति में वह व्यवहार में निरंकुश भी हो सकता था। उस पर योग्य तथा अनुभवी मंत्रियों का नियंत्रण नैतिक स्तर तक ही सीमित था।वैदिक परंपरा, महाभारत, रामायण, स्मृतियाँ तथा उन पर लिखे गए भाष्य, पुराण, अनेक प्रकार की नीतिशास्त्रीय और अर्थशास्त्रीय मान्यताएँ राजा का मार्ग निर्दिष्ट करती थीं और कुछ सीमा तक उस पर अंकुश भी रखती थीं। लोक-धर्म, श्रेणी के नियम तथा स्थानीय परंपराओं का बहिष्कार राजा के लिए सदैव सरल नहीं होता था। व्यवहार में राजा तथा राज्य का अस्तित्व सैनिक शक्ति पर ही आधारित था।

राजनीतिक सर्वोच्चता राजा द्वारा प्रयुक्त तीन उपाधियों के प्रयोग से प्रतिबिम्बित होती है और आम तौर पर अभिलेखों में इन तीनों को एक साथ अंकित किया जाता था-महाराजाधिराज, परमेश्वर और परमभट्टारक। सर्वोच्च सत्ता का उपभोग करने वाले शासक के विषय में कई बार यह वर्णन उपलब्ध होता है कि वह सामंतों अथवा अधीनस्थ शासकों के समूह के समर्थन पर निर्भर था। महाराज, सामंत, महासामंत राणक तथा महासामंताधिपति इत्यादि इन अधीनस्थ शासकों के लिए प्रयुक्त होने वाली उपाधियां थीं। वैसे शासकों के सम्बंध में अक्सर यह वर्णन मिलता है कि उन्हें पांच महान शब्दों का विशेषाधिकार है (समधिगत-पंच महाशब्द)। स्पष्टतः उन्हें पांच वाद्ययंत्रों का संगीत सुनने का विशेषाधिकार प्राप्त था। इनके द्वारा अपने अधिपति सम्राट के राज्य-सम्वत् का प्रयोग तथा अधिराज के चरणकमलों में समर्पण का उल्लेख, उनकी अधीनस्थ अवस्था को इंगित करता है।बड़े भूमि पति वर्ग ने राजकीय भूमि अनुदानों से जन्म लिया था और उन्हीं के द्वारा वह पोषित भी हो रहा था। इस काल में उदित होने वाली नवीन राजनीतिक कुलीन वर्ग का भूमि पति समूह के साथ घनिष्ठ संबंध था जहाँ भूमि धारण करने वाले वर्ग ने राजकीय भूमि अनुदानों के माध्यम से जन्म लिया था, वहीं राजकीय सत्ता इसी वर्ग पर निर्भर भी थी।

जनजाति और ब्राह्मण संस्कृतियों के बीच होने वाली आदान प्रदान ने भी इस काल में राजनीतिक सत्ता को प्रभावित किया है हम देखते हैं कि राज्य निर्माण की प्रक्रिया में कई जनजाति समुदायों का विस्थापन और संगठन हुआ। राजवंशों के नाम, उनसे जुड़ी किंवदंतियाँ और उनके द्वारा पूजित स्थानीय देवी-देवताओं के नामों से यह स्पष्ट होता है कि इनमें से कुछ शासक वास्तव में ऐसे जनजाति सरदार रहे होंगे जिन्होंने इन परिस्थितियों में सफलता हासिल की थी और उनका राजनीतीकरण के साथ-साथ उनका ब्राह्मणीकरण भी हुआ। उड़ीसा के इतिहास में जनजातीय तत्वों का महत्व जगन्नाथ संप्रदाय की केंद्रीय स्थिति से स्पष्ट होता है, जिसका स्पष्ट रूप से एक जनजाति परिप्रेक्ष्य था।

पूर्व मध्ययुगीन समाज की प्रकृति मूलतः पितृसत्तात्मक थी, लेकिन इस काल में रानियों को राजगद्दी का उत्तराधिकार सौंपे जाने के भी उदाहरण मिलते हैं। दिद्दा, यशोवती और सुगंधा कश्मीर की तीन प्रसिद्ध रानियां हुई। चन्द्रादित्य की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी विजयामहादेवी ने पूर्वी चालुक्यों के शासन की बागडोर सम्भाली। इसी प्रकार दिवाबरसी नाम की एक कदम्ब राजमाता ने तब तक राज्य चलाया जब तक युवराज बालिग नहीं हुआ।ओडिशा के भौम कर राजवंश के इतिहास में एक से अधिक महिलाओं द्वारा शासन की बागडोर संभालने का उल्लेख मिलता है। सामंतों के आग्रह पर पृथ्वी महादेवी, जिसे त्रिभुवन महादेवी के नाम से भी ख्याति मिली थी, ने राजगद्दी संभाली थी। भौम-कर महारानियों में दण्डिमहादेवी, धर्म महादेवी तथा वल्कुल महादेवी के नाम भी मिलते हैं, जिन्होंने राजकाज किया था।। भौम-कर रानियों के लिए साम्राज्यिक उपाधियों का स्त्रैण रूपांतर प्रयोग प्रयुक्त हुआ, परमभट्टारिका तथा महाराजाधिराजा और परमेश्वरी। इसी प्रकार रुद्रमादेवी, 13वीं शताब्दी के आंध्र देश की एक काकतीय रानी थी, जिसको उसके पिता ने अपने उत्तराधिकारीके रूप में चुना था। इन उदाहरणों से निष्कर्ष निकलता है कि हालाँकि पूर्व मध्यकालीन भारत में शक्ति सामान्य रूप से पुरुषों के हाथों में निहित थी, लेकिन विशेष परिस्थितियों में महिलाओं को भी शक्ति हस्तांतरित की जा सकती थी।

7.4.2 अधिकारी-गण

राजा राजकार्य के संचालन के लिए मंत्रियों को नियुक्त करता था और अपनी इच्छानुसार उन्हें हटा भी सकता था। अभिलेखों में अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें पिता के बाद लड़के की उसी पद पर नियुक्ति हो जाती थी अर्थात मंत्रियों के पदों के भी वंशानुगत होने की प्रवृत्ति आ चुकी थी। पाल वंश के धर्मपाल से नारायणपाल तक एक ब्राह्मण परिवार के वंशानुगत उच्च पद पर नियुक्त होते जाने का उदाहरण मिलता है। मंत्रियों की संख्या निश्चित नहीं थी। राजा मंत्रियों से अलग-अलग अथवा समवेत रूप से मंत्रणा करता था। कभी-कभी उनमें एक महामंत्री या राजामात्य (प्रधानमंत्री) होता था। मंत्रियों के विशिष्ट विभाग होते थे जिनकी कार्य-व्यवस्था वे राजा के आदेशानुसार करते थे।

प्रतिहार ताम्रपत्रों तथा अभिलेखों के अनुसार गृहराज्य पर सम्राट का सीधा शासन होता था। शेष साम्राज्य भुक्तियों (प्रांतों) में, भुक्ति मंडलों (जिलों) में और मंडल विषयों (तहसीलों) में विभक्त थे।चोलों का राज्य मंडलों, वलनाडु और नाडु में विभाजित था, जिनके अंतर्गत कुर्रम या कोट्टम थे जिनमें अनेक स्वशासित ग्राम होते थे।भोज

प्रथम के प्रतिहार कालीन ग्वालियर प्रशासन में दुर्ग के अधिकारी कोट्टपाल (अपभ्रंश,कोतवाल), बलाधिकृत के साथ ही दो श्रेष्ठिन (श्रेणी के प्रधान) तथा सार्थवाह (व्यापारिक कारवाँ यानी सार्थ के प्रधान) की एक समिति भी थी। इसमें हम अन्य नगरों के प्रशासकीय ढाँचे का भी अनुमान लगा सकते हैं। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि नगर-प्रशासन में व्यापारी वर्ग के साथ ही अन्य क्षेत्रों से व्यापारिक संबंध का भी महत्व था। अभिलेखों तथा तत्कालीन साहित्य में केंद्रीय शासन से संबद्ध अनेक पदाधिकारियों का उल्लेख है, जैसे सांधिविग्रहिक (विदेशी विभाग का प्रधान), अक्षपटलिक (आर्थिक या राजस्व मंत्री), भांडागारिक (राजकीय भंडार का अधिकारी), महाप्रतिहार (राजा का व्यक्तिगत अंगरक्षक तथा राज प्रासाद का रक्षक), महादंडनायक (पुलिस विभाग का प्रधान), धर्मस्थीय (न्याय विभाग का प्रधान), सेनापति के अतिरिक्त युवराज, प्रांतीय शासक सामंत इत्यादि । बाण ने वनपालों (वनरक्षक) का उल्लेख किया है। सर्व-पल्ली पति (सभी गांवों का प्रमुख) नाम के एक अधिकारी का भी उल्लेख आया है।

चोल प्रशासन में प्रशासनिक अधिकारियों के लिए आराइयन उपाधि सम्मानित व्यक्तियों को दी जाती थी। उडईयन, बेलन तथा मुर्वेदवेलन जैसी उपाधियां भी दरबार से जुड़े अधिकारियों को दी जाती थी। नाडु (स्थानीय स्तर पर) अधिकारियों में नाडु वगाई, नाडु-काकनी-नायकम, नाडु-कुरू तथा कोट्टम-वगाई शामिल थे। इनमें से सभी अधिकारियों के दायित्व स्पष्ट नहीं है, तथा ऐसा प्रतीत होता है कि इनके कार्य एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं थे। सरकारी नियुक्तियों में वंशानुगत प्रभार का सिद्धांत भी परिलक्षित होता है।

7.4.3 सैन्य प्रशासन

इस काल में सेना का स्वरूप क्या था, इस पर संक्षेप में चर्चा की जा रही है। इस युग में होने वाले अहर्निश युद्धों से यह स्पष्ट होता है कि दमनात्मक शक्ति और समकालीन राजनीति से सामरिक शक्ति का महत्त्व था।ह्वेनसांग ने हर्ष के सैन्य संगठन का परंपरात्मक वर्णन किया है, जिसमें पैदल सेना, अश्व सेना, रथ सेना और हाथियों की सेना का उल्लेख है। बाँसखेड़ा और मधुबन अभिलेखों में राजा के विजय स्कन्धावरों का वर्णन है, जहां नाव, हाथी और घोड़े भी होते थे। केंद्रीय सैन्य संगठनों के साथ-साथ सम्राटों की सामरिक ताक़त भाड़े के सैनिकों पर भी आश्रित थी। उदाहरण के लिए, बिहार और बंगाल से प्राप्त होने वाले पाल शासकों द्वारा निर्गत अभिलेखों में गौड़, मालव, खास, कुलिक, हुण, कर्णाट तथा लाट के भर्ती किए गए सैनिकों का उल्लेख है। राजतरंगिणी में भी कश्मीर के शासकों के द्वारा अन्य क्षेत्रों से नियुक्त किए गए भाड़े के सैनिकों का वर्णन मिलता है। स्थायी तथा भाड़े पर बहाल किए गए सैनिकों के अलावा ज़रूरत के हिसाब से, सहयोगी और अधीनस्थ शासकों से भी सैन्य सहायता ली जाती थी।पूर्व मध्यकालीन कश्मीर के राजनीतिक इतिहास में तंत्रिन (पैदल सेना का निकाय), एकंग (शाही अंगरक्षकों का एक निकाय) तथा डामर कहे जाने वाले स्थानीय अधिकारियों की महत्त्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका दृष्टिगोचर होती है। चोल सम्राटों ने अपनी प्रबल सैनिक शक्ति पर एक विशाल साम्राज्य निर्मित किया तथा इनकी नौसैनिक शक्ति तो अभूतपूर्व थी। अपनी इसी शक्ति से इन्होंने दक्षिण पूर्व एशिया पर भी अपना प्रभाव स्थापित किया। हस्तिदल, अश्वारोही तथा पैदल सैनिकों के अतिरिक्त नौसेना सुव्यवस्थित ढंग से संगठित थी। सेना कड़गम या पडेविडु

(छावनी) में रहती थी। सैनिकों के समुचित प्रशिक्षण, अभ्यास तथा अनुशासन पर बल दिया जाता था। इतिहास के तथ्य साक्षी है कि साठ हजार का विशाल हस्तिदल तथा डेढ़ लाख पैदल सैनिक चोल सेना में थे। सम्राट के व्यक्तिगत अंगरक्षक को 'वेडेक्कार' कहा जाता था। अश्वारोही सेना में अरबी घोडे भी रखे जाते थे। नायक, सेनापति तथा महादंडनायक सेना के बड़े अधिकारी होते थे।

7.4.4 चोलों का स्थानीय प्रशासन

यहाँ हम संक्षेप में चोलों के स्थानीय शासन की चर्चा करेंगे, क्योंकि यह स्वयं में विशिष्ट थी तथा तत्कालीन स्थानीय शासन की झलक इससे मिलती है। ग्राम तथा नगरों की सभाएँ नैगमिक शासन की मूलभूत इकाइयाँ थीं। नाडु की प्रशासनिक सभाएँ प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित होती थीं। चोलों के स्थानीय स्वशासन में 'उलर' तथा सभा' अथवा 'महासभा' वयस्क सदस्यों द्वारा निर्मित होती थीं। ऊर' सर्वसाधारण लोगों की और 'सभा' अग्रहार या ब्राह्मणों के व्यवस्थापन से संबंधित संस्था थी। तोंडईमडलम् तथा चोलमंडलम् में प्राप्त चोल अभिलेखों में अग्रहार तथा ब्राह्मणों की शासन-व्यवस्था के विशेष उल्लेख है। इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कांची तथा चेन्नई क्षेत्रों में ऐसी अनेक सभाएँ थीं। उत्तरमेरुर के 919 तथा 929 ई० के दो लेखों से स्थानीय 'महासभा' की कार्यसंचालन-प्रणाली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वारियम (कार्यकारिणी समिति) की सदस्यता के लिए पैंतीस से सत्तर वर्ष की आयु वाले ऐसे व्यक्ति का नामांकन होता था जिसके पास लगभग एक-डेढ़ एकड़ भूमि हो तथा जो अपनी भूमि पर बने मकान में रहने वाला हो। साथ ही तह वैदिक मंत्रों का जानकार हो। तीन वर्ष तक समिति में रह चुकने, हिसाब प्रस्तुत न करने, चोरी करने वाले तथा पाप कर्मों के भागी व्यक्ति नामांकन के लिए अयोग्य समझे जाते थे। 1190 ई० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि कभी-कभी चुनाव के नियम सम्राट द्वारा निर्धारित किए जाते थे किंतु अधिकतर ग्राम-सभा द्वारा ही इसके निर्धारण का प्रचलन था। वारियम के तीस सदस्यों में से उपवन (तोट्टावारियम्), जलाशय (एरिवारियम्), स्वर्ण-संबंधी समिति (पनवारियाम्) आदि समितियाँ निर्मित होती थीं। किंतु प्रत्येक गाँव में समितियों की संख्या एकसमान नहीं होती थी। 'महासभा' को 'पेर गुर्रि' इसके सदस्यों को 'पेर-मक्कल तथा समिति के सदस्यों को 'वारियप्पेरूक्कल कहा जाता था। 'सभा' की बैठक गाँव के मंदिर, वृक्ष के नीचे या जलाशय के किनारे होती थी।

सार्वजनिक भूमि पर महासभा का स्वामित्व होता था, साथ ही व्यक्तिगत भूमि पर भी इसका न्यायिक अधिकार था। जंगल को काटकर कृषि योग्य भूमि बनाना, गाँव की भूमि के उत्पादन तथा उस पर राजस्व का आकलन करने में केंद्रीय अधिकारियों की सहायता करना, राजस्व वसूलना, कर न देने वाले की भूमि नीलाम करना, भूमि तथा सिंचाई संबंधी झगड़ों का निर्णय करना आदि 'महासभा' के प्रमुख कार्य थे। उपजाऊ भूमि की किस्मों का निर्धारण केंद्रीय अधिकारी करते थे, किंतु उनके निर्णय की 'महासभा' द्वारा स्वीकृति आवश्यक थी। गाँव के हित के लिए 'महासभा' कर भी लगा सकती थी। न्याय समिति (न्यायत्तार) वेतन-प्राप्त अधिकारियों के माध्यम से अपराध का पता लगाती थी। अपराधी को समुचित दंड दिया जाता था। धर्मवारियम् न्यास संपत्ति की देखभाल

करती थी। इन ग्राम सभाओं तथा सर्वसाधारण लोगों की 'ऊर' नामक संस्थाओं को 'लघु-गणतंत्र' कहना सर्वथा उपयुक्त है। इन स्वशासित व्यवस्थाओं में केंद्रीय सत्ता द्वारा असाधारण परिस्थिति में ही हस्तक्षेप होता था।

7.5 कृषि

हम देखेंगे कि पूर्व-मध्यकाल की अर्थव्यवस्था में कृषि ही प्रधान थी। कृषि अर्थव्यवस्था के विस्तार के पीछे कई कारकों की भूमिका देखी जा सकती है, यथा- नई भूमि में कृषि का विस्तार, सिंचाई संसाधनों का विस्तार तथा फसलों के प्रकार में अभिवृद्धि। कभी-कभी भूमि अनुदान पाने वालों को विशेष रूप से आस-पास की वन-संपदा का भी अधिकार दे दिया जाता था, इन्हें अनुदान के अतिरिक्त निकट के जंगल और परती या बंजर भूमि पर भी नियंत्रण का अधिकार दिया जाना उद्देश्यपूर्ण था और इसका परिणाम अतिरिक्त भूमि पर खेती की बढ़ती संभावनाओं में निकला। इस संदर्भ में कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण भी उपलब्ध हैं। कदंबों (गोआ का इलाक़ा) के द्वारा छठी शताब्दी में निर्गत एक अभिलेख में ब्राह्मण अनुदान प्राप्तकर्ता को यह अधिकार दिया गया है कि वे श्रमिकों के द्वारा जंगल के एक हिस्से को साफ कर उसे कृषि योग्य बनाएं। इसमें तटीय भूमि के कुछ हिस्से को बांधकर उसे धान की फसल के योग्य बनाने की बात का भी उल्लेख मिलता है।

इस समय के साहित्य में भी कृषि की विभिन्न गतिविधियों का ज़िक्र हम देख सकते हैं, इस पारंपरिक ज्ञान के प्रसार से कृषि के विस्तार पर प्रकाश पड़ता है। कृषि पराशर कृषि सम्बंधित गतिविधियों की व्याख्या करने वाला ऐसा ही एक ग्रंथ है जिसे 950 और 1100 ईसवी के बीच संभवतः बंगाल क्षेत्र से लिपिबद्ध किया गया। पराशर नाम के लेखक को समर्पित यह पाठ्य संस्कृत के श्लोकों के रूप में संकलित है, जिसकी भाषा और शैली सरल तथा स्पष्ट है। कृषि-पराशर किसी प्रकार के सिंचाई के स्वरूप का वर्णन नहीं करता, केवल वर्षा के ज्ञान को कृषि के आधार के रूप में स्वीकार करता है। इस संदर्भ में, नक्षत्रों की गति, मौसम, वायु की दिशा तथा वर्षा के बीच सम्बंध को स्थापित करने वाली लोकोक्तियों की एक श्रृंखला उपलब्ध है। एक स्तंभ में ध्वज-युक्त वातसूचकों के प्रयोग की अनुशंसा की गई है। इसमें कृषकों को खाद (सार) का महत्त्व समझाया गया है, जो धान के विपुल उपज के लिए अनिवार्य है। चावल की खेती के लिए उपयुक्त विधियों का निर्देश दिया गया है। हल के प्रकार और भारवाही पशुओं के प्रयोग सम्बंधी सुझाव भी दिए गए हैं। एक हल में प्रयुक्त आठ हिस्सों की विवेचना की गई है। नौ हाथों की माप वाले हल, जिसे 'मदिक' कहा गया है, को सभी कार्यों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त बतलाया गया है।

बीजों संरक्षित करने की विधि को बतलाने के बाद, कृषि पराशर बीजारोपण की प्रविधियों का वर्णन करता है। इस कार्य के लिए वैशाख (अप्रैल मई) को सबसे उपयुक्त माना गया है, किंतु धान के पुनर्रोपण के लिए शुचि (मई-जुलाई), को श्रेष्ठ कहा गया है। बीज रोपण के बाद 'मयिक' (धान की खेतों को पाटने के लिए उपयोग में आने वाला एक सीढ़ीनुमा यंत्र) के उपयोग की सलाह दी गई है अन्यथा बीजों का समानुपातिक अंकुरण नहीं हो सकेगा। तत्पश्चात रोपण-विधि का विश्लेषण किया गया है, तथा धानों को रोपने के बीच की दूरी को ग्रहों की स्थिति के आधार पर निर्धारित करने की बात कही गई है। धान कटनी के लिए भी आवश्यक निर्देश दिए गए हैं। कटनी,

निस्तृणी करनम् (खरपतवार को हटाने का कार्य) तथा आवश्यकतानुसार पानी की मात्रा भी बतलाई गयी है। पौष (दिसंबर-जनवरी) को कटनी का समय बताया गया है।

प्रांतीय स्तर के अनेक राज्यों के उदय तथा विकास कृषि आधारित मजबूत अर्थव्यवस्था का मूलभूत योगदान था। 'अभिधान रत्नमाला' में अनेक प्रकार के अनाजों का उल्लेख है। मेघातिथि ने चावल तथा जौ सहित सत्रह प्रकार अनाज का धान्य की कोटि में रखा है। मगध तथा कलिंग प्रदेश चावल के लिए प्रसिद्ध थे मानसोल्लास में रंग और सुंगध आदि के अनुसार आठ प्रकार के चावलों का वर्णन है। फलों लिए कश्मीर प्रसिद्ध था। वहाँ अदरक तथा अन्य मसालों के साथ ईख आदि का उत्पादन होता था। धान, जौ, कोद्रव (कोदों), प्रियगु, तिल, विभिन्न प्रकार की दालें, ईख आदि व्यापारिक स्तर पर उत्पादन होता था। उत्पादन क्षमता के अनुसार भूमि उर्वरक, बंजर (इरिण) खिल तथा मरु (रेतीली) आदि किस्मों में वर्गीकृत थी।

इस काल में सिंचाई के विभिन्न साधनों का उपयोग किया जाता था। अरघट्टा (पर्शियन व्हील) का उपयोग दक्षिण भारत में पूर्व मध्ययुग से शुरू हुआ। अभिलेखों में नहरों तथा तालाबों के पानी के वितरण के लिए नालियों का वर्णन मिलता है।आर. एन. नंदी ने कर्नाटक क्षेत्र में कृषि तकनीकों में हुए विकास का विश्लेषण किया है। इस क्षेत्र में तालाबों के जल को नालों के माध्यम से वितरित करने का संदर्भ सबसे पहले 8वीं शताब्दी से प्राप्त होता है। बाद की सदियों में इन संदर्भों में वृद्धि होती गई। 890 ईसवी के हिरिपुर ताल्लुका से प्राप्त एक अभिलेख में वर्णन है कि वहां के किसानों ने एक गांव में चार नहरों से युक्त एक विशाल तालाब का निर्माण करवाया। नदियों को नहरों के माध्यम से तालाबों से जोड़ने का प्रचलन भी था.

चोल अभिलेखों में तालाब, नहर, कूप, नाले जैसे नाना प्रकार के सिंचाई साधनों का वर्णन उपलब्ध है। कुछ चोल शासकों का तालाबों और नहरों के निर्माण का श्रेय जाता है। उदाहरण के लिए, राजेन्द्र प्रथम को चोलगंगा तालाब और नहर निर्माण की शुरुआत करने का श्रेय जाता है। ग्रामीण समुदाय के सदस्य, ब्राह्मण, शासक तथा मुखियाओं ने सिंचाई संसाधनों के रख-रखाव में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, छोटे स्तर पर सिंचाई संसाधनों के निर्माण और रख-रखाव में ग्रामीण समुदाय की भूमिका सबसे अहम होती थी। आवश्यकता पड़ने पर नट्टार (नाडु के शक्तिशाली भू-धारी समुदाय) वर्ग का हस्तक्षेप भी महत्त्वपूर्ण था। तालाबों के रख-रखाव के लिए समितियों (एरिवरियम) के पुरालेखीय संदर्भ उपलब्ध हैं। कभी-कभी किसानों को तालाबों के बगल के खेतों में बीज बोने के अधिकार दिए गए थे, जिसके बदले वे तालाबों को गहरा करने का दायित्व लेते थे।कृषि योग्य भूमि के विस्तार, सिंचाई साधनों में विस्तार और बाजार की बढ़ती मांग के परिणामस्वरूप भूमि के नवीं तथा दसवीं शताब्दियों के अरब यात्रियों ने पश्चिमी भारत में समुन्नत कृषि का वर्णन करते हुए अनेक प्रकार के अनाजों तथा फलों के उत्पादन की चर्चा की है।इस प्रकार हम देखते हैं कि कृषि का इस समय अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान था और राज्य ने भी इसको बढ़ावा देने की कोशिश की, साथ ही स्थानीय प्रशासन और समुदाय भी कृषि को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे.

7.6 राजस्व व्यवस्था

राजस्व व्यवस्था का तात्पर्य राज्य द्वारा लिए जाने वाले करों तथा शुल्कों से होता है, ये कर कृषि, वाणिज्य, व्यापार और विभिन्न स्थानीय शुल्कों से जुटाए जाते थे, कृषि इस समय राजस्व का मुख्य आधार थी. ह्वेनसांग ने लिखा है कि प्रजा पर उदारतापूर्वक कर लगाया जाता था तथा राजा किसानों से अनाज उत्पादन का छठा भाग कर के रूप में ले लेता था। इसकी वसूली नकद या अन्न के रूप में ही की जाती थी। अभिलेखों में भाग, भोग, कर तथा हिरण्य इत्यादि का उल्लेख हुआ है जिनका उल्लेख पहले के अभिलेखों में भी होता रहा है। जहां भाग का तात्पर्य मुख्यतः उपज पर लगने वाले कर से था, वहीं भोग से तात्पर्य विभिन्न वस्तुओं यथा दूध, दही, फल, सब्ज़ी तथा शहद इत्यादि की भेंट से था.

व्यापार तथा उद्योग कर भी एक महत्वपूर्ण स्रोत था। आयात-निर्यात पर सीमा शुल्क, सिंचाई कर तथा नमक आदि वस्तुओं पर भी कर लगाया जाता था। दंड के रूप में लिए गए जुर्माने से भी राज्य को आय होती थी। किंतु उच्च अधिकारियों सहित अधिकारियों को भी सेवा के बदले भूमि देने की प्रथा से स्पष्ट होता है कि मुद्रा का प्रसार कम था और सर्वत्र समान रूप से नहीं हो सका था। इस कारण प्रशासकीय ढाँचे में भूमि से होने वाली आय की भूमिका निश्चय ही अत्यंत महत्वपूर्ण थी जो पूरे राजतंत्र के स्वरूप को आकार प्रदान करती थी।

ग्राम सभा भी अनेक प्रकार के स्थानीय महत्व के करों की वसूली करती थी। बाज़ार तथा व्यापार का प्रबंध, चरागाह, उपवन, जलाशयों की व्यवस्था क लिए ग्राम-सभा की विशिष्ट समितियाँ होती थीं।ये समितियाँ इनके प्रबंध हेतु विभिन्न शुल्क वसूल करती थीं।

चोलों का भू-राजस्व विभाग काफी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, जो विशेषरूप से राजस्व का लेखा-जोखा रखता था। उर, नाडु, सभा तथा नगरम में जैसे निगम राजस्व निर्धारण और उनके वसूली का कार्य करते थे, तथा कई बार स्थानीय मुखिया, केंद्र के प्रतिनिधि के रूप में इन दायित्वों को निभाया करते थे। 11वीं सदी की शुरुआत में, राजराज-प्रथम के शासनकाल के दौरान, चोल राज्य ने सरकारी स्तर से भूमि सर्वेक्षण और कर निर्धारण की परियोजना चलाई तथा साम्राज्य को वलनाडु नामक इकाईयों में पुनर्संगठित किया गया। कुलोत्तुँग के शासनकाल में भी ऐसे दो सर्वेक्षण हुए।

राजराज के शासनकाल के पश्चात् राजस्व विभाग को पुरवू-वरी-तिनईक्कलम् या श्री-करणम् के नाम से जाना जाता था।

अभिलेखों में प्रयुक्त कुछ शब्दावलियों से कृषकों से लिए जाने वाले राज्य के हिस्से का अनुमान लगाया जा सकता है। इक्कोरू से ग्रामीणों के द्वारा राज्य कर्मचारियों को देय अनाजों का पता चलता है। 'मुत्तईयल' और 'वेट्टी' जैसे शब्द भूमि-राजस्व से जुड़े मालूम पड़ते हैं। चोल काल के उत्तरार्द्ध में राजस्व के लिए प्रयुक्त होने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द कडमाई (कडमै) था। इसकी सुनिश्चित दर स्पष्ट नहीं है (जो कुल उपज की 40 से 50 प्रतिशत भी हो सकती है) जिसे अनाज या उपज के रूप में प्राप्त किया जाता था, अभिलेखों में राजस्व शब्दावलियों में उत्तरोत्तर वृद्धि होते चली गई, जिसका चरमोत्कर्ष राजेन्द्र-द्वितीय (1052-63) के समय को कहा जा सकता है।

7.7 स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों में सही विकल्प चुनिए।

1.चोलों के प्रशासन में राजस्व से शब्द है:

A. कोईल

B. अर्घट्टा

C. पेंदु

D. कडमै

2. स्कंधावर का तात्पर्य है:

A. अनाज भंडार

B. एक अस्त्र

C. राजपुत्र

D. सैन्य शिविर

3. कोट्टपाल का तात्पर्य है:

A. दुर्ग का रक्षक

B. सीमा का प्रहरी

C. गोवंश का रक्षक

D. चारागाह का अधिकारी

7.8 सारांश

इस इकाई में हमने गुप्तोत्तर काल में प्रशासन की संरचना, राजस्व प्रणाली और कृषि की संरचना के बारे में जाना है। इस समय सत्ता और राजशक्ति का वितरण अधिपति और उसके अधीनस्थों के बीच देखने को मिलता है। कई नए राजवंशों का उदय हो रहा था, जिनके पीछे विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाएँ थीं, नए क्षेत्रों में कृषि का विस्तार, बड़ी संख्या में भूमि-अनुदान, जनजातीय समाज का मुख्यधारा के समाज में समावेश, ब्राह्मणीय और जनजातीय संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान।राजस्व मुख्यतः कृषि से आता था और इस काल में कृषि का व्यापक विस्तार हुआ, यद्यपि, इसको लेकर इतिहासकारों के बीच असहमति है कि क्या किसान अपनी भूमि से बंधा हुआ था या वह इस सम्बंध में गतिशील था।हमने यह भी जाना कि राजस्व व्यवस्था में प्रयुक्त विभिन्न शब्दावलियाँ क्या थीं। राजस्व व्यवस्था में स्थानीय शासन की भूमिका के बारे में भी हमने इस इकाई में अध्ययन किया है।

7.9 तकनीकी शब्दावली

सामंत**:** राजा (अधिपति) के अधीनस्थ अधिकारी, ये मध्यस्थ वर्ग थे जो राजा के साथ सत्ता का उपभोग करते थे, उसके प्रति निष्ठा दिखाने और उसे सैन्य सहायता उपलब्ध कराने के बदले

नाडु**:** दक्षिण भारत में स्थानीय प्रशासन की इकाई जहां ग़ैर-ब्राह्मण वेल्लाल या नाट्टार शक्तिशाली होते थे.

7.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

चक्रवर्ती, रणबीर. इक्स्प्लॉरिंग अर्ली इंडिया अप टू एडी 1300, (नई दिल्ली: प्राइमस बुक्स, 2016).

सिंह, उपिंदर. प्राचीन और पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, (नोएडा: पियर्सन इंडिया, 2017).

Champakalakshmi, R. Trade, Ideology and Urbanization: South India 30 BC to AD 1300 (Delhi: Oxford University Press, 1996).

Chattopadhyaya, B. D. The Making of Early Medieval India (Delhi: Oxford University Press, 1997).

Kulke, Hermann. Kings and Cults: State Formation and Legitimation in India and Southeast Asia (New Delhi: Manohar, 2001).

——The State in India 1000-1700. Oxford in India Readings Themes in Indian History: New Delhi: Oxford University Press.

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. सामंतवादी राजव्यवस्था के उपागम से आप क्या समझते हैं?
2. चोलों के स्थानीय प्रशासन की समीक्षा कीजिए।
3. गुप्तोत्तर कालीन कृषि की संरचना पर प्रकाश डालिए।
4. गुप्तोत्तर काल की राजस्व व्यवस्था का स्वरूप क्या था?

इकाई आठ : राजपूतों का उदय तथा भारतीय सामंतवाद :विविध दृष्टिकोण

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 राजपूतों का उदय

8.3.1 पृष्ठभूमि

8.3.2 स्वदेशी उत्पत्ति का मत

8.3.3 विदेशी मूल

8.3.4 राजपूत पहचान का निर्माण एक सामाजिक- राजनीतिक प्रक्रिया

8.4. भारतीय सामंतवादका विवाद

8.4.1 पृष्ठभूमि

8.4.2 उत्पादन की एशियाई पद्धति

8.4.3 भारतीय सामंतवाद की अवधारणा

8.4.4 भारतीय सामंतवाद के विपक्ष अवधारणा

8.5 सारांश

8.6 अभ्यास प्रश्न

8.7 विशेष शब्दावली

8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

8.9 अध्ययन सामग्री

8.10 प्रस्तावित अध्ययन सामग्री

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम मुख्यता भारत के पूर्व-मध्यकालीन इतिहास का अध्ययन करेंगे।यह एक ऐसा कालखंड है जिसे प्राचीन काल तथा मध्यकाल के बीच माना गया है, इसकी चारित्रिक पहचान दोनों से भिन्न मानी गई है, इसलिए इस समय काल को इंगित करने के लिए पूर्व-मध्यकाल के रूप में नवीन संज्ञा दी गई है।हालांकि पूर्व-मध्यकाल के रूप में कालखंड का वर्गीकरण करने से पहले,भारत के इतिहास लेखन में इस समय काल के इतिहास को हम प्राचीन काल में अथवा मध्यकाल में ही समेटते रहे।जैसे–जैसे इतिहास लेखन की शैली विकसित होती जा

रही है हम विभिन्न विमर्शों और विचारधाराओं के अधीन इतिहास का पुनर्निर्माण होता हुआ पाएंगे।सामान्य रूप से कह सकते हैं कि इस काल खंड की राजनीतिक, सामाजिक,आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाएं इस प्रकार की नहीं थी कि उन्हें मध्यकालीन कहा जाए और ना तो वह पूर्णता प्राचीन व्यवस्थाओं सी थी।

पूर्व-मध्यकाल के रूप में भारतीय इतिहास को एक और काल खंड में वर्गीकृत करनाऔर इस काल को संक्रमणकाल के रूप में देखना,इसका तर्कसंभवतः यह है कि इतिहास में दीर्घकालीन प्रक्रियाओं के प्रभावों का अध्ययन समय-काल की निर्धारित इकाई में करना व समेटना वास्तविकता में अराजक और मुश्किल काम है। परिवर्तन,पतन और विकास कुछ भी अकस्मात ही किसी काल खंड की समयसीमा में बंध कर नहीं होता।इन प्रक्रियाओं की निरंतरता के लक्षण मानवीय समयसीमा के आरपार देखे जाते हैं।भारत के इतिहास का वर्गीकरण उसकी अपनी वास्तविकताओं के आधार पर होना चाहिए। इसलिए नवीन विमर्श, परिस्थितियों, नए इतिहास लेखन और नवीन शोध परिणाम के कारण समय-काल का भी नवीन रूपसे विभाजन संभव है।

भारत के इतिहास लेखन में 'पूर्व-मध्यकाल'को मुख्यता निम्न दृष्टिकोण से समझा गया हैं।

प्रारंभिक विदेशी विद्वानों,औपनिवेशिक अधिकारियों और कुछ राष्ट्रवादी इतिहासकारों की दृष्टि में यह काल पतन और अंधकार का था।भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों ने उत्पादन की पद्धति (mode of production)के आधार पर इसे सामंतवाद का काल माना है, जबसत्ता, समाज और अर्थव्यवस्था एवं संस्कृति का सामंतीकरण हुआ।वहीं इतिहासकारों में यह मत सामान्य होता गया कि यह काल प्राचीन से मध्यकाल के बीच का संक्रमण काल रहा है, लेकिन भारतीय सामंतवाद की संकल्पना को नकारते हुए कई नए विचार सामने आए हैं,जिसके अनुरूप वह इस काल में राज्य निर्माण और विकास की बात पर बल देते हैं।

इस इकाई में हम जिन विषयों का अध्ययन कर रहे हैं उनसे हम पूर्व-मध्यकाल की गतिशीलता को समझ पाएंगे। हम पहले राजपूतों की उत्पत्ति को लेकर विभिन्न मतों का अध्ययन करेंगे,उसके बाद भारतीय सामंतवाद को लेकर इतिहासकारों के विभिन्न दृष्टिकोण की चर्चा करेंगे।

8.2 उद्देश्य

- इस पाठ को पढ़ने के बाद हम प्राचीन और मध्यकालीन भारत में, निरंतरता और दीर्घकालीन बदलावों एवं विकास की प्रक्रिया को समझ पाएंगे।
- हम राजपूत उत्पत्ति के विमर्श पर विभिन्न मतों को जान पाएंगे।
- हम भारतीय सामंतवाद को लेकर इतिहासकारों के दृष्टिकोण को समझेंगे।

8.3राजपूतों का उदय

8.3.1 पृष्ठभूमि

'राजपूत' यह पद (term) कब और कैसे क्षत्रिय पद का प्रायबन गया यह ध्यानदेने की बात है, इसका सटीकता से पता लगाना मुश्किल है। हालांकि यह कहा जा सकता है कि बारवीं शताब्दी तक राजपूत पद एक खास

वंश या बहुत सारे वंशों को इंगित करने के लिए, एक सामूहिक पहचान के पद के रूप में चलन में आ गया था। इतिहासकारों ने इस पद के प्रयोग में आने और इसके अर्थ के आधार पर भी राजपूत उत्पत्ति को समझने का प्रयास किया है।

राजपूत पद के अर्थ को लेकर भी इतिहासकार एक मत नहीं हैं, एक मत के अनुसार यह केवल वैदिक क्षत्रिय और राजपुत्रों के लिए उपयोग होता था। राजपूत को देशी मूल का मानने वाले इतिहासकार जयनारायण असोपा का मानना है कि राजपूत पद कालांतर में वैदिक राजपुत्र,राजन्य या क्षत्रिय वर्ग के लिए ही उपयोग में आने लगा था। उनका मानना है कि राजपुत्र और राजन्य समानार्थक रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। वह राजपूत को केवल क्षत्रिय के रूप में ही देखते प्रतीत होते हैं।

वहीं गौरीशंकर प्रसाद ओझा ने विभिन्न स्रोतों में राजपूत पद के प्रयोग का अर्थ निकलते हुए कहा है कि, यह शब्द विभिन्न अर्थों के रूप में प्रयोग हुआ है,कहीं रजा के पुत्रों के लिए तो कहीं सामंतों के पुत्रों के लिए, तो कहीं भू-स्वामियों के लिए भी इसका प्रयोग हुआ है। कुछ इतिहासकारों ने राजपूतों के कुछ वंशों को ब्राह्मण कुल से उत्पन्न माना है, जैसे परमार वंश को ब्रह्म-क्षत्रिय माना गाया है, उनके अनुसार परमार मूलतः ब्राह्मण थे।
गुप्तोतर काल के साथ विभिन्न देशी और विदेशी जनजातियों का भारत में शक्तिशाली राजनीतिक प्रभाव तथा नए राज्यों के निर्माण की प्रक्रिया दृष्टिगोचर हुई। साथ ही इस काल में नई सामाजिक एवं राजनीतिक पहचानो का निर्माण भी हुआ। अनेक स्थानीय राजपूत स्रोतों में तथा जनश्रुतियों के माध्यम से राजपूतों के क्षत्रिय धर्म, शक्ति, साहस और बलिदान का महिमामंडन किया गया है, इस बात पर बल दिया गया है कि उन्होंने उस समय के हिंदुस्तान में बढ़ रही इस्लामी शक्तियों (अरब और तुर्क) को कठोर चुनौती दी तथा हिन्दू धर्म रक्षक की भूमिका निभाई थी। वस्तुतः हमें राजपूतों के इस गुणगान को उनकी संप्रभुता के निर्माण के प्रयास के रूप में भी देखना चाहिए।

राजपूतों की उत्पत्ति के विषय को लेकर इतिहासकारों के मध्य विवाद है, इसलिए राजपूतों का उदय कैसे हुआ इस पर अनेकों विचार सामने रखे गए हैं। इन विचारों को मूलतः निम्न प्रकार की संभावनाओं में प्रकट किया गया है।

- राजपूत देशी मूल के थे, वह वैदिक आर्य-क्षत्रिय थे। राजपूत सूर्य एवं चन्द्र वंशी थे।उनकी उत्पत्ति अग्निकुल/अग्निकुंडसे हुई थी।
- राजपूत विदेशी थे।
- राजपूतों क उदय एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्रक्रिया का परिणाम है।

8.3.2. देशी उत्पत्ति का मत

राजपूतों की उत्पत्ति को देशी मूल का मानने वाले लोगों के विचार का मुख्य आधार यह है कि, राजपूत अपने समय की सामाजिक व्यवस्था में क्षत्रिय वर्ण के ही थे तथा वह मूल रूप से भारत के ही निवासी थे, वह

राजपूतों को प्राचीन आर्यों की संतान मानते हैं।वहीं कुछ लोग राजपूतों की उत्पत्ति को मिथकीय कथाओं से समझाने का प्रयास करते हैं। उपरोक्त मत वाले सभी लोग राजपूतों को कमोबेश देशी मूल का ही मानते हैं, इसलिए इन के विचारों को हमने देशी उत्पत्ति के मत के अंतर्गत ही समझने का प्रयास किया है।

सूर्य एवं चंद्रवंशी होने का मत:

बहुत सारे इतिहासकारों का मत है कि अपने आपको दिव्य,श्रेष्ठ और कुलीन दर्शाने के लिए राजपूतों ने अपनी प्रभावशाली वंशावली बनवाई तथा अपनी उत्पत्ति के संदर्भ में वह खुद को सूर्य और चन्द्र वंशी मानते हैं।वहीं डॉ ओझा ने ऐतिहासिक स्रोतों(अभिलेखों तथा ग्रंथों) के संदर्भ से राजपूतों को सूर्य और चन्द्र वंश का माना है,उदाहरण के लिए गुहिल एवं राठौर राजपूतों को सूर्यवंश से उत्पन्न तो भाटी और चन्द्रावती के चौहान राजपूतों को चंद्रवंशी माना है। इन प्रमाणों के आधार पर वह राजपूतों को प्राचीन क्षत्रिय के वंशज ही मानते हैं।*कुमारपालचरित,वर्णरतनाकार* और *राजतरंगिणी* जैसे स्रोतों में राजपूतों की जो सूचियाँ मिली है उनके आधार पर राजपूतों की 36 जातियां थी। इन सूचियों के आधार पर ही कुछ इतिहासकार इन्हें प्राचीन क्षत्रिय और सूर्य एवं चन्द्र वंश का मानते हैं,हालांकि इन अलग-अलग स्रोतों में दी गई यह सूचियाँ आपस में पूर्णतः मेल नहीं खाती हैं।

पंडित गौरी शंकर ओझा का मत है कि राजपूत पारंपरिक क्षत्रियों के ही वंशज हैं, राजपूत पद असल में संस्कृत शब्द राजपुत्र का ही अपभ्रंश है। इस शब्द का अर्थ है राजघराने का व्यक्ति,इसलिए राजपूत पुरानी क्षत्रिय वर्ण की जातियों के ही थे। वह कर्नल जेम्स टॉड की बातों का खंडन करते हुए कहते हैं किविदेशी जातियों और राजपूतों की वेशभूषा और रीति-रिवाजों में कोई समानता नहीं थी। राजपूत विदेशियों से इतने भिन्न थे कि उनको विदेशी साबित करना गलत होगा।सी.वी.वैद्य के अनुसार राजपूत वस्तुतः वैदिक आर्यों के ही वंशज थे, वैदिक आर्यों के अलावा कोई और इतने शौर्य से हिन्दू (वैदिक) परंपराओं की रक्षा हेतु नहीं लड़ सकता था, राजपूतों ने अरब और तुर्कों का सामना और विरोध इसलिए ही किया था।

दशरथ शर्मा का मानना है कि राजपूत जातियों ने विदेशी शक्तियों का प्रतिकार करने की प्रक्रिया के दौरान ही समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया, वह महत्व में तभी आए जब उन्होंने विदेशियों के खिलाफ संघर्ष शुरू किया, उनका मत है कि कुछ ब्राह्मण जातियों ने भी निज जन, समाज, संस्कृति और अपनी भूमि की रक्षा के लिए शस्त्र उठा लिए थे तथा क्षत्रिय धर्म का पालन किया। आर.सी.मजुमदार ने भी राजपूतों के संदर्भ में प्राचीन क्षत्रिय के मत को महत्व दिया है।

वहीं इस मत से विभेद रखते हुए कुछ इतिहासकारों का मानना है कि, इस प्रकार के प्राचीन क्षत्रिय वंशों से अपनी वंशावली को जोड़ कर राजपूतों ने खुद को क्षत्रिय साबित किया क्योंकिक्षत्रियों को राज्य करने का अधिकार था, तथा उन्होंने पौराणिक मान्यताओं के आधार पर अपनी शासन करने की राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक वैधता को स्थापित एवं प्रसारित करने का प्रयास किया। उनके लिए यह आवश्यक था क्योंकिसंभवतः वह शक्तिशाली राज्यों के निर्माण करने से पहले सामाजिक पहचान के धारक थे। खुद को सूर्य एवं चन्द्र वंशीय क्षत्रिय कुल से जोड़ कर उन्होंने अपनी राजनीतिक और सामाजिक पहचान बनाई।

बी.डी.चट्टोपाध्या का मानना है कि 36 राजपूत जातियों की जो सूचियाँ हमें मिलती हैं, वह सभी स्रोतों में एक समान नहीं हैं और हम यह मान सकते है कि वंशावली और इस प्रकार की सूचियों के निर्माण और संकलन में छेड़छाड़ की गई है। उनका मानना है कि अपने गौरवशाली इतिहास की रचना करते हुए यह सामान्य प्रवृत्ति देखी जा सकती है कि राजपूत राज-वंशावलियों के निर्माण के समय बहुत सारे ऐसे शासकों को, जिनकी उत्पत्ति का काल और पीढ़ियों की कोई सूचना भी नहीं है, उन्हें भी उन्होंने ने अपनी वंशावलियों में स्थान दिया है।अर्थात् समय के साथ राजपूत शासकों ने अपने कुल को इन सूचियों से जोड़ लिया, उन्होंने अपनी वंशावलियों का निर्माण कर अपनी उत्पत्ति को प्रमुख वंश से जोड़ कर खुद के कुल को विशेष, प्रभावशाली, सिद्ध और ऐतिहासिक प्रमाणित करने का प्रयास किया। इसलिए अलग-अलग राजपूत जातियों की सूचियाँ अलग-अलग स्रोतों में कुछ हेरफेर के साथ वंश-क्रम की सूचना प्रस्तुत करती प्रतीत होती हैं।

अग्निकुल/अग्नि कुंड से उत्पत्ति का मत:

एक मिथक के अनुसार राजपूतों की उत्पत्ति उस अग्निकुंड अथवा यज्ञ से हुई जिसे गुरु वशिष्ठ ने अपनी कामधेनु गाय को पुनः प्राप्त करने के लिए किया था,क्योंकि विश्वामित्र ने कामधेनु गाय को हर लिया था अतः गुरु वशिष्ठने एक यज्ञ किया जिससे चार प्रमुख राजपूत जातियों (प्रतिहार,चाहमान, चौलुक्य और परमार) की उत्पत्ति मानी गयी है। धीरे-धीरे यह कथा गोण हो गयी लेकिन कुछ बदलावों साथ यह मिथकीय विचार जन स्मृतियों में जीवंत रहा है। यह सामान्यता माना गया कि अग्नि कुल के राजपूतों का जन्म विशेष प्रयोजन के लिए हुआ,जब ब्राह्मण धर्म खतरे में था और क्षत्रियों का अकाल था तब एक यज्ञ के द्वारा उसकी अग्नि से राजपूतों का जन्म विशेष प्रयोजन के लिए हुआ था।कलियुग में मलेच्छोंका नाश करने के लिए इनका जन्म हुआ।चंदबरदाई द्वारा रचित पृथ्वीराज रासो में इस मिथक का वर्णन है,पृथवीराजरासो को ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करने वालों में बहुत सारे लोग इस मिथक को भी ऐतिहासिक घटना मानते हैं। यह माना जाता है कि राजस्थान के अबू पर्वत में हुए यज्ञ से चार प्रमुख राजपूत जातियों की उत्पत्ति हुई।क्योंकि इनकी उत्पत्ति अग्निकुंड अर्थात् यज्ञ की अग्नि से हुई तभी इनको अग्निकुल का माना जाता है। यह पहले ब्राह्मण थे और बाद में इन्होंने क्षत्रिय धर्म अपना लिया था।

इस मत को भी इतिहासकारों ने नाकारा है क्योंकि यह मत भी पौराणिक कथाओं पर आधारित है और वास्तविकता में यह संभव प्रतीत नहीं होता है। इसके विपरीत इतिहासकारों का तर्क है कि अग्नि अथवा यज्ञ द्वारा पवित्रीकरण/शुद्धि का अनुष्ठान संभव है,क्योंकि बहुत सारी राजपूत जातियां या तो विदेशी मूल की मानी गई हैं, या वह निम्न सामाजिक पृष्ठभूमि से उभर कर सामने आई हैं। हम जानते हैं की निम्न वर्ण और विदेशियों को वर्ण व्यवस्था में पवित्र नहीं माना गया है बल्कि उनको मलेच्छ इंगित किया गया है। इस लिए यह संभव है कि इस तरह के अग्निकुंड अथवा यज्ञ द्वारा शक्तिशाली लेकिन निम्न सामाजिक दर्जे वालों को अथवा विदेशियों को राजपूत जाति के रूप में पवित्र किया गया हो।

8.3.3. विदेशी मूल

भारतविद Indologist)/ अंग्रेज़ अधिकारी जेम्स टॉड, विलियम क्रूक और वि.ऐ. स्मिथ के अनुसार राजपूत

सीथियन, शक, कुषाण और हूण इत्यादिबाहरी जनजातियों की ही वंशज हैं। इतिहासकार आर.जी.भंडारकर ने भी गुर्जर को विदेशी मूल का माना है और प्रतिहारों को वह गुर्जरों से उत्पन्नमानते हैं।हूणों की तरह गुर्जर भी विदेशी नस्ल के थे वह उत्तर-पश्चिम से भारत से आए और धीरे-धीरे वह भारत के आंतरिक भागों में विस्तार करते रहे जहाँ सदी के अंतराल में उन्होंने हिंदु धर्म और संस्कृति को अपना लिया। सर जेम्स कैम्पबेल (Sir James Campbell) की तरह भंडारकर ने भी गुर्जरों को खज़र (Khazar) मना है।खज़र यूरोप और एशिया के सीमांत क्षेत्रों में रहते थे।

लेकिन इस मत का विरोध करने वाले सी.वी. वैद्य का मानना है कि गुर्जर आर्य थे और वह भारत के थे। खज़र और गुर्ज़र शब्द की ध्वनि समानता के चलते लोगों ने गलत दिशा में बढ़ता हुए, गुर्जरों को खज़रों के रूप में एक ही मानना शुरू कर दिया। खज़र मूलतः व्यापार करते थे वहीं गुजर घुमक्कड़ पशुपालन करने वाले थे।

विदेशी उत्पत्ति की विचारधारा को मानने वाले कर्नल जेम्स टॉड का मत था कि राजपूत और इन विदेशी जन-जातियों के रीती रिवाजों में समानता है। वह इस समानता के प्रतिबिंब के आधार पर उनका संबंध राजपूतों से जोड़ते हैं, जैसे यह विदेशी भी सूर्य के उपासक थे, उनके अनुसार सती प्रथा, अश्वमेध यज्ञ, शास्त्रों और घोड़ों की पूजा करने की रीत तथा दोनों की पौराणिक कथाओं में भी समानताएं हैं।

स्मिथ का विचार है कि शक, कुषाण गुर्जर व हुण जन जातियों का भारत में धार्मिक परिवर्तन हुआ है,इन्होंने भारत में अपने राज्य बना लिए थे, आगे चलकर इन्हीं से राजपूतों की उत्पत्ति हुई। अपनी राजनीतिक और सामाजिक प्रतिष्ठा का संवर्धन करने के लिए अपनी वंशावलियों को सूर्य एवं चन्द्र वंश से जोड़ लिया। विलियम क्रूक की बात से सहमत होकर स्मिथ का भी मानना है कि पृथवीराज रासो में जिस अग्नि द्वारा राजपूतों की उत्पत्ति बताई गयी है वह वास्तविकता में इन विदेशी जनजातियों का पवित्रीकरण कर समाज में विलय था।

इन जनजातियों को धीरे-धीरे मुख्यधारा में संकलित कर लिया गया और क्षत्रिय वर्ण का माना गया। इन विदेशी मूल की जातियों ने भी ब्राह्मण धर्म को अपना लिया, अपनी सामाजिक पहचान को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने वंशावलियों का निर्माण कर खुद को सूर्य और चन्द्र वंश से जोड़ लिया।हलांकि विदेशी उत्पत्ति का मत रखने वाले इतिहासकार इस संभावना को निरस्तनहीं कर सकते कि कुछ राजपूत जातियां पूर्णता भारतीय मूल की ही थी। वहीं राजपूतों के मिश्रित उत्पत्ति के विचार के अनुरूप यह अवधारणा भी रही है कि राजपूतों की उत्पत्ति दोनों विदेशी एवं देशी मूल के वंशजों से संभव है, विभिन्न विदेशी भारत आए और भारत में उनका सामाजिक-सांस्कृतिक विलय सुगमता से हो गया, साथ ही साथ इस काल में ब्राह्मण धर्म का भी विस्तार हुआ और बहुत सारी जनजातियों को मुख्य धरा में शामिल किया गया था, कई सारी देशी-विदेशी शक्तिशाली जनजातियों को राजपूत के रूप में मुख्यधारा के सामाजिक व्यवस्था में क्षत्रिय का स्थान प्राप्त हुआ, हालांकि बहुत सी अन्य जन-जातियों को निम्न वर्ग में ही समाहित किया गया था।

8.3.4.राजपूत उत्पत्ति एक सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया

हाल के समय में राजपूतों की उत्पत्ति को लेकर नवीन विचार प्रस्तुत किए गए हैं,इतिहासकारों ने राजपूतों की योद्धा के रूप में सम्मान, उदय और उनकी उपलब्धियां को राजनीतिक प्रक्रिया समझा है। वह राजपूतों की उत्पत्ति

को एक लम्बी प्रक्रिया के विकास के रूप में समझते हैं, जहाँ एक से अधिक कारणों के साथ उस समय की व्यवस्थाओं में राजपूत जैसी जातियों का उदय संभव था।

आर.एस.शर्मा के अनुसार राजपूत सामंत थे, जिनका उदय गुप्तोत्तर काल के बाद और सल्तनत के उदय से पहले सामंतवादी काल में हुआ, जब राज्यों की शक्ति और सत्ता का राजनीतिक विकेंद्रीकरण हो रहा था। इस समय अंतराल में राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाज के सामंतीकरण हुआ, सामंतवादी उत्पादन के चलन एवं व्यवस्था का प्रभाव उस समय की सभी व्यवस्थाओं पर भी पड़ा।

इरफ़ान हबीब के अनुसार 7 वीं और 12 वीं सदी का काल गोत्र/बिरादरी आधारित राजतंत्र (clanmonarchies) और आद्य-राजपूत राज्य का था। इरफ़ान हबीब इस बात की और संकेत करते हैं कि फ़ारसी स्रोतों में राजपूत शब्द १६ वीं सदी से ही मिलता है, इससे पहले सल्तनत काल में राजस्थान और उतर भारत के बड़े–बड़े भू-स्वामियों के लिए यह शब्द प्रयोग नहीं किया गया है।

नार्मनपि.ज़ेग्लेर (Norman P Ziegler) ने राजपूतों के शौर्यवान,विदेशीयों का विरोध करने वाली छवि से हटकर उनके संबंधों को समझने का प्रयास किया है,उनके अनुसार राजपूतों के केंद्रीय शक्तियों के साथ जो संबंध थे उन्हें केवल राजनीतिक और सांस्कृतिक टकराव के रूप में नहीं समझा जा सकता है। उनका मानना है कि राजपूत इन 'मुस्लिम' शासकों को अपनी ही 'जाति' की उप श्रेणी का मानते थे, जो केवल शक्ति और हैसियत में उनसे अलग थे।

एक बार जब तुर्क और मंगोलों की केंद्रीय सत्ता और संप्रभुता का निर्माण हो गया,उसके बाद नए और पहले से ही प्रतिष्ठित राजपूतों ने इनकी अधीनता स्वीकार कर ली। उन्होंने ऐसी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था में, जहाँ तुर्क और मुग़ल संप्रभुता को स्वीकार कर लिया गया था, खुद को रजा का पुत्र माना।

नई नैतिक व्यवस्था में अपने स्वामी के प्रति पूर्ण सेवा एवं निष्ठा रखना जिसके बदले उससे भू-क्षेत्र, राज दरबार में स्थान एवं सम्मानित पद मिलता था। सेवा एवं निष्ठा का यह नैतिक मूल्य राजपूत राजनीतिक-संस्कृति का प्रमुख मूल्य बन गया। जब कभी यह केन्द्रीय राज्य राजपूतों के क्षेत्र को अपने अधिकार में ले आते थे और इनकी वरीयता कम करते थे, तभी इन राजपूतों और मुस्लिम शासकों के बीच टकराव होता था।उनका मानना है कि राजपूतों का तुर्क और मुग़लों के साथ टकराव और सहयोग,के व्यवहार को राजपूतों के विश्वास, मिथक और नैतिक मूल्यों द्वारा समझा जा सकता है।

डी.एच.ऐ. कोल्फ (D.H.A. KOLF) के अनुसार मध्यकाल में राजस्थान और उतर भारत के अन्य क्षेत्रों में भी बहुत सारे चरवाहा पृष्ठभूमि वाले घुमक्कड़ समूह जिन्हें सैनिक या लड़ाकों वाले गुण विद्यमान थे, वह समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर पाए। राजपूत पद एक व्यापक नाम के रूप में इस तरह की सैनिक और भू-स्वामी वर्ग के लिए उपयोग होने लगा था।

इनका मानना है कि वस्तुतः राजपूत कोई जाति न होकर किसी प्रकार का सैनिक कार्य करने वालों की पहचान सूचक पद था। जिस प्रकार 'सिंह' पद का उपयोग हुआ है उसी प्रकार राजपूत पद भी सैनिक, योद्धा या

सैन्य कार्य करने वालों के लिए उपयोग में आया,मध्यकाल की भारतीय सेनाओं में आम लोग ही सैनिक के रूप में श्रम देते थे, कोई विशेष सैनिक भर्तियाँया प्रशिक्षणनहीं होता था, किसान भी बेहतर आय और खली समय में अपने स्थान से बहुत दूर-दूर जाकर भी सैनिक की भूमिका निभाते थे।

१६ वीं सदी तक राजस्थान के राजपूत परिवारों ने खुद को श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास किया और अपनी वंशावलियों का निर्माण किया उनके बीच महान राजपूत परंपरा का भाव था। इस तरह उन्होंने अपने गौरव, शक्ति और प्रतिष्ठा को पुष्ट किया। लेकिन राजस्थान के बहार, उत्तर भारत में भी इस प्रकार के निम्नसामाजिक हैसियत वाले घुमक्कड लड़ाकू समूह और सैनिक लगातार राजपूत के नाम के खुले सामाजिक वर्ग में आधुनिक समय की शुरुवात तक आते रहे।अर्थात् यह केवल उन लोगों का वर्ग नहीं था, जो क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे, बल्कि यह उन लोगों का भी सामाजिक समूह था जिन्हें लड़ना आता था और जो इस प्रकार की सेवाएं दे रहे थे।

हिन्दुस्तान में सैनिक श्रम की अत्यधिक मांग थी, स्थानीय मुखिया अथवा सरदार लोगों को एकत्रित कर बढ़े–बढ़े राज्यों और मुग़ल साम्राज्य को सैनिक सेवा प्रदान करते थे। इस तरह की सैन्य बाजारों में न तो केवल हिन्दू, न केवल क्षत्रिय ही सैनिक कार्य करने हेतु प्रस्तुत थे, बल्कि विभिन्न सामाजिक और जाति के लोग प्रस्तुत थे, आगे चलकर इन सब लोगों की एक ही सामाजिक और आर्थिक पहचान बनी की वह किस के सेवक हैं।कोल्फ का मानना है कि अपने निम्न सामाजिक पहचान को छिपाने के लिए इन आम लोगों ने खुद को राजपूत कहना शुरू किया क्योंकि वह सैनिक कार्य करते थे।कोल्फ के अनुसार राजपूत और सिपाही के रूप में इन लोगों की पहचान इनकी जाति के परे स्थापित हो गयी।कोल्फ इस तरह मध्यकाल में 'राजपूतीकरण' की प्रक्रिया की ओर इशारा करते हैं।

बी.डी. चट्टोपाध्यायने आर.एस.शर्मा की तरह 8वीं से 13वीं सदी के काल को साम्राज्यों या राज्यों के राजनीतिक विकेंद्रीकरण और आर्थिक पतन का काल नहीं माना है। वह इस समय-काल को सामंतवादी व्यवस्थाओं का काल नहीं मानते हैं, बल्कि वह इस समय-काल को 'पूर्व-मध्य काल' की संज्ञादेने के ही पक्षधर हैं। वह हमारा ध्यान इस समय हो रही ऐतिहासिक क्रियाओं पर केंद्रित करना चाहते हैं। कृषि विस्तार, वह इस समय जन-जातीय क्षेत्रों में कृषक बस्तियों का स्थापना और फैलाव की बात करते हैं,जिसके चलते समाज में निरंतर बदलाव हुए, विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच सत्ता और जमीन को लेकर संघर्ष हुआ। आगे चलकर शक्तिशाली सरदारों के अधीन कुछ क्लैन(clan)/बिरादरियां अपने आपको संघटित कर राज्य बनाने में सफल रही, इनमें से बहुत सारे निम्न सामाजिक स्तर से उठ कर यह कर पाए थे। इस समय जन-जातियों चरवाहों का कृषि अर्थव्यवस्था और कृषक समाज में विलय हो गया, नई जातियों का निर्माण हुआ और कबीलों का राजतन्त्र के रूप में उद्भव हुआ। इन नए उभरते राज्यों ने क्षत्रिय पहचान पाने के लिए ब्राह्मण विचारधारा के ढांचे में खुद को रख कर शक्ति और सत्ता को अपना अधिकार साबित करने का प्रयास किया।

इसी तरह वह इस बात पर बल देते हैं कि, राजपूतों की उत्पत्ति उनके समय काल की सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं के प्रभाव के अध्ययन के बिना नहीं समझी जा सकती है।राजपूत पहचान अपनाने वाली

अथवा कहलाई जाने वाली जातियां, वह कुल/गोत्र थे जिनका विकास उस समय की कृषि-अर्थव्यवस्था के विस्तार, भूमि वितरण के नए चलन खासकर शासक वर्ग की अपनी बिरादरी के अन्दर ही भूमि वितरण होना, राजनीतिक और वैवाहिक संधियों के द्वारा बिरादरी में अंतर-सहभागिता बनाना और अभूतपूर्व पैमाने पर गढ़ों का निर्माण करने के साथ ढलती या निर्मित होती रही।

राजपूत पहचान एक प्रक्रिया के रूप में उभर के सामने आई जिसे वह 'राजपूतीकरण' के रूप में समझते हैं। वह मानते हैं कि यह प्रक्रिया अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग समय में होती रही, इस तरह विभिन्न भारतीय राजपूत कई चरणों में राजपुतीकरण की जटिल प्रक्रिया से गुजरते हुए राजपूत कहलाए गए, तथा इनमें बहुत से पहले निम्न सामाजिक स्तर के थे।

उनके मत अनुसार देशी और विदेशी मूल के राजपूत उत्पत्ति के सिद्धांत उस समय काल की जटिल सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को विशेष महत्व नहीं देते, जबकि राजपूतों की उत्पत्ति को राजस्थान में और उसके बहार भी एक पूर्ण प्रक्रियाके रूप में ही समझा जा सकता है।

8.4 भारतीय सामंतवाद

8.4.1 पृष्ठभूमि

सामंतवाद की चर्चा करने वाले विद्वानों ने इस शब्द के अर्थ का व्यापक रूप में प्रयोग किया हैतथा सामंतवाद की मूल परिभाषा को लेकर भी उनमेंमतभेद हैं। प्रोफ़ेसर हरबंस मुखिया का मानना है कि वस्तुतः 'सामंत'(feudal) शब्द का प्रयोग मध्यकालीन यूरोप में कानूनी अर्थ में किसी के संपत्तिगत अधिकार को इंगित करने के लिए होता था।वहीं'सामंतवाद'(feudalism) शब्द का प्रयोग काफी बाद लगभग अठारहवीं सदी में आरंभ हुआजिसके उद्देश्य छोटे-छोटे राजकुमारों और अधिपतियों के बीच संप्रभुता की साझेदारी को परिभाषित करना था।फ़्रांसीसी क्रांति के दौरान इस शब्द का उपयोग पुरानी राजतंत्रीय व्यवस्था (Ancien regime) की आलोचना करने के लिए किया गया, इसके बाद 'सामंतवाद' शब्द का प्रयोग और भी व्यापक होता गया। अधिकांश इतिहासकारों ने पश्चिमी और मध्य यूरोप में 10 वीं से 12 वींसदीकी राजनीतिक और सामाजिक ढांचे के रूप में सामंतवाद को इस काल की एकमहत्वपूर्ण व्यवस्था माना है।

भारत के इतिहास में भी गुप्तोत्तर काल से दिल्ली सल्तनत के निर्माण से पहले के काल की व्यवस्थाओं को परिभाषित करने के लिए इतिहासकारों में मतभेद है और इस इकाई में हम केवल भारत के इतिहास लेखन में भारतीय सामंतवाद को लेकर विद्वानों के मुख्य दृष्टिकोण को प्रस्तुत करेंगे।

यूरोपीय लेखकों ने (Orientalism) पूर्व के प्रति अपने पूर्वाग्रह से ग्रसित विचारधारा के चलते एशियाई सभ्यताओं का पूर्वाग्रही चित्रण विश्व के सामने प्रस्तुत किया, भारत का भी उन्होंने एक धूमिल चित्रण ही प्रस्तुत किया।औपनिवेशिकअधिकारियों अथवा विद्वानों ने भी अपने साम्राज्यवादी शासन को सही प्रमाणित करने के लिए भारत के इतिहास को अंधकारमय युग के रूप में प्रस्तुत किया जहाँ यूरोपीय आधुनिक ज्ञान और व्यवस्थाओं से पहले केवल अव्यवस्था,पिछड़ापन और अपरिवर्तनशील समाज था।भारत के संदर्भ में कर्नल जेम्स टॉड ने

राजस्थान के इतिहास संकलन किया और उसमें माना की राजस्थान में भी यूरोपीय सामंतवादी व्यवस्थाएं और संबंध दृष्टिगोचर हैं।

8.4.2 उत्पादन की एशियाई पदाति

भारत समेतएशिया की आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक अवस्था पर कार्लमार्क्सने विशेष सैद्धांतिक पक्ष रखने का प्रयास किया।लेकिन उन्होंने भी एशियाई देशों की व्यवस्थाओं को पश्चिमी औपनिवेशीकरण के काल से पहले तक अपरिवर्तनशील रहने की अवधारणा प्रस्तुत की थी, जिसका मुख्य कारणएशिया की एशियाई पद्धति(Asiatic mode of Production)थी।मार्क्स के अनुरूप उत्पादन की यह पद्धति एक अपवाद थी, क्योंकिएशियाई देशों में सभी संपत्ति और भूमि का वास्तविक स्वामी या तो राजन था अथवा वहां भू-संपत्ति व्यक्तिगत अधिकार में न होकर समुदाय की थी। ऐसे समाज में वर्ग संघर्षसंभव नहीं था। इसलिए औपनिवेशिक काल से पहले के समय में उत्पादन व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया और भारत भी इस 'अपरिवर्तनशील पूर्व' का हिस्सा था। इस उत्पादन पद्धति के अंतर्गत भारत में निरंकुश शासकों के अधीन गतिहीन अर्थव्यवस्था थी।यहाँ मुख्यता वस्तु उत्पादन बाजार और व्यापार के लिए नहीं किया जाता था, अपितु एशिया की अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान थी जहाँ सीमित आवश्यकताकी पूर्ति के लिए ग्राम आत्मनिर्भर थे, इसलिए भारत में एशिया के अन्य क्षेत्रों की तरह बंध-अर्थव्यवस्था (closed economy) उभरी जहाँ मुख्यता व्यापार और मुद्रा विनिमय चलन में नहीं था। भारतीय इतिहास लेखन के ऊपर राष्ट्रीय संघर्ष का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था,राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भारत के गौरवशाली इतिहास को उभारा,उन्होंने गुप्तोत्तर काल से लेकर दिल्ली सल्तनत के निर्माण से पहले तक के राज्यों को भी केंद्रीय एवं सुसंगठित शक्तिशाली राज्य के रूप में प्रस्तुत किया। वहीं आर्थिक समीक्षा और आलोचनात्मक अध्ययन से मार्क्सवादी इतिहासकारोंने लगभग गुप्तोत्तर काल से मध्यकाल के प्रारंभ के समय काल को लेकर भारतीय सामंतवाद का अध्ययन प्रस्तुत किया।

भारतीय मार्क्सवादी विद्वानों ने 1950-60 के दशकों में ना सिर्फ भारत के संदर्भ में मार्क्स कीअवधारणा (Asiatic mode of Production)की आलोचना की अपितु उसे पूरी तरह से नकारते हुए,भारत के पूर्व-मध्यकाल के समय को वस्तुतःसामंतवादी युग माना है। भारत में सामंतवादी व्यवस्था के पक्षधरविद्वान;भारत में सामंतवाद कैसे पनपा? उसकी चारित्रिक विशेषता क्या थी ? क्या भारतऔर यूरोपीय सामंतवाद एक समान थे, या भारतीय सामंतवाद उससे भिन्न था? ऐसे प्रश्नों के उत्तर तलाश रहे थे।

8.4.3 भारतीय सामंतवाद की अवधारणा

1956 में अपनी पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री' में डी.डी. कोसाम्बी ने भारत में सामंतवाद के उदय को द्विमार्गी प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया। 'ऊर्ध्वगामी'और 'अधोगामी सामंतवाद'।सामंतवाद के उदय में राजा द्वारा अधिकारियों की सेवा और सैन्य शक्ति हेतु उन्हें वेतन की जगह भूमि-अनुदान के साथ-साथ उस भू-क्षेत्र पर विभिन्न अधिकार प्रधान करने से रजा द्वारा स्वयं शक्ति औरअधिकारों का विकेंद्रीकरण,क्षेत्रीय अभिजात वर्ग का शक्तिशाली होना तथा ग्रामीणअर्थव्यवस्था के विकास को प्रमुख कारक

माना गया।

राजा अपने अधीनस्थ सामंतों से नज़राना लेते थे जिसके चलते उन्हें अपने अधिकार क्षेत्रों में राज्य करने की स्वतंत्रता थी।इसे कोसाम्बी 'ऊर्ध्वगामी' सामंतवाद' की प्रक्रिया मानते हैं, यह राजनीतिक निर्णयों का परिणाम था।वहींआगे चलकर राजा और किसान के मध्य ग्रामीण समाज में बिचौलियों की श्रृंखलाउभरी, जो राज्य के लिए किसानों पर बल प्रयोग का जरिया भी थे,सामंतवाद की इस सामाजिक और आर्थिक प्रक्रिया को 'अधोगामी सामंतवाद' की प्रक्रिया मानते हैं।

1964 में अपनी पुस्तक 'इण्डियन फयूडलिज़्म' में आर. एस. शर्मा ने सामंतवाद का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करने का प्रयास किया।शर्मा ने हेनरी पिरेंन(Henri Pirenne) की यूरोपीय सामंतवाद की अवधारणा को अपनाया और उसी के आधार पर भारत के सामंतवाद को समझने का प्रयास किया। उनका मानना था की भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ-साथ लंबी दूरी का व्यापार और शहरीकरण अवरुद्ध हो गया, साथ ही मुद्रा विनिमय भी ठप होता गया था, परिणामस्वरूप सामंतवादी व्यवस्था में आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था विकसित होती गई। राज्य ब्राह्मणों के साथ-साथ अब बड़े अधिकारियों को भी उनकी (सैन्य एवं प्रशासनिक)सेवाओं के भुगतान के लिए भूमि देने लगे थे।इस भूमि पर प्राप्तकर्ता को पूर्ण अधिकार होता था, अपने क्षेत्र एवं निवासियों के ऊपर न्याय एवंप्रशासनिकअधिकार के साथ-साथ प्राप्तकर्ता का क्षेत्रीय स्तर पर सामाजिक एवं आर्थिक दबदबा कायम हो गया था।कृषिप्रधान ग्रामीण व्यवस्था में कृषक भू-सामंतों केअत्यधिक अधीन होते गएऔर इस बदलते अंतर संबंधों के फलस्वरूप कृषक, कृषक-दास (serfdom) में बदलते गए। आर. एस.शर्मा का मानना है कि सामंतों के अधीन अत्यधिक शोषण हो रहा था,सामंतों द्वारा लोगों से बलपूर्वक श्रमदान भी लिया जाता था।अतः शर्मा के अनुसार सामंतवाद के अन्तर-संबंधित मुख्य कारक एवं लक्षण थे- भूमि एवं अधिकारों का वितरण, सत्ता का विकेंद्रीकरण,उप-सामंतीकरण, कृषक दास एवं बलपूर्वक श्रम (विष्टि) और नगरों का पतन तथा मुद्रा हास।वह मानते हैं की सामंतवाद का पतन 11वीं सदी में व्यापार और नगरों के पुनरुत्थान के साथ ही संभव हो पाया।

8.4.4 भारतीय सामंतवाद के विपक्ष अवधारणा

1971 में हरबंस मुखिया ने अपने लेख द्वारा भारतीय मार्क्सवादियों की भारतीय सामंतवाद के विचार पर गंभीर प्रश्न खड़े किए।खासकर भारतीय सामंतवाद पर आर.एस.शर्मा के विचारों की उन्होंने कड़ी आलोचना की।उन्होंने पूछा क्या भारत के इतिहास में वास्तविक रूप में कभी सामंतवाद था?

मुखिया सामंतवाद को पूंजीवाद की भांति एक सार्वभौमिक व्यवस्था ना मानते हुए केवल एक क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में देखते हैं,जहाँ उत्पादन अत्यधिक लाभ पर नियंत्रणके लिए नहीं बल्कि उपभोग की प्रवृति से प्रेरित था। इसमें उत्पादन वृद्धि एवं बाज़ार विस्तार द्वारा सार्वभौमिक व्यवस्था के रूप में उभरना संभव नहीं है। मुखिया का मानना है कि अगर सामंतवाद अलग -अलग स्थानों में अलग प्रकार का था तो व्यवस्था के रूप में भी उसकी एक सटीक परिभाषा देना मुश्किल है।

मुखिया के अनुसार भारत में यूरोप की तुलना में खेती साल के अधिक महीनों तक की जाती थी,साथ ही

खेती के लिए उर्वरक भूमि तथा कृषि श्रम के लिए जनसंख्या भी यूरोप की तुलना में बहुत अधिक थी। भारत में कूबड़ वाले बैल का उपयोग होता था जिससे अधिक संतुलन के साथ हल का उपयोग होने के कारण खेत जोतने की क्षमता यूरोप की तुलना में अधिक थी। भूमि उत्पादकता की दर भी भारत में अधिक थी, भारत में अधिकांश जगह साल में दो बार खेती की जाती थी।

जैसा दबाव यूरोपीय कृषक समाज पर था वही दबाव भारतीय कृषक समाज पर नहीं था। इसलिए कृषक-दास और कृषि में बलपूर्वक श्रम प्रथा का भारत में उभारना संभव नहीं था।इसके अतिरिक्तभरत में बंधुवा श्रम गैर-उत्पादक कार्यों के लिए अधिक प्रयोग होता था। मुखिया का मानना है कि भारतीय किसानों का श्रम उनके अपने नियंत्रण में था।

हरबंस मुखिया के इस लेख के बाद आर.एस.शर्मा ने 'भारतीय सामंतवाद कितना सामंती था' के रूप में अपने विचारों को पुनः नवीन दृष्टिकोण एवं शोध अध्ययन के साथ प्रस्तुत किया तथा भारतीय सामंतवाद को उन्होंने सामाजिक एवं आर्थिक संकटों के कारण उत्पन्न हुई एक आर्थिक प्रक्रिया के रूप में देखने पर अधिक बल दिया। अपने पुराने तर्कों को संशोधित करते हुए, हाल ही में उन्होंने सामंती समाज के विचारात्मक एवं सांस्कृतिक पहलुओं की ओर अपना ध्यान मोड़ा था।उनके अनुसार सामंती मानसिकता, कला एवं वास्तुशिल्प में पदानुक्रम के तत्व विद्यमान थे तथा सामंती समाज के वैचारिक आधार में स्वामी के प्रति कृतज्ञता एवं निष्ठा दृष्टिगोचर होती है।भारतीय सामंतवाद के पक्षधर कई विद्वानों ने सांस्कृतिक पहलुओं के माध्यम से भी सामंतवाद काअध्ययन करने का प्रयास आरम्भ किया है। उनके द्वारा भक्ति काल में स्वामी के प्रति अधीनता एवं निष्ठा संबंधित विचारधारा को ब्राह्मणवादी प्रभुत्व के आधार स्तंभ के रूप में देखा गया,उनके अनुसार ईश्वर के प्रति समर्पण और निष्ठा को सामंतों के प्रति मोड़ना कठिन नहीं था।

अपने अध्ययनों में इतिहासकार बी. डी.चट्टोपाध्याय ने इस काल में सम्पूर्ण भारत मेंसिक्कों की कमी और नगरों के पतन के विचार का खंडन किया है तथा रणवीर चक्रवर्ती ने सामंतवादी काल में भारत में व्यापार के विकसित होने के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं,भारत में कौड़ीका मुद्रा के रूप में उपयोग लम्बी दूरी के व्यापार में पूर्व-मध्यकाल में भी होता रहा था। भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों ने सामंतवादी काल में राज्यों के पतन की बात पर बल दिया था, लेकिन बाद के कई शोधकार्यों के आधार पर विद्वानों ने इसी काल में भारत में नवीन राज्य निर्माण की प्रक्रिया को उजागर किया।

बर्टन स्टीन (Burton Stein) ने अपने दक्षिण भारत के शोधकार्य में भारत के संदर्भ में 'खंडित राज्य' निर्माण की अवधारणा प्रस्तुत की। उनके अनुसार भारत में औपनिवेशिक काल से पहले तक राजन केवल नाम मात्र को स्वामी होता था,वास्तविक रूप में उसकी राजनीतिक संप्रभुता केवल उसके राज्य के मुख्य केंद्रीय क्षेत्र तक सीमित थी, लेकिन राज्य के अधिकांश भू-भाग पर उसकी धार्मिक संप्रभुता कायम थी। राज्य में इसलिए स्थानीय स्वतंत्र इकाई थी जिन्हें अपने प्रशासनिक एवं आर्थिक अधिकार हासिल थे। इस धार्मिक संप्रभुता कानिर्माण रजा धार्मिक क्रियाकलापके माध्यम से करता था।

भारतीय सामंतवाद की अवधारण को चुनौती देते हुए हरमन कुलके और बी.डी.चटोपाध्याय ने इस काल को सामंतवादी काल की जगह पूर्व-मध्यकाल कहना अधिक उचित माना है। उनके अनुसार इस समय नए राज्यों का निर्माण की प्रक्रिया भी चल रही थी,जिसे उन्होंने अपने ''समग्र राज्य' के अवधारणा द्वारा प्रस्तुत किया है।उनके अनुसार इस समय काल में जन-जातियों का मुख्यधारा में आना, कृषि का विस्तार, जातियों का प्रादुर्भाव,राजनीतिक वंशों की उत्पत्ति, धार्मिक (भक्ति)क्षेत्रीय एवं केन्द्रीय संस्कृतियों इत्यादि अनेक प्रक्रियाओं सेराजनीतिक, सामाजिक,आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास हो रहा था।

समग्र राज्यकी अपनी अवधारणा के अधीन इनका मानना था कि राजा भू-अनुदान द्वारा राज्य का विकेंद्रीकरण नहीं अपितु विस्तार और निर्माण कर रहे थे।भू-अनुदान द्वारा राज्य का भौगोलिक विस्तार हुआ,जनजातियों को मुख्य संस्कृति से जोड़ा गया, कृषि क्षेत्र बड़ा तथा मंदिरों और ब्राह्मणों के माध्यम से राजन अपनी संप्रभुता का निर्माण करता था तथा साथ ही पारस्परिक संस्कृति का निर्माण हुआ। अतः भू-अनुदान द्वारा राज्य अपनी शक्ति, लोकप्रियता और राज्य का विस्तार कर रहा था ना की विकेंद्रीकरण और उप-सामंतीकरण।

8.5 अभ्यास एवं बोध प्रश्न

प्र.1अग्निकुल अथवा अग्निकुंड के विचार के अनुसार राजपूतों का उदय कैसे हुआ है?

प्र.2 राजपूतों की कितनी जातियों की संख्या का राजतरंगनी में अंकित है?

प्र.3 औपनिवेशिक काल से पूर्व, भारत के संदर्भ में किसने खंडित राज्य की अवधारणा प्रस्तुत की?

प्र.4 भारतीय मार्क्सवादी इतिहासकारों ने कार्लमार्क्स द्वारा भारत और एशिया के संदर्भ में कौन सी उत्पादन पद्धति की अवधारण को पूर्णता नकारा है?

8.6 सारांश

अंतत:: हम यह कह सकते हैंकि इतिहास लेखन में पारंपरिक दृष्टिकोणों को निरंतर चुनौती देकर उसका पुनर्निर्माण किया जा रहा है। इतिहास की इस पुनर्निर्माण प्रक्रिया में हमेशा तथ्यों अथवा स्रोतों का अध्ययन विभिन्न विचारधाराओंके साथ-साथ नवीन संकल्पनाओं और विमर्श से जहाँ एक और लगातार जटिल होता रहा है, वहीं इससे हमारी इतिहास को समझने और उसका अवलोकन करने की क्षमता कुशल होती रही है। इतिहास का कालखंडो में वर्गीकरण भले ही अपनी सुविधा के लिए किया गया हो लेकिन यह इतिहास की स्थाई छवि नहीं हैं।हमारी सबसे बड़ी चुनौती यह है कि हमें इतिहास पढ़ने, लिखने और समझने में पूर्वाग्रहों से बचना होगा और इतिहासकार को तार्किक दृष्टि से सभी प्रकार के मौखिक अथवा लिखित स्रोतों का अवलोकन करना चाहिए।

भारत के इतिहास का वह हिस्सा जिसे अंधकार युग माना गया था, वह अत्यंत क्रियाशील था।राजपूतों की उत्पत्ति और भारतीय सामंतवाद,इन दोनों विषयों के नए अध्ययन से हमें,पूर्व-मध्यकालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक निरंतरता एवं परिवर्तन की प्रक्रियाओं को समझने का मौका मिलता है।जिन्हें कृतिम समय सीमा में बांधना मुश्किल है।जहाँ एक और आर्थिक समीक्षा और आलोचनात्मक अध्ययन से मार्क्सवादी इतिहासकार भारत

के इतिहास लेखन में भारतीय सामंतवाद की चर्चा करते हैं वहींउनके द्वारा किए गए अध्ययन को संसोधनवादियों ने लगातार चुनौती प्रदान कर भारतीय सामंतवाद को नाकारा है तथा पूर्व-मध्यकाल को विकासशील माना है।

8.7विशेष शब्दावली

- क्लैन/Clan:क्लैन की ठीक-ठीक और एक सटीक परिभाषा देना संभव नहीं है, यह व्यक्तियों का वह समूह है जिसका वास्तविक,मिथकों अथवा मान्यताओं के आधार पर मनुष्य या अन्य किसी समान पूर्वज से उत्पत्ति हुई है।इस परम पूर्वज से वह अपना किसी ना किसी प्रकार से रक्त संबंध मानते हैं।कभी-कभी इस समूह के लोग यह मानते हैं, की उनकी उत्पत्ति एक ही स्थान में हुई है।

- ओरिएंटलिज्म/ORIENTALISM:पूर्वी राष्ट्रों के प्रति पश्चिमी लोगों की पूर्वाग्रही,काल्पनिक,अतिरंजित एवं विकृत औपनिवेशिक मानसिकता जिसके द्वारा वह पूर्व की दुनिया को अपने से भिन्न 'अन्य 'केरूप मेंप्रस्तुत करते हैं।

8.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उ.1 अग्निकुल के मिथक के अनुरूप राजपूतों का उत्पत्ति विशेष परियोजन हेतु यज्ञ अग्नि से हुआ है।

उ.2राजतरंगिणी में राजपूतों जातियों की संख्या 36 अंकित की गई है।

उ.3 बर्टन स्टीन।

उ.4 एशिया की एशियाई पद्धति (Asiatic mode of Production)

8.9 अध्ययन सामग्री

- B.D. Chattopadhaya, *The Making of Early Medieval India*, Oxford University Press, 1997

- R.S. Sharma, Indian Feudalism: C.300-1200, 1963

- D.H.A. Kolf, *Naukar, Rajput and Sepoy, The Ethnohistory of military Labour Market in Hindustan 1450-1850*, Cambridge University Press, 2002

- Upender Singh, *A Histroy of Ancient and Early Medieval India from Stone Age to the 12th Century*, Pearson, Delhi, 2008

- Norman P. Ziegler, *Marwari Historical Chronicles Sources for Social and Cultural History of Rajasthan,* The Indian Economic and Social History Review, 1976 also seeSome Notes on Rajput Loyalties during the Medieval Period by Norman P. Ziegler in J.F Richards (ed*) Kingship and Authority in south Asia, Madison: South Asian studies, 1978,*

- NiharRanjan Ray, Origin of the Rajputs (A) The Nationality of the Gujars, Annals of the Bhandarkar Oriental Rresearch Institiute, Vol. 12, No.2 (1931) also see URL: http://www.jstor.org/stable/41688201
- Herman Kulke, Fragmentation and Segmentation Versus Integration? Reflections on the Concepts of Indian Feudalism and the Segmentary State in Indian History, Studies in History, Vol.iv, No.2, 1982
- HarbansMukhia, *The Feudalism Debate in India,*Manohar,1999
- हरबंस मुखिया, *सामंतवाद पर विभिन्न दृष्टिकोण,*अध्याय 20, 2018,
- *भारतीयइतिहास में सामंतवाद विभिन्न दृष्टिकोण*, अध्याय 10. इग्नानकोष,इग्नू,2018, (http://egyankosh.ac.in)

8.10प्रस्तावितअध्ययन सामग्री

- Burton Stein, *Peasant, State and Society in Medieval South India*, 1980
- J.N Asopa*, Origin of Rajputs*, Delhi, 1976
- C.V. Vaidya, *History of Medieval Hindu India and Early History of Rajputs* (750 to 1000 AD), Poona, 1924
- D. Sharma, *Rajasthan Through Ages*, Bikaner, 1996
- James Tod, *Annals and Antiquities of Rajasthan*, ed William Crooke, (1920)
- Satish Chandra, The History of Medieval India,
- Irfan Habib, Agrarian System of the Mughal India 1556-1707. Also see '*The social Distribution of Landed Property in Pre-British India: A Historical Survey*' in R.S. Sharma ed; Indian Society: Historical Probings;1974

8.11 निबंधात्मक प्रश्न

प्र(1) राजपूतों की उतपत्ति के संदर्भ में विभिन्न विचारों की चर्चा करते हुए उनकी उत्पत्ति की वैज्ञानिक परिकल्पना पर टिप्पणी करें ?

प्र(2) पूर्व-मध्यकाल अथवा भारतीय सामंतवाद के संदर्भ में इतिहासकारों के विभिन्न विचारों का विश्लेषण करें ?

इकाई नौ : पल्लव, चालुक्य व चोल कालीन दक्षिण भारत

9.1 प्रस्तावना

9. 2 उददेश्य

9.3 राजनीतिक घटनाक्रम राजवंशों का प्रारम्भिक इतिहास :

9.3. 1 पल्लव

9.3. 2 चालुक्य

9.3. 3 पाण्ड्य

9.3. 4 चेर

9.3. 5 राष्ट्रकूट

9.3. 6 चोल

9. 4 राजनीतिक संघर्ष

9. 5 राज्य और प्रशासन

9.5. 1 राजसत्ता और राज्य का स्वरूप

9.5. 2 प्रशासन

9.5.2.वर्ग-राजकुल और अधिकारी 1

9.5.2. 2राजस्व प्रशासन

9.5.2.प्रांतीय/ स्थानीय प्रशासन 3

9.5.2. 4सैन्य संगठन

9. 6 सार संक्षेप

9. 7 संदर्भ ग्रंथ

9. 8 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

छठीं शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में दक्कन व दक्षिण भारत में पूर्ववर्तीं काल के नायकतंत्र व छोटे राज्यों का रूपांतरण बड़े राज्यो में हुआ, हालाकि यह नये तरह का राज्य तीसरी शत्ताब्दी ईस्वी से इन क्षेत्रों के राजनीतिक ढाँचों में देखी गई निरंतरताएं व अनिरंतरताएं दोनो दर्शाते है। इन राज्यो में तीन, नामतः पश्चिमी दक्कन (उत्तरी कर्णाटक का बीजापुर क्षेत्र) में बादामी या वातापी के चालुक्य, तमिल नाडु में कांची के पल्लव व मदुरई के पाण्ड्य बड़ी शक्तियाँ बनकर उभरे, और परस्पर को हराकर अपना-अपना क्षेत्रिय विस्तार करने व दक्षिण भारत पर अपना वर्जस्व स्थापित करने के लिए छठीं शताब्दी के आरम्भ से नौवीं शताब्दी के अंत तक संघर्ष करते रहे। इसलिए प्रायद्विपीय भारत में छठी से नौवीं शताब्दी ईस्वी के राजनीतिक इतिहास को इन तीन शक्तियों के बीच परस्पर संहार-युद्धों द्वारा चिन्हित किया जाता है। नौवीं शताब्दी के मध्य में मान्यखेट (वर्तमान मालखेड, कर्णाटक) के राष्ट्रकूटों ने बादामी के चालुक्यों को और नौवीं शताब्दी के अंत में चोलों ने पल्ल्वों विस्थापित कर दिया, पर पाण्ड्य 14वीं शताब्दी तक अपना शासन कायम रख पाएँ। इनके अलावा इस काल में कुछ छोटे राज्यों का भी उदय हुआ, नामतः बादामी के चालुक्यों की दो अतिरिक्त शाखाएं, लाट (दक्षिणी गुजराट) के चालुक्य व वेंगी (पूर्वीं आंध्र) के पूर्वीं चालुक्य जो लगभग स्वतंत्र रूप से शासन करते थे; मैसूर (दक्षिणी कर्णाटक) के गंग; रेनंदु (रायलसीमा, आंध्र) के तेलेगु-चोल (जो पूर्ववर्ती संगम काल में तमिल क्षेत्र [उरैयूर] के चोलों का वंशज होने का दावा करते थे); तथा केरल के चेर। गंगों व पूर्वी चालुक्यों ने चालुक्य-पल्लव-पाण्ड्य संघर्ष में बीच-बीच में हस्तक्षेप भी किया।यह सारे राज्य कमोबेश वैदिक व आगमीय धर्म द्वारा प्रभावित हुए। जहाँ एक ओर हिदु धर्म में, विशेषतः उसके कुछ पंथों में, एक हद तक बौद्ध व जैन धर्म के प्रति उदासीन या द्वेष्पूर्ण भावना विकसित हुई, वहीं दुसरी ओर दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन ने हिंदु धर्म के विकास में तेज़ी लाने के साथ साथ आम जनता को उत्साहित किया तथा काफ़ी मात्रा में हृदय-स्पर्शी भक्ति साहित्य और दार्शनिक चिंतन को जन्म दिया। इस धार्मिक आंदोलन के प्रभाव से स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला व संगीत में भी उल्लेखनीय विकास हुआ। अतः, इस काल में निरंतर राजनीतिक संघर्ष के साथ-साथ या उसके बावजुद काफ़ी सांस्कृतिक विकास हुआ।

नौवीं शताब्दी के मध्य में चोल शासन की शुरुआत हुई और 13वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसका अंत हो गया। इस समय काल में चोल दक्षिण भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य बनकर उभरे, पर उनके वर्जस्व को निरंतर चुनौति मिलती रही उत्तर में पहले राष्ट्रकूटों से, फिर कल्याणी के चालुक्यों या पश्चिमी चालुक्यों से। अपने उत्तरी प्रतिस्पर्धियों के साथ संघर्ष में चोलों को मदद मिली पूर्वी चालुक्यों से जो उनके सामंत थे और उनसे वैवाहिक संबंध रखते थे।12वीं शताब्दी के अंत में यह बड़े राज्य आपसी युद्धों से कमज़ोर हो गए, और छोटे राज्य, जो उनके अधीनस्थ थे जैसे सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य, मैसूर के होयसल और उत्तरी दक्कन में यादव और काकतीय, स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर अपनी शक्ति और क्षेत्र का विस्तार करने लगे।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पल्लव, चालुक्य व चोल कालीन दक्षिण भारत के विषय में जानकारी प्रदान करना है, इस इकाई के अध्यदयन के उपरांत आप –

- दक्षिण के राजवंशों के प्रारंभिक इतिहास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- दक्षिण के राजवंशों के बीच राजनीतिक संघर्ष की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- राज्य और प्रशासन तथा राजसत्ता और राज्य के स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- राजकुल और अधिकारी-वर्ग के पिषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- प्रशासन और सैन्य संगठन के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे

9.4 राजनीतिक घटनाक्रम: राजवंशों का प्रारम्भिक इतिहास

9.3.1 पल्लव

तमिल नाडु में स्थित कांची के पल्लवों ने तीसरी शताब्दी के अंत में दक्षिण आंध्र के गुंतुर ज़िले में कृष्णा नदी के आस-पास के इलाके में इक्षवाकुओं को विस्थापित कर अपने शासन की शुरुआत की थी। इनमें काफ़ी उत्तर भारतीय प्रभाव दिखता है। पहले के कुछ विद्वानों के अनुसार पल्ल्व पह्लव थे व भारत में बाहर से आए थे, पर कई विद्वान अब उनकों दक्षिण भारतीय मूल का या उत्तर और दक्षिण भारतीय मिश्र मूल का मानते है। पल्लव वंश का प्राचीनतम ज्ञात अभिलेख, गुंतुर ज़िले से प्राप्त, तमिल में उत्कीर्ण व राजा सिंहवर्मन के छठें शासन-वर्ष में जारी किया गया पल्लंकोयिल ताम्र-पत्र अभिलेख कांचीपुरम के निकट स्थित एक जैन मंदिर को दिए गए अनुदान का ज़िक्र करता है। प्राकृत में दो और ताम्र-पत्र अभिलेख उत्तर में किए गए कुछ अनुदानों का विवरण देते है। संस्कृत में 12 ताम्र-पत्र अभिलेख स. 350 से 550 ईस्वी तक की प्रारम्भिक पल्लव वंशावली (शासकों की 8-9 पीढ़ीयाँ) की जानकारी देते है। इनमें से ज़्यादातर अभिलेख, संस्कृत व प्राकृत, ब्राह्मणों या मंदिरों को दिए गए अनुदानों से संबंधित है। इन अभिलेखों में अनुदान में दिए गए सारे गाँव दक्षिण आंध्र (यानी गुंतुर व नेल्लोर ज़िले) में स्थित थे सिवाय एक के, जो दक्षिणी तमिल नाडु में स्थित था। टी. महालिंगम के अनुसार, इससे यह प्रतीत होता है कि इन अभिलेखों में ज़िक्र किया गया कांचीपुरम तमिल नाडु का प्रसिद्ध कांचीपुरम नहीं, बल्कि शायद कृष्णा नदीमुख के पास स्थित कोई गाँव था, हालांकि इस सुझाव की पुष्टि करने के लिए कोई ठोस पुरातात्विक सबुत नहीं है। 5वीं शताब्दी तक पल्लवों का शासन पेन्नार नदी के दक्षिण तक स्थापित हो चुका था, और इसी शताब्दी में पल्लवों ने कदम्बों व गंगों के साथ क करीबी सम्बंध स्थापित किए उनके अधिपति व मित्र के रूप में। पल्लवों के क्षेत्र को तोण्डईमण्डलम् कहा जाता है, जो उत्तरी पेन्नार व उत्तरी वेल्लार नदीयों के बीच की भूमि, या कांचीपुरम व महाबलिपुरम तथा इनके आस-पास का इलाका है, ।

पल्लंकोयिल अभिलेख में राजा सिंहवर्मन का विवरण नहीं बल्कि उनके पुत्र और उत्तराधिकारी सिंहविष्णु की उपलब्धियों के बारे में विस्तार से बताया गया है। इस अभिलेख और बाद के अभिलेखों के अनुसार सिंहविष्णु (560-80 ईस्वी) ने तेलेगु चोलों को हराकर कावेरी तक के क्षेत्र को अपने अधीन किया, कलभ्रों द्वारा फैलाए

राजनीतिक उपद्रवों का अंत किया, उत्तर में भी कुछ प्रतिद्वंद्वी शासकों को हराया, और पाण्ड्यों तथा श्री लंका के शासक से भी युद्ध किया। विष्णु के उपासक सिंहविष्णु ने अवनीसिंह ('पृथ्वी का सिंह') उपाधी ली। छठी शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में पल्ल्वों का एक बढ़ी शक्ति के रूप में उदय का श्रेय सिंहविष्णु को जाता है। उनके पुत्र और उत्तराधिआरी थे महेंद्रवर्मन-I (580-630 ईस्वी), जिनके शासन काल में पल्लवों का क्षेत्र उत्तर में कृष्णा तक बढ़ कर कंदर और विष्णुकुण्डिन राज्यों की सीमा तक पहुँच गया। महेंद्रवर्मन-I कला के संरक्षक तथा स्वयं एक कवि, संगीतज्ञ व मंदिर-निर्माता के रूप में प्रसिद्ध हुए। उनकी साहित्यिक रचनाएँ में उल्लेखनीय है मत्तविलास, विचित्र-चित्त और गुणभद्र। स्थापत्य-कला के क्षेत्र में उनके समय-काल में एक नयी शैली का आरंभ हुआ, नामतः गुफा-मंदिर। राजनीतिक क्षेत्र में उनके शासन काल में ही कांची पर चालुक्य पुलकेशिन-II के आक्रमण से एक दीर्घ-कालिन पल्लव-चालुक्य संघर्ष की शुरुआत हुई। इसके बाद पल्लवों का शासन तमिल क्षेत्र तक ही सीमित रहा, हालांकि उन्होंने चालुक्यों के विरुद्ध कई सैन्य अभियान चलाए।

9.3.2 चालुक्य

चालुक्य शुरुआत में बनवासी (उत्तरी कन्नड़ ज़िला, कर्णाटक) के कदम्बों के अधीनस्थ शासक थे, पर बाद में उनसे स्वतंत्र हो गए। उनकी शक्ति का केंद्र था उत्तरी कर्णाटक में बादामी/वातापी और निकट्वर्ती ऐहोले, पर बाद में उन्होंने उत्तर में वाकाटक राज्य और पश्चिम में कुछ समुद्रतटीय क्षेत्रों को अपने अधीन कर लिया। छठी शताब्दी के मध्य में चालुक्यों को एक स्वतंत्र शक्तिशाली राजवंश के रूप में स्थापना की पुलकेशिन-I (535-66 ईस्वी) ने। उन्होंने 543-44 में बादामी में एक विशाल गढ़ का निर्मान किया और अश्वमेध समेत कई वैदिक श्रौत यज्ञ सम्पन्न कर कदम्बों से अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। उनके पुत्र कीर्तिवर्मन-I (566/67-597/98 ईस्वी) बनवासी के कदम्बों, कोंकन के मौर्यो और बस्तर के नलों को हराकर राज्य का विस्तार किया। कोंकन पर विजय ने रेवतिद्वीप (गोआ) को चालुक्य साम्राज्य का हिस्सा बना दिया। उनके नाबालिग पुत्र पुलकेशिन-II के शासन-काल में उनके भाई और राज-प्रतिनिधि मंगलेश (597/8-609/10 ईस्वी) ने गुजराट, खांदेश और मालवा में कलचुरियों के क्षेत्र अर आक्रमण किया और रेवतिद्वीप के शासक के विद्रोह का दमन कर कोंकन पर चालुक्य शासन को पुनर्स्थापित किया। पुलकेशिन-II (609/10-42 ईस्वी) अपने चाचा मंगलेश के साथ संघर्ष में विजयी होकर 609-10 में सत्तारुढ़ हुए और महत्वपूर्ण सैन्य सफ़लताएं पाई, जिनका वर्णन रविकीर्ति द्वारा रचित ऐहोले प्रशस्ति (634-35 ईस्वी) में मिलता है। उन्होंने क्दम्बों को हराया, और दक्षिणी कन्न्ड़ के आलुपों, मैसूर के गंगों, कोंकन के मौर्यों, पूर्वी दक्कन के विष्णुकुण्डिनों, लाटों, मालवों, गुर्जरों, तथा कलिंग व दक्षिण कोसल के शासकों को अपनी अधीनता स्वीकार करने पर बाध्य किया। नर्मदा के तट पर हर्षवर्धन के साथ हुए युद्ध में उनकी विजय को सबसे अविस्मरणीय माना जाता है। पल्लवों की राजधानी कांची पर उनके सफल आक्रमण से शुरुआत हुई दीर्घकालीन पल्लव-चालुक्य संघर्ष की। उनके शासन में पूर्वी चालुक्य पश्चिमी और मध्य दक्कन में सबसे शक्तिशाली राजवंश बना। पुलकेशिन-II ने 625-26 ईस्वी में फ़ारसी शासक खुसरु-II के साथ राज-दूतों का भी आदान-प्रदान किया। उनके भाई

विष्णुवर्धन ने वेंगी (पूर्वी आंध्र) में और पुत्र जयसिंहवर्मन ने लाट (दक्षिणी गुजराट) में दो अतिरिक्त राजवंशों की भी स्थापना की, जो बाद में बादामी के चालुक्यों से स्वतंत्र हो गए।

9.3.3 पाण्ड्य

दक्षिण भारत के प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से ही तमिल संगम साहित्य में मदुरई के पाण्ड्य शासकों का ज़िक्र मिलता है, पर उनका प्रारम्भिक म्ध्यकाल यानी छठी शताब्दी के अंत में पाण्ड्य शासकों के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध स्पष्ट नहीं होता। प्रारम्भिक म्ध्यकालीन पाण्ड्य वंश के पहले दो शासक, कडुंगोन (590-630 ईस्वी) व उनके पुत्र मारवर्मन अवनिशूलामणि (590-620 ईस्वी) को कलभ्रों की शक्ति नष्ट करने तथा पाण्ड्यों की शक्ति पुनरुज्जीवित करने का श्रेय दिया जाता है। तीसरे पाण्ड्य शासक शेंदन (654-70 ईस्वी) ने चेर राज्य में अपना शासन स्थापित किया, और चौथे शासक अरिकेसरि मारवर्मन (670-700 ईस्वी) ने पल्ल्वों के विरुद्ध युद्ध किया। पाण्ड्यों का पल्ल्वों तथा अन्य समकालीन राजवंशों के साथ युद्ध चलता रहा। 10वीं शताब्दी में चोलों ने पाण्ड्य-शक्ति पर पूरी तरह अंकुश लगा दिया।

9.3.4 चेर

हालांकि पल्लवों, पाण्ड्यों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने केरल पर अपनी-अपनी सैन्य विजय का दावा किया, फिर भी प्रारम्भिक मध्यकाल में केरल के तटीय क्षेत्र पर चेर पेरुमाल का वर्जस्व बना रहा। चेरों व पल्लवों के बीच सांस्कृतिक संबंधों के कई साक्ष्य भी उपलब्ध है, जैसे पल्लव शासक महेंद्रवर्मन-I द्वारा रचित मत्तविलास चाक्कियार नामक मालाबार के वंशागत नाट्य-अभिनेता समुदाय के पसंदीदा नाटकों में से एक बना; दण्डी द्वारा रचित अवंतिसुंदरी-कथासार में केरल के बारे में काफ़ी जानकारी उपलब्ध है और पल्लव-सभा में उनकी उपस्थिति में केरल के कई सौ ब्राह्मणों के आगमन का ज़िक्र है। पर चेर इतिहास के बारे में कहीं विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। 7वीं-8वीं शताब्दी में इस वंश का अंतिम प्रमुख शासक चेर पेरुमाल था, जिससे जुड़ी कई लोक-कथाएं है। अलग-अलग स्रोतों में उन्हें जैन, ईसाई, शैव या मुस्लिम कहा गया है, जिसका कारण शायद उनकी धार्मिक सहिष्णुता थी। संभवतः उन्होंने अपने परिजनों और अधीनस्थ सामनों के बीच अपने राज्य को बांट कर सांसारिक जीवन का परित्याग कर दिया। इसलिए केरल के इतिहास के बारे कोई ठोस जानकारी नहीं है 825 ईस्वी से पहले, जब एक नए सन्, कोल्लम संवत, की शुरुआत हुई। इस संवत के उद्भव के बारे में कई मत है, पर एम्. जी. एस्. नारायणन के अनुसार, इसका आरम्भ पाण्ड्य शासन से वेणाड की मुक्ति और कोल्लम बंदरगाह की स्थापना से संबंधित है।

9.3.5 राष्ट्रकूट

दक्कन में 8वीं शताब्दी के मध्य में राष्ट्रकूटों का उदय हुआ। 'राष्ट्रकूट' शब्द का मतलब है 'राष्ट्र का मुखिया/प्रमुख'; इसमें 'राष्ट्र' अलग-अलग संदर्भ में 'राज्य' या 'राज्य का प्रमंडल' (division) के अर्थ में इस्तमाल होता था। चौथी शतब्दी के बाद, कई राजवंशों के अभिलेखों में यह शब्द सामाण्यतः प्रांतीय अधिकारियों

के एक वर्ग के लिए हुआ है। इसलिए संभवतः राष्ट्रकूट मूल रुप से उसी वर्ग के अधिकारियों का समूह रहे होंगे। इस राजवंश की उत्पत्ति कन्नड़-भाषी क्षेत्र में हुई होगी। इस राजवंश की मुख्य तथा सह शाखाओं के राजाओं की एक उपाधी 'लत्तलूर पुरेश्वर' ('लत्तलूर नामक शहर या पुर का अधिपति') से प्रतीत होता है यह मूलतः वर्तमान महाराष्ट्र-कर्णाटक सीमा पर स्थित लातूर क्षेत्र के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि 625 ईस्वी में राष्ट्रकूटों का लातूर क्षेत्र से इलिचपुर (वर्तमान मध्य प्रदेश में तापी नदी के उद्गम के पास) में स्थानांतरण हुआ। वहाँ उन्होंने अपनी जागीर बनाई और कई पीढ़ियों तक चालुक्यों का सामंतों के रूप में शासन किया। दंतिदुर्ग ने राष्ट्रकूटों के स्वतंत्र राज्य की नींव डाली और 733 ईस्वी में राज्यारोहण किया। उन्होंने अनेक सैन्य सफलताएं पाई और साम्राज्यिक उपाधियां धारण की। उनके वंशज अमोघवर्ष (814-78 ईस्वी) ने मान्यखेट (वर्तमान मालखेड, कर्णाटक) के रूप में अपनी नई राजधानी का निर्माण किया। दंतिदुर्ग व उनके उत्तराधिकारीयों विशेषतः कृष्ण-I, गोविंद-III और अमोघवर्ष के नेतृत्व में राष्ट्रकूट साम्राज्य का बहुत विस्तार हुआ तथा उत्तर और दक्षिण में कई सैन्य सफलताएं प्राप्त हुई। किसी न किसी काल में उनसे सभी प्रमुख समकालीन शक्तियां जैसे पाल; प्रतिहार; बादामी, कल्याणी व वेंगी के चालुक्य; पूर्वी गंग; पल्लव; और चोल पराजित हुए, किंतु उत्तर में प्राप्त उपलब्धियों को वे बहुत दिनों तक संभाल नहीं सके। 10वीं शताब्दी के अंत में परमारों द्वारा मान्यखेट पर कब्ज़ा करने के बाद राष्ट्रकूटों का पतन सुनिश्चित हो गया।

9.3.6 चोल

दक्षिण भारत के प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से ही तमिल संगम साहित्य में उरैयूर के चोल शासकों का ज़िक्र मिलता है, पर संगमकाल के उपरांत उनका इतिहास अस्पष्ट है।है। हालांकि प्रारम्भिक मध्यकाल में तंजौर का चोलवंश के शासक संगमकालीन चोलों के वंशज होने का दावा करते थे। इस वंश के संस्थापक विजयालय शुरुआत में पल्लवों के सामंत थे। उन्होंने उरैयूर के आस-पास के क्षेत्र में अपने राज्य की स्थापना कर और 850 ईस्वी के आस-पास मुत्तरैयर सर्दारों से तंजौर छीन लिया जब पल्लवों के साथ पाण्ड्यों संघर्ष चल रहा था, जिसमें गंग, राष्ट्रकूट, सिंहल/श्रीलंका, तेलेगु-चोल भी लिप्त थे। विजयालय ने निचली कावेरी प्रदेश तक अपने राज्य का विस्तार किया। उनके वंशजों ने, विशेषतः आदित्य-I, परांतक-I, परांतक-II, राजराज-I और राजेंद्र-I, अपने-अपने शासन काल में पाण्ड्य, गंग, चेर, चालुक्य, पल्लव आदि समकालीन शक्तियों पर विजय पाकर चोलों को दक्षिण भारत की साम्राज्यिक शक्ति बना दिया, पर 13वीं शताब्दी में यह वंश पतनगामी हुआ।

9.4 राजनीतिक संघर्ष

छठी से नौवीं शताब्दी तक दक्कन और दक्षिण भारत के राजनीतिक संघर्षों में प्रमुख था पल्लव-चालुक्य-पाण्ड्य संघर्ष, जिसकी शुरुआत हुई पल्लव महेंद्रवर्मन-I के विरुद्ध चालुक्य पुलकेशिन-II के सैन्य अभियान से। जब चालुक्य पुलकेशिन-II सेना समेत पल्लव क्षेत्र के काफ़ी अंदर प्रवेश कर कांची के बिल्कुल निकट पहुंच गई, तब

कांची के उत्तर में 15 मील दूर पुल्ललूर में पल्लव महेंद्रवर्मन-I ने चालुक्य पुलकेशिन-II से डट कर लड़ाई लड़ी और कांची को बचा लिया, पर राज्य का उत्तरी हिस्सा पुलकेशिन-II के कब्ज़े में चला गया। अपने राज्य में लौटने के बाद उन्होंने अपने भाई विष्णुवर्धन को वेंगी (पूर्वी आंध्र) का राज्यपाल बनाया। विष्णुवर्धन ने वहाँ पूर्वी चालुक्य वंश की स्थापना की।

पुलकेशिन-II ने पल्लवों के विरुद्ध 641-42 ईस्वी में दुसरा सैन्य अभियान चलाया। रायलसीमा पर शासनरत पल्लवों के अधीनस्थ सामंत बानों पर आक्रमण कर तथा उनको पराजित कर पुलकेशिन-II ने फिर पल्लव राज्य में प्रवेश किया और कांची के पास आ पहुंचे। नए पल्लव शासक नरसिंहवर्मन-I महामल्ल (630-68 ईस्वी) ने सिंहल/श्रीलंका के राजकुमार मानवर्मा की मदद से चालुक्यों को कई युद्धों में हराया। अतः पुलकेशिन-II का सैन्य अभियान असफल रहा।

संघर्ष में एक नए चरण की शुरुआत की पल्लव नरसिंहवर्मन-I ने। चालुक्यों पर आक्रमण कर उन्होंने बादामी पर कब्ज़ा कर लिया और वातापिकोण्ड ('वातापी का विजेता') की उपाधी ली। बादामी में मल्लिकार्जुनदेव मंदिर के पीछे एक पत्थर पर नरसिंहवर्मन-I के 13वें शासन-वर्ष में उत्कीर्ण एक अभिलेख बादामी पर उनकी विजय तथा वातापिकोण्ड की उपाधी ग्रहण करने के तथ्य की पुष्टि करता है। इस युद्ध में पुलकेशिन-II की मौत के बाद चालुक्य राज्य संकट से घिर गया जब सामंतों तथा पुलकेशिन-II के दो पुत्रों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर दिया।। अंत में पुलकेशिन-II के एक और पुत्र विक्रमादित्य-I (654/55-81 ईस्वी) अपने मामा दुर्विनीत की मदद से नरसिंहवर्मन-I को खदेड़ने, अपने भाईओं और विद्रोही सामंतों को हराने और राज्य की एकता कायम रखने में सफल हुए। उन्होंने स्वयं को 654-55 ईस्वी में एकीकृत चालुक्य राज्य का शासक घोषित किया और अपने वफ़ादार भाई जयसिंहवर्मन को लाट (दक्षिणी गुजराट) का राज्यपाल बनाया। जयसिंहवर्मन व उनके वंशजों लाट चालुक्य के नाम से जाना गए।

अपने राज्य में लौटने के बाद नरसिंहवर्मन-I ने दो नौसैनिक अभियान भेजकर मानवर्मा को श्रीलंका का राजा बनने में मदद की, पर जल्द ही मानवर्मा ने श्रीलंका का राज्य खो दिया और पल्लवों के राजनीतिक आश्रय में चले गए। नरसिंहवर्मन-I को चोलों, चेरों, कलभ्रों और पाण्ड्यों को हराने का श्रेय दिया गया है, पर इन युद्धों के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। नरसिंहवर्मन-I स्थापत्य के एक उत्साही संरक्षक के रूप में भी जाने जाते है; मामल्लपुरम का बंदगाह और रथों के नाम से प्रसिद्ध मंदिरों के निर्माण का श्रेय उन्हें जाता है।

नरसिंहवर्मन-I की मौत (668 ईस्वी) के बाद उनके पुत्र महेंद्रवर्मन-II (660-70 ईस्वी) के छोटे शासन-काल में चालुक्य विक्रमादित्य-I के साथ युद्ध हुआ, जिसमें महेंद्रवर्मन-II की हार और मौत हुई। महेंद्रवर्मन-II के पुत्र परमेश्वरवर्मन-I (670-700 ईस्वी) के शासन-काल की शुरुआत में ही विक्रमादित्य-I ने पाण्ड्य शासक अरिकेसरि मारवर्मन की मदद से दोबारा पल्लव राज्य पर आक्रमण कर दिया और कांची के पास पहुंच गए। परमेश्वरवर्मन-I ने कांची से पलायन किया और विक्रमादित्य-I ने उरैयूर में पड़ाव डाला। परमेश्वरवर्मन-I ने एक बड़ी सेना इकट्ठा कर विक्रमादित्य-I के मित्र गंग शासक भूविक्रम से युद्ध किया, पर पराजित हुए। हतोत्साहित न होकर, उन्होंने शत्रु का

ध्यान भटकाने के लिए एक सैन्य अभियान चालुक्य राज्य में भेजा, और स्वयं उरैयूर के पास पेरुवलनल्लूर में आक्रमणकारी पल्लव सेना से युद्ध किया और उसे हरा दिया। चालुक्य सेना विक्रमादित्य-I के पुत्र और पौत्र, विनयादित्य और विजयादित्य, को हराकर काफ़ी लूट की सम्पत्ति लेकर लौटी। दूसरी तरफ़, विक्रमादित्य-I को पल्लव क्षेत्र छोड़कर अपने राज्य लौटना पड़ा। दोनो तरफ़ भारी जानोमाल का नुकसान हुआ, क्योंकि दोनो का सैन्यबल लगभग समान था।

अगले पाँच दशकों तक, यानी चालुक्य शासक विनयादित्य (681-96 ईस्वी) और विजयादित्य (696-734 ईस्वी) तथा उनके समकालीन पल्लव शासक नरसिंहवर्मन-II राजसिंह (700-28 ईस्वी) के शासन कालों में युद्ध-विराम और शांति रही। पर चालुक्य विजयादित्य के लम्बे शासन काल और पल्लव परमेश्वरवर्मन-II के छोटे शासन काल (728-31 ईस्वी) के अंत में संघर्ष पुनरुज्जीवित हुआ, जब चालुक्य युवराज विक्रमादित्य (जो बाद में विक्रमादित्य-II बने) ने गंग शासक श्रीपुरुष के पुत्र ऐरेयप्प की मदद से पल्लव राज्य आक्रमण किया। विक्रमादित्य ने परमेश्वरवर्मन-II को भारी शान्ति-मूल्य देने के लिए मजबूर किया। परमेश्वरवर्मन-II की इस हार का बदला लेने की कोशिश विफल हुई जब श्रीपुरुष से साथ विलन्दे के युद्ध में उनकी मौत हो गई। बिना वारिस के परमेश्वरवर्मन-II की मौत होने पर पल्लव राज्य में उत्तराधिकार का संकट आ गया, पर राज्य के अधिकारीयों (मात्र) ने, विद्वान ब्राह्मणों की मण्डली (घटिका) व प्रजा (मूलप्रकृति) के सहयोग से, संपार्श्विक वंश (collateral line) के एक 12 साल के राजकुमार नंदिवर्मन-II पल्लवमल्ल (731-96 ईस्वी) को राजा चुना। इस घटना का वर्णन नंदिवर्मन-II द्वारा निर्मित कांची के वैकुण्ठपेरुमाल मंदिर के अलंकृत पट्टिकओं तथा कुछ ताम्र-पत्र अभिलेखों से मिलता है।

पाण्ड्य शासक मारवर्मन राजसिंह-I (730-65 ईस्वी), चालुक्य विक्रमादित्य-II के साथ संधि कर, नंदिवर्मन-II के प्रतिस्पर्धी चित्रमाय का पल्लव सिंहासन पर दावे का समर्थन करते हुए नंदिवर्मन-II को कई युद्धों में हराया और नंदिग्राम (वर्तमान नंदिपुरम) नामक जगह पर उनका घेराव किया। पर पल्लव सेनापति उदयचंद्र ने पाण्ड्य सेना की घेरे को तोड़कर नंदिवर्मन-II को मुक्त किया, चित्रमाय को मारा और पल्लव सिंहासन को नंदिवर्मन-II के लिए सुरक्षित किया। उदयचंद्र ने नंदिवर्मन-II के अन्य शत्रुओं को भी परास्त किया, जिनकी शायद चालुक्य विक्रमादित्य-II से मिलीभगत थी। विक्रमादित्य-II (733/34-744/45 ईस्वी) ने 733/34 ईस्वी में सिंहासनारुढ़ होने के तुरंत बाद ही, 735 ईस्वी में गंग सामंत श्रीपुरुष के साथ पल्लव राज्य आक्रमण किया और नंदिवर्मन-II को हराकर कांची पर कब्ज़ा किया। पर विक्रमादित्य-II ने कांची को क्षति नहीं पहुंचाई, बल्कि वहां के निवासीओं को प्रचुर उपहारों से संतुष्ट किया और कैलाशनाथ व सारे मंदिरों का सोना लौटा दिया। कैलाशनाथ मंदिर के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण एक कन्नड़ अभिलेख में अपनी दानशीलता और अतीत में पल्लव नरसिंहवर्मन-I द्वारा बादामी-विजय के अपमान को मिटाने की अपनी इच्छा का ज़िक्र किया है। इसके बाद विक्रमादित्य-II अपने राज्य लौट गए। यहाँ उल्लेखनीय है कि पल्लव और चालुक्य दोनो ने एक-दूसरे के क्षेत्र पर स्थायी रूप से अधिकार करने की कोई प्रवृत्ति नहीं दिखाई। अपने शासन काल के अंत में विक्रमादित्य-II ने अपने पुत्र कीर्तिवर्मन (जो बाद में कीर्तिवर्मन-II बने)

के नेतृत्व में पल्लवों के विरुद्ध एक और सफल सैन्य अभियान भेजा, और कीर्तिवर्मन कई हाथीओं व काफ़ी सोने व जवाहरात के साथ लौटे।

विक्रमादित्य-II के पुत्र कीर्तिवर्मन-II (744/45-55 ईस्वी) बादामी चालुक्य वंश के अंतिम शासक थे। कीर्तिवर्मन-II और उनके गंग सामंत श्रीपुरुष का संघर्ष पाण्ड्य शासक मारवर्मन राजसिंह-I के साथ हुआ, जब मारवर्मन ने पाण्ड्य शासन कोंगु क्षेत्र और उससे आगे बढ़ाने की कोशिश की। वेण्बै के युद्ध में मारवर्मन ने कीर्तिवर्मन-II और श्रीपुरुष को हराया, पर उनसे सुलह की और अपने पुत्र का विवाह गंग राजकुमारी से करवाया (750 ईस्वी)। इस संघर्ष में कीर्तिवर्मन-II के राज्य के दक्षिणी क्षेत्र पाण्द्यों के कब्ज़े में चले गए। उनकी शक्ति को और भी तेज़ी से क्षीण कर रहे थे बादामी चालुक्यों के भूतपूर्व सामंत राष्ट्रकूट दंतिदुर्ग (752-56 ईस्वी) जिन्होनें मालवा के गुर्जरों, कोसल और कलिंग के शासकों तथा रायलसीमा के तेलेगु-चोलों को पराजित कर अपनी शक्ति का विस्तार किया। चालुक्यों के बाहरी प्रांतों पर कब्ज़ा करने के बाद दंतिदुर्ग ने 752/53 ईस्वी में कीर्तिवर्मन-II पर आखरी चोट की और स्वयं को दक्कन का संप्रभू शासक घोषित किया। दंतिदुर्ग ने कांची भी आक्रमण किया, पर नंदिवर्मन-II के साथ संधि कर ली, जिसके तहत उन्होंने अपनी पुत्री रेवा का विवाह नंदिवर्मन-II के साथ करवाया।

नंदिवर्मन-II पल्लवमल्ल ने चालुक्यों के 760 ईस्वी में गंग सामंत श्रीपुरुष को हराकर काफ़ी सम्पत्ति देने पर मजबूर किया। कुछ गंग क्षेत्रों को छीन कर उन्होंने अपने बान सामंत जयनंदिवर्मन को दे दिया। पर वह 767 ईस्वी में कावेरी के दक्षिणी तट पर पेण्णागडम के युद्ध में पाण्ड्य मारवर्मन राजसिंह-I के पुत्र परांतक नेडुंजडैयन या वरगुणमहाराज-I (765-815 ईस्वी) से हार गए। नंदिवर्मन-II ने पाण्ड्यों की बढ़ती शक्ति को रोकने के लिए उनके विरुद्ध कोंगु, केरल और तगडूर (वर्तमान धर्मपुरी, तमिल नाडु) के शासकों के साथ गठबंधन किया। पर वरगुणमहाराज-I ने नंदिवर्मन-II के मित्र-शासकों को हराकर कोंगु क्षेत्र पर कब्ज़ा किया और पल्लव राज्य के काफ़ी अंदर प्रवेश कर तंजोर ज़िले में इडवई में अपनी छावनी स्थापित की। अतः पाण्ड्यों के विरुद्ध नंदिवर्मन-II का गठबंधन विफल हो गया और वह पाण्ड्यों को रोकने में असफल हुए। इसके बाद वरगुणमहाराज-I ने दक्षिणी केरल यानी वेणाड पर अधिकार किया। वरगुणमहाराज-I के पुत्र श्रीमार श्रीवल्लभ (815-62 ईस्वी) ने सेन-I (821-51 ईस्वी) के शासन-काल में श्रीलंका आक्रमण किया और राजधानी अनुराधपुर को ध्वस्त कर दिया, पर अंत में सेन-I से शांति समझौता कर सेना समेत श्रीलंका छोड़ दिया।

पल्लव नंदिवर्मन-II के पुत्र दंतिवर्मन (796-847 ईस्वी) को न केवल राज्य के दक्षिणी इलाकें विस्तारवादी पाण्ड्य शासक वरगुणमहाराज-I और श्रीमार के हाथों खोना पड़ा बल्कि उत्तर में राष्ट्रकूटों की बढ़ती शक्ति का सामना करना पड़ा। राष्ट्रकूट राज्य में निःसंतान दंतिदुर्ग के मौत के बाद उनके चाचा कृष्ण-I (756-75 ईस्वी) ने बादामी चालुक्यों को खत्म करने का कार्य पुरा किया और नए राज्य का विस्तार सारी दिशाओं में किया। उन्होंने दक्षिणी कोंकन जीतकर शिलार वंश को सामंत-शासक के रूप में स्थापित किया और गंग शासक श्रीपुरुष को हराकर अपने अधीन किया। उन्होंने वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक विजयादित्य-I के विरुद्ध एक सैन्य अभियान भेजा, और विजयादित्य-I ने बिना युद्ध के समर्पण कर दिया।एलोरा में उन्होंने प्रसिद्ध कैलाश मंदिर भी बनवाया। उनके पुत्र

गोविन्द-II (775-80 ईस्वी) ने श्रीपुरुष के पुत्र शिवमार-II को उनके भाई दुग्गमार ऐरेयप्प के विरुद्ध गंग सिंहासन दिलाने में नंदिवर्मन-II की मदद की। अपने भाई ध्रुव के विरुद्ध गोविन्द-II ने पल्लव व गंग शासकों तथा वेंगी व मालवा के शासकों की मदद ली, पर ध्रुव (780-92 ईस्वी) सबको हराकर राजा बन गए। उन्होंने गंग शिवमार-II को बन्दी बना लिया, पल्लव शासक नंदिवर्मन-II से हाथियों का भेंट वसुल किया, मालवा के गुर्जर शासक वत्सराज को मरुस्थल में खदेड़ दिया, और वेंगी के पूर्वी चालुक्य शासक विष्णुवर्धन-IV को शांति-सम्झौता मानने पर मजबूर किया, जिसके तहत उन्हें अपने कुछ क्षेत्र और अपनी बेटी शीलमहादेवी देनी पड़ी। उन्होंने बंगाल के पाल शासक धर्मपाल को भी गंगा-यमुना दोअब में परास्त किया। उनके पुत्र गोविन्द-III (792-814 ईस्वी) ने अपने सत्ता के दावेदार भाईओं और उनके मित्र-शासकों का विद्रोह दमन कर उत्तर में मालवा के गुर्जर शासक नागभट-I, कनौज के शासक चक्रायुध तथा उनके संरक्षक पाल शासक धर्मपाल को भी हराया। दक्षिण में पल्लव राजधानी कांची पर आक्रमण कर दंतिवर्मन को हराया, पर वापस लौटकर तुंगभद्रा नदी के तट पर रामेश्वर-तीर्थ में अपना शिविर स्थापित किया।

दंतिवर्मन के लम्बे शासन-काल में पल्लवों का क्षेत्र उत्तर से राष्ट्रकूटों और दक्षिण से पाण्ड्यों के आक्रमणों से सिकुड़ गया। पाण्ड्यों के मित्र तेलेगु-चोल शासक श्रीकण्ठ ने भी पल्लवों का मूल क्षेत्र तोण्डईमण्डलम् तक अपना क्षेत्रिय विस्तार किया। दंतिवर्मन के पुत्र नंदिवर्मन-III (846-69 ईस्वी) ने गंगों, राष्ट्रकूटों और कावेरी-नदीमुख क्षेत्र में नई राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरते तमिल-चोलों की सहायता से पाण्ड्य श्रीमार श्रीवल्लभ और तेलेगु-चोल श्रीकण्ठ को तेल्लरु के युद्ध में हराया। लेकिन श्रीमार ने अपनी खोई शक्ति वापस पा ली और 859 ईस्वी में नंदिवर्मन-III और उनके मित्र-शासकों को कुम्बकोनम के युद्ध में पराजित किया। नंदिवर्मन-III के पुत्र नृपतुंगवर्मन (859-99 ईस्वी) ने अरिशिल नदी के तट पर पाण्ड्यों को हराकर पिता की हार का बदला लिया। इसी युद्ध के दौरान श्रीलंका के शासक सेन-II (851-55 ईस्वी) ने, जो पल्लवों के साथ मिले हुए थे, पाण्ड्यों के विरुद्ध एक सफल सैन्य अभियान भेजकर मदुरई ध्वस्त कर दिया। युद्ध में श्रीमार की मौत हो गई और उनके पुत्र वरगुणवर्मन-II (862-85 ईस्वी) को श्रीलंका के सेनानायक ने सिंहासन पर बिठाया। वरगुणवर्मन-II ने पल्लव नृपतुंगवर्मन का आधिपत्य स्वीकार किया।

जब पल्लव, पाण्ड्य, और राष्ट्रकूट वर्जस्व के लिए युद्ध-रत थे, निचली कावेरी प्रदेश में विजयालय चोल () ने अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। उनके उत्तराधिकारी आदित्य-I (871-907 ईस्वी) ने श्रीपेरुम्बियम के युद्ध (885 ईस्वी) में पल्लव नृपतुंगवर्मन और उनके पाण्ड्य मित्र-शासक वरगुणवर्मन-II को हराने में नृपतुंगवर्मन के सौतेले भाई अपराजित की मदद की और तंजौर का कुछ हिस्सा हासिल कर लिया। आदित्य-I ने 893 ईस्वी में तोण्डईमण्डलम् पर आक्रमण कर अपराजित की हत्या कर दी। इसी के साथ पल्लव शासन का अंत हो गया और पूरा पल्लव क्षेत्र (तोण्डईमण्डलम्) चोल राज्य में सम्मिलित हो गया। उसके बाद उन्होनें कोंगु-प्रदेश पाण्ड्यों से छीन लिया और गंग राजधानी तालकड पर कब्ज़ा कर लिया। आदित्य-I के उत्तराधिकारी परांतक-I (907-953 ईस्वी) ने गंग शासक, कोदुम्बलुर सरदारों और केरल के शासक की मदद से कई सैन्य सफलताएं पाई। मदुरई कब्ज़ा

कर उन्होंने मदुरईकोण्डा और मदुरांतक की उपाधियां ली। वेल्लुर के युद्ध में उन्होंने पाण्ड्यों और श्रीलंका की संयुक्त सेनाओं को हराया और पाण्ड्यों के एक बड़े क्षेत्र पर कब्ज़ा किया। पर इन सफलताओं के बावजुद 949 ईस्वी में वह तक्कोलम के युद्ध में राष्ट्रकूट कृष्ण-III से बुरी तरह हार गए। सुंदर चोल परांतक-II (957-73 ईस्वी) जैसे शासकों के काल में चोल-शक्ति पुनरुज्जीवित हुई। सुंदर चोल ने पाण्ड्य-श्रीलंका की संयुक्त सेना को हराया और श्रीलंका पर आक्रमण किया। उत्तम चोल (973-85 ईस्वी) के सिंहासन पर बैठने के समय तक राष्ट्रकूटों से तोण्डईमण्डलम् मुक्त करा लिया गया था। चोल शक्ति का चरम-बिंदु था राजराज-I (985-1014 ईस्वी) का शासन काल। उनके शासन काल से लकर 13वीं शताब्दी तक चोल दक्षिण भारत का सबसे शक्तिशाली राज्य बना रहा। उनकी सफल सैन्य अभियानों की लम्बी श्रृंखला ने पाण्ड्य और केरल तथा श्रीलंका के शासकों के मज़बूत संघ को नष्ट कर दिया। उनके एक सफल नौसैनिक अभियान ने श्रीलंका के उत्तरी प्रांत को चोल राज्य का हिस्सा बना लिया। उन्होंने पश्चिमी चालुक्यों और राष्ट्रकूटों को भी पराजित किया और अपने शासन के अंतिम दौर में मालदीव पर कब्ज़ा किया। चोलों के क्षेत्रिय विस्तार का सिलसिला उनके उत्तराधिकारी राजेंद्र-I (1012-44 ईस्वी) के नेतृत्व में चलता रहा। उन्होंने श्रीलंका और केरल के शासकों तथा पश्चिमी चालुक्यों को पराजित किया और गंगईकोण्डचोलपुरम् नामक एक नई राजधानी बनाई। 1025 ईस्वी में उन्होंने मलाय प्रायद्वीप के श्रीविजय शासकों के विरुद्ध एक सफल नौसैनिक बेढ़ा भेजा। परवर्ती चोल शासकों ने भी छिट-पुट सैन्य अभियान चलाएं पर चोलों का वर्जस्व कुलोत्तुंग-I (1070-1122 ईस्वी) के शासन काल के बाद खत्म हो गया। उनके शासन काल में व्यापारियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल चीन भेजा गया, श्रीविजय राज्य के साथ समृद्धशाली वाणिज्यिक संबंध बना रहा, लेकिन शासन काल के उत्तरार्ध में उन्हें चालुक्यों और होयसलों का सामना करना पड़ा। विक्रमचोल (1118-35 ईस्वी) के काल में चोल शक्ति का पुनरुत्थान देख गया; उन्होंने वेंगी पर चोलों का नियंत्रण पुनर्स्थापित किया। कुलोत्तुंग-II, राजराज-II और कुलोत्तुंग-III प्रायः अंतिम शासक गिने जातेहै। 13वीं शताब्दी में चोल वंश का पतन हो गया।

9.5 राज्य और प्रशासन

9.5.1 राजसत्ता और राज्य का स्वरूप

संगम काल के छोटे राज्यों की तुलना में छठी शताब्दी में दक्षिण भारत पर वर्जस्व के लिए संघर्ष करने वाले बड़े राज्यों में राज्त्व और शासन-कला का स्वरुप बहुत अलग था। उत्तर भारत की ब्राह्मणवादी राजनीतिक संस्कृति का प्रभाव दक्कन व दाक्षिण भारत के शासकों द्वारा अपनी सत्ता को वैधानिकता प्रदान करने के तरीकों में देख जा सकता है, जैसे आडंम्बरपूर्ण संस्कृत उपाधियां धारण करना; महाकाव्यों-पुराणों के सूर्य-वंश और चंद्र-वंश से अपनी उत्पत्ति का दावा करना; ब्राह्मण, क्षत्रिय या ब्रह्म्क्षात्र (संयुक्त ब्राह्मण-क्षत्रिय) वंशपरम्परा से जुड़ा होने का दावा करना; अश्वमेध, राजसूय, तुलापुरुष, हिरण्यगर्भ जैसे वैदिक यज्ञों का आयोजन करना; ब्राह्मणों और मंदिरों को प्रचुर भूमिदान एवं अन्य अनुदान देना आदि। यह प्रवृति आरम्भिक रूप में सातवाहन-काल से ही दक्कन में विद्यमान थी

(सातवाहन अभिलेखों में शासकों द्वारा अश्वमेध आदि यज्ञों के अनुष्ठान का उल्लेख है) और बाद में दक्कन और दक्षिण भारत में पल्लव, चालुक्य, पाण्ड्य, राष्ट्रकूट और चोल वंशों में सुदृढ़ हुई।

आरम्भिक पल्ल्व शासक शिवस्कंदवर्मन के एक प्राकृत ताम्र-पत्र अभिलेख में ज़िक्र है उनकी भव्य उपाधी धर्म-महाराजाधिराज ('महान राजाओं के धार्मिक अधिपति') का, उनके द्वारा कुछ ब्राह्मणों को दिए गए एक पूर्व अनुदान की पुष्टि का, तथा उनके द्वारा अश्वमेध और अन्य वैदिक यज्ञों के आयोजन का। पल्लव स्वयं को भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण मानते थे, अपना उद्भव ब्रह्मा से होने का दावा करते थे और अपनी वंशावली में अंगिरस्, बृहस्पति, शम्यू, भरद्वाज, द्रोण, अश्वत्थामा आदि को पूर्वजों के रूप में सूचीबद्ध किया था। पल्लव नंदिवर्मन-II ने उत्तर से कई वेदज्ञ ब्राह्मणों को आमंत्रित किया तमिल क्षेत्र में ब्रह्मदेयों की स्थापना के लिए। पल्लव शासक धर्म-महाराज, धर्म-महाराजाधिराज, महाराजाधिराज और महाराज आदि उपाधियों क साथ-साथ राज्याभिषेक के समय अभिषेकनाम भी लेते थे।

छठी शताब्दी में दक्कन में चालुक्य वंश के संस्थापक पुलकेशिन्-I को बाद के अभिलेखों में धर्म-महाराज ('महान धार्मिक राजा') और रणविक्रम ('युद्ध में परक्रमी') जैसी उपाधियां दी गई है और अश्वमेध, हिरण्यगर्भ आदि वैदिक यज्ञों का आयोजक बताया गया है। चालुक्य अपने अभिलेखों में स्वयं को मानव्य गोत्र के हरितिपुत्र के रूप में ब्राह्मण मूल का बताते है। चालुक्य शासक शुरुआत में श्री-पृथिवीवल्लभ-महाराज की उपाधी लेते थे; पुलकेशिन्-II द्वारा हर्षवर्धन पर विजय के बाद परमेश्वर तथा विक्रमादित्य-I के शासन-काल में महाराजाधिराज और भट्टारक जैसी उपाधियां भी जुड़ गई।

पाण्ड्य स्वयं को चंद्रवंशी मानते थे। पाण्ड्य शासक अरिकेसरि मारवर्मन ने वैदिक हिरण्यगर्भ यज्ञ का आयोजन किया। राष्ट्रकूटों ने अपने कुछ ताम्र-पत्र अभिलेखों में स्वयं को यदु का वंशज बताया है (महाकाव्यों और पुराणों में यदु ययाति के पुत्र और कृष्ण के पूर्वज के रूप में जाने जाते है)। कई अन्य उपाधियों में शासकों का क्षत्रिय मूल प्रतिबिम्बित होता है, जैसे राजराज चोल की क्षत्रिय-शिखामणि की उपाधी। कई शासकों के नाम के साथ 'वर्मन' जुड़ा था, जिसे मनुस्मृति जैसे ब्राह्मणवादी शास्त्रों में क्षत्रियों के लिए प्रस्तावित किया है।

चोल अभिलेखों में राजा के लिए को (राजन्), पेरुमाल/ पेरुमन् (महान) के साथ साथ अतिशयोक्ति-पूर्ण उपाधियां प्रयुक्त हुई है, जैसे राज-राजाधिराज और को-कोन्मई (राजाओं के राजा)। उनकों महान योद्धा और विजेता, वर्णाश्रमधर्म का संस्थापक, कलियुग के कलुष-हर्ता, अति-उदार दानकर्ता और कला के महान संरक्षक के रूप में चित्रित किया गया है। इसके अलावा उनकी तुलना अक्सर देवताओं से की गई है। चोल स्वयं को सूर्यवंशी मानते थे।

हालांकि चेर अभिलेखों में प्रशस्ति और वंशावली की कमी नज़र आती है, परवर्ती साहित्यिक परम्पराओं में ब्राह्मणों और मंदिरों के महत्व का वर्णन उनके वंश की उत्पत्ति के संदर्भ में किया गया है। उदाहरण के लिए, पेरियपुराणम् के अनुसार एक मंदिर मे बैठे चेरामन पेरुमाल को लोगों ने नगर में लाकर उनका राज्याभिषेक किया;

16वीं शताब्दी की केरलोल्पत्ती में ब्राह्मणों के राजा को राजगद्दी संभालने के लिए आमंत्रित करने की प्रथा का उल्लेख है।

हालांकि मध्यकालीन राजकीय अभिलेखों के माध्यम से उत्तर भारत की ब्राह्मणवादी परम्पराएं अखिल भारतीय स्तर पर सर्वमाण्य से प्रचलित थीं, किंतु पाण्ड्य अभिलेखों में स्थानीय तमिल परम्पराओं भी स्थान मिला। उदाहरण के लिए, इनके अभिलेखों में दावा किया गया है कि इनके शासकों ने राजकीय प्रतीक चिह्न, जुड़वा मछिलयों को मेरु या हिमालय पर्वत की चोटी पर उत्कीर्ण करवाया था, कि अगस्त्य ऋषि ने इनके शासकों का राज्याभिषेक किया था और तमिल भाषा का ज्ञान दिया था, तथा इन्होंने मदुरई की स्थापना की और संगम का आयोजन करवाया। इसके अलावा यह भी उल्लेखनीय है कि पाण्ड्य ताम्रपत्रों में संस्कृत में लिखित अंश के बाद तमिल का प्रयोग हुआ है और कई बार तमिल में लिखित अंश ज़्यादा विस्तृत है।

राजनीतिक सत्ता को वैधानिकता प्रदान करने के लिए उत्तर भारतीय ब्राह्मणवादी परम्पराओं से उद्धृत तरीकों का दक्कन और दक्षिण भारत के राजवंशों में छठी शताब्दी से ज़्यादा प्रचलन होने का कारण हिंदुधर्म और भक्ति आंदोलन का द्रुत विस्तार है। हालांकि छठी शताब्दी से पूर्व संगम/सातवाहन/आदि पल्लव कालीन शासक ब्राह्मणवादी राजनीतिक आचारों का पालन करते थे, बौद्ध-धर्म, जैन-धर्म और अन्य स्थानीय गैर-ब्राह्मणवादी धार्मिक परमपराओं का भी उन पर काफ़ी प्रभाव था।। पर 5वीं-6ठीं शताब्दी में उत्तर भारत से वैदिक-ब्राह्मणवादी-पौराणिक परम्पराओं और मंदिर-केंद्रित अनुष्ठानों से सम्नवित हिंदुधर्म के आगमन और इसके साथ विभिन्न स्थानीय धार्मिक परम्पराओं का समावेश के कारण दक्षिण भारत में धार्मिक तथा राजनीतिक परिवेश में काफ़ी परिवर्तन हुए। शिव, स्कंद/कातिकेय और विष्णु जैसे नए हिंदु देवताओं को मुरुगन, मैयोन, कोर्रवई जैसे पारम्पारिक स्थानीय देवी-देवताओं से जोड़ा गया। हिंदु देवताओं से संयुक्त इन स्थानीय देवताओं से जुड़े पारम्पारिक पवित्र स्थलों में मदिरों का निर्माण या जीर्णोद्धार हुआ। अन्य स्थलों में भी, जिनका कोई ऐसा पारम्पारिक धार्मिक महत्व नहीं था, शिव और विष्णु के कई मदिर बनवाए गए। उत्तरी और दक्षिणी सांस्कृतिक परम्पराओं के समन्यवय का एक और द्योतक है इस काल के अभिलेखों में संस्कृत और तमिल दोनो भाषाओं का प्रयोग। तमिल क्षेत्र में लोगों ने भी स्थानीय धार्मिक परम्पराओं से सम्मिश्रित इस हिंदुधर्म को उत्साह से अपनाया। परिणाम-स्वरूप इस क्षेत्र में शैव-वैष्णव भक्ति पर केंद्रित एक धार्मिक आंदोलन का विकास और विस्तार हुआ। इसका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में भी दिखा, जिसका उदाहरण हैं कुछ शासकों का धर्मान्तरण। भक्ति-साहित्य में पल्लव शासक महेंद्रवर्मन-II और पाण्ड्य शासक नेदुमरन या अरिकेसरि मारवर्मन द्वारा भक्ति संत अप्पर और सम्बंदर के प्रभाव में आकर जैन-धर्म त्यागकर शैव-धर्म अपनाने की कथाएं वर्णित है। इसी संदर्भ में दक्षिण भारत के राजत्व तथा राजनीतिक संस्कृति में उत्तर भारतीय संस्कृति के प्रभाव से हुए द्रुत परिवर्तनों को समझा जा सकता है।

इस बदलती राजनीतिक संस्कृति में राज-सत्ता की वैधानिकता और राज-शक्ति की सीमा से जुड़े कुछ मुद्दे विचारनीय है, जैसे राजा और ब्राहमणों का आपसी संबंध, तथा राजा का प्रांतीय/स्थानीय प्रशासन व शासकों से संबंध। राजसूय यज्ञ में प्रतिबिम्बित राजा और ब्राहमण के संबंध का सही स्वरूप काफ़ी विवाद का विषय रहा है।

सैद्धांतिक स्तर पर राजा उच्चतर है या ब्राहमण इस पर विद्वानों में मतभेद है। जे. सी. हीस्टर्मैन के अनुसार राजा की राजनीतिक सत्ता और ब्राहमण की धार्मिक/आध्यात्मिक सत्ता एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न और परस्पर-विरोधी है, और सैद्धांतिक रूप से वर्जस्व या श्रेष्ठता के लिए उनके आपसी संघर्ष का कोई हल न होने के कारण भारत में राजत्व का एक अविरोधी सुसंगत सिद्धांत नहीं बना। पर डेवीड शुल्मन के अनुसार ब्राहमण की आध्यात्मिक शक्ति और राजा का सामरिक व प्राशासनिक कौशल स्थायी रूप से भिन्न या परस्पर-विरोधी नहीं बल्कि परस्पर-निर्भर, परस्पर-भेदी और परस्पर-प्रभावी है। राजा और ब्राहमण के वैचारिक संबंध चाहे कुछ भी हो, इतिहास दर्शाता है कि उनके वास्तविक संबंध परस्पर-निर्भर थे। राजा को अपने प्रभूत्व को वैधता देने के लिए ब्राहमणों की ज़रुरत थी, और ब्राहमणों को अपनी आजीविका के लिए राजा के संरक्षण पर निर्भर रहना पड़ता था। यही विशिष्ट संबंध इस काल के राजकीय अभिलेखों में राजाओं की दैवीय उत्पत्ति-मिथकों से समन्वित वंशावलीयों, उनके द्वारा आयोजित यज्ञानुष्ठानों, और ब्राह्मणों को दिए गए प्रचुर विशेषाधिकार समेत भूमिदानों के उल्लेख से, और काफ़ी संख्या में ब्रह्मदेयों की स्थापना से स्पष्ट होता है।

राजा और ब्राहमणों के संबंध के अलावा राजत्व का अन्य ऐतिहासिक आयाम है शासक की राजनीतिक सत्ता का विस्तार-क्षेत्र, विशेषतः राज्य के केंद्र में सतारुढ़ शासक का प्रांतीय/स्थानीय प्रशासन व शासक वर्गों के साथ संबंध, जिसे केंद्र और परिधि का संबंध भी कहा जाता है। एक तरफ़ बर्ट्न स्टाईन चोल राज्य के संदर्भ में यह तर्क देते है कि राजा के पास धार्मिक सत्ता तो थी, पर राजनीतिक शक्ति नहीं थी। दूसरी तरफ़ निकोलस् डर्क्स् दोनो के सह-संबंध पर ज़ोर देते है। चेर, पल्लव व चोल राज्यों की परिधि में अनेक स्थानीय शासक भी सम्मिलित थे (हालांकि पाण्द्य राज्य में इनकी भूमिका नगण्य प्रतीत होती है; सिर्फ़ अय नामक प्रमुखों का ही उल्लेख है)। एक दृष्टिकोण के अनुसार, ऐसे स्थानीय प्रमुख शासकों द्वारा राज्य के विभिन्न प्रमण्डलों में गवर्नरों/राज्यपालों के रूप में नियुक्त किए जाते थे, पर वास्तव में ये अधीनस्थ सामंत प्रतीत होते है, जो प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल से ज्ञात स्थानीय मुखिया या सरदारों की ही तरह थे, या कुछ स्थितियों में उनके ही वंशज रहे होंगे। अवसर आने पर अपने अधिपतियों को सैन्य-बल मुहैया करते थे। ये अधिपतियों को नज़राना भी पेश करते थे और उनके दरबारों में मौजुद रहते थे। ये आपस में तथा अपने अधिपतियों से साथ वैवाहिक संधियों से जुड़े थे। उदाहरण के रूप में, चोल साम्राज्य में शासकों का प्रत्यक्ष अधिकार-क्षेत्र था चोलमंण्डलम् जिसमें वर्तमान तमिल नाडु के तंजौर और तिरुचिरापल्ली ज़िले के कुछ हिस्से पड़ते थे। चोल राज्य के इस मूल क्षेत्र के बाहर पलुवेत्तरैयर, कोदुलम्बलुर के वेल, मिलाडु, बाण तथा गंग जैसे प्रमुखों का नियंत्रण था। चोल शासक की शक्ति और सामंतों के अभिलेखीय उल्लेखों में एक विपरीत संबंध प्रतीत होता है। 11वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, विशेषतः कुलोत्तुंग-I (1070-1122 ईस्वी) के शासन-काल के बाद, इनके अभिलेखीय उल्लेखों में वृद्धि इनकी बड़ती हुई शक्ति और चोल शासक की घटती हुई शक्ति का द्योतक है।

9.5.2 प्रशासन

9.5.2.1 राजकुल और अधिकारी-वर्ग

पूर्वमध्यकाल में राजतंत्र ही एकमात्र वैध व स्वीकृत राजनीतिक व्यवस्था थी। सामाण्यतः उत्तराधिकार वंशागत था, पर ज्येष्ठाधिकार हमेशा निश्चित नहीं था। ज्येष्ठ पुत्र के अलावा अन्य पुत्रों का सिंहासन का उत्तराधिकारी के रुप में चयन तथा उत्तराधिकार के किए गृह-युद्ध के कई उदाहरण मिलते है दक्कन और दक्षिण के राजवंशों में। कभी कभी मंत्रियों तथा जनता की भी उत्तराधिकारी के चयन में भूमिका रहती थी, जैसे परमेश्वरवर्मन-II की मृत्यु पर पल्लव राज्य के अधिकारीयों (मात्त्र), विद्वान ब्राह्मणों की मण्डली (घटिका) व प्रजा (मूलप्रकृति) ने संपार्श्विक वंश के राजकुमार नंदिवर्मन-II को राजा चुना।

राजवंशों के अपने ध्वज तथा मुहर (लाञ्चन) होते थे, जो उनके धार्मिक विश्वास का द्योतक थे। जैसे पल्लवों का मुहर ऋषभ (ऋषभ-लाञ्चन) था, जो अनके शैव-धर्म के अनुयायी होने का संकेत देता है। इन राजवंशों की कई रानीयों की राजनीतिक व धार्मिक जीवन में भूमिका थी। उदाहरण के लिए, राष्ट्रकूट शासक ध्रुव की पत्नी शिलभट्टारिका ने परमेश्वरी तथा परमभट्टारिका जैसे आड़म्बरपूर्ण उपाधियां ग्रहण की, भूमिदान किए तथा राज्य के अधिकारियों को आदेश जारी किए।

राजसभा के साथ जुड़े महत्वपूर्ण अधिकारियों में पुरोहित व राजा के सलाहकार होते थे। अभिलेखों तथा साहित्यिक स्रोतों में कई अधिकारियों का उल्लेख मिलता है, पर इन सभी के कार्यभार सष्ट नहीं है। तमिल भक्ति-साहित्य के अंतर्गत तिरुनावुक्करसु-नायनूर-पुराणम् नामक ग्रंथ और पल्लव शासक शिवस्कंदवर्मन के हिरहडगल्लि ताम्र-पत्र अभिलेख में अमच्च/अमात्य नामक उच्च-पदस्थ अधिकारियों का ज़िक्र है। पल्लव व चेर राज्य में मंत्रिमण्डल/मंत्रि-परिषद् के होने का पता चलता है, और पाण्ड्य अभिलेखों में मंत्रियों (मन्त्रिण्) की चर्चा की गई है जो सम्भवतः एक परिषद् के रूप में संगाठित थे। कुछ अभिलेख उल्लेख करते है वायिल केट्पार या रहस्याधिकृत का, जो शायद राजा के व्यक्तिगत सचिव/सेक्रेटरी थे, उनके मौखिक राजादेश (राजश्रावितम्) सुनकर लिपिबद्ध करते थे और इनकी जानकारी उपयुक्त अधिकारियों तक कार्यान्वयन के लिए पहुँचाते थे। अभिलेखों में इसके अलावा उल्लेख मिलता है कोशाध्यक्ष या राजकोश के अधीक्षक का, तथा कृषि-भूमि का सर्वेक्षण और मूल्यांक्न करने वाले मिलक्कलत्तार और अधिकारी का। राज्य में राजा तथा न्यायपालिकाओं के आदेश कार्यान्वित करते थे शासन-संचारिन्, जिनका सहयोग करते थे भट या अधीनस्थ सिपाही। नीलकण्ठ शास्त्री जैसे विद्वानों के अनुसार विवादों के हल के लिए गाँवों, जातियों तथा शिल्पकार-वणिक संघों की अपनी-अपनी पंचायतों के अलावा अधिकरण या धर्मासन नाम के शाही या केंद्रीय न्यायालय थे जिनकी अध्यक्षता राजकीय अधिकारी न्यायज्ञ सलाहकारों के सह्योग से करते थे। पर यह सिद्धांत इस अवधारणा से प्रेरित हो सकता है कि सैद्धांतिक रूप से राजा ही सर्वोपरि न्यायिक अपीलीय अधिकारी था। ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में दैनिक न्याय-प्रशासन उर्, सभा जैसी स्थानीय के अधीन था।

ताम्र-पत्र दान-अभिलेखों का प्रारूप रचने वाले व्यक्तियों के नाम अभिलेखों के अंत में मिलते है, जिनमें से कुछ महासंधिविग्रहक, करणिक, उत्तर-करणिक और परमोत्तर-करणिक जैसे पदाधिकारी थे। अभिलेखों, विशेषतः

प्रशस्ति-अभिलेखों, के रचयिता कुछ कवि भी थे, जैसे पल्लव शासक सिंहवर्मन के विलवेत्ति अभिलेख के रचयिता अच्चुतन्, और नंदिवर्मन-II के तण्डंतोट्टम् अभिलेख के रचयिता परमेश्वर।

नोबोरु काराशिमा, वाई. सुब्बरयलु व तोरु मात्सुई द्वारा 1982 में तैयार की गई तमिल चोल अभिलेखों में व्यक्तिगत नामों, पदवियों और उपाधियों की समानुक्रमणिका यह दर्शाती है कि पल्लव-पाण्ड्य-चेर अभिलेखों की तुलना में चोल अभिलेखों में उल्लिखित पदों तथा पदाधिकारियों की काफ़ी संख्या ज़्यादा है, जो चोल-काल में, विशेषतः राजराज-I के शासन-काल (985-1016 ईस्वी) से, प्राशासनिक ढांचों और अधिकारी वर्ग में विस्तार का द्योतक है। पर कुलोत्तुंग-I के शासन-काल के बाद ऐसे उल्लेखों में कमी देखी जा सकती है, जो प्रशासन के संकुचन या पतन का सूचक है। प्राशासनिक अधिकारियों के लिए प्रयुक्त आराईन् उपाधि सम्मानित व्यक्तियों को दी जाती थी। दरबारी अधिकारियों के लिए प्रयुक्त उडईयन्, वेलन्, और मूवेंदवेलान् जैसी उपाधियां संकेत करती है कि इन उपाधियों के धारक भूस्वामी थे। इसके अलावा ब्राह्मण पुरोहित तथा राजगुरु का भी उल्लेख मिलता है। चोल शासक के सचिव तथा अन्य अधिकरी थे: तिरुमंदिर-ओलई या ओलई, जो राज-लिपिक या राजा के व्यक्तिगत सचिव थे; नडुविरुक्कइ, जो न्यायतंत्र-संबंधित विषयों के माहिर विद्वान ब्राह्मण थे; उडन्कूट्टम् यानी दरबारी अधिकारी; और विडइयिल, जो राज्य के दौरे पर रहते हुए राजादेश कार्यान्वित करते थे। अक्सर अदिकारि कहे जाने वाले इन उच्च-अधिकारियों की उपाधियों में तत्कालीन सत्तारुढ़ राजाओं के नाम उपसर्ग के रूप में लगते थे, जैसे राजराज-मूवेंदवेलान्, राजेंद्रचोल-ब्रह्मरायन्, कुलोत्तुंग्चोल-पल्लवरायन् । सेनापति और दण्डनायकम् पद-धारी सैन्य अधिकारी भी ऐसी उपाधियां धारण करते थे।। एक और महत्वपूर्ण अधिकारी थे श्रीकारियम् जो राज्य के लिए मंदिर-संबंधित विषयों का पर्यवेक्षण करते थे। उपरोक्त पदों में अधिकतर राजराज-I के काल तक बन चुके थे और चोल-काल के अंत तक बने रहे।

9.5.2.2 राजस्व प्रशासन

चालुक्य-पल्लव काल में राजस्व के स्रोत अर्थात् करों की जानकारी ब्राह्मणों, मंदिरों तथा बौद्ध-जैन संस्थाओं को दिए अनुदानों से संबंधित अभिलेखों में मिलती है। अभिलेखों में कृषि-उत्पाद में राज्य का भाग तो स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं है, पर इरइ शब्द भूमि-कर (उत्पाद पर कर) और इरइयिलि शब्द कर-मुक्ति (विशेषतः धार्मिक अनुदानों के दृष्तांतों में) के द्योतक है। अभिलेखों के परिहार-सॅबंधित अंश में कई करों का परोक्ष उल्लेख मिलता है। परिहार राजकीय अनुदान पाने वालों को दिए गए विभिन्न करों से छुट और अन्य विशेषाधिकार है। पल्ल्लवों के आरम्भिक प्राकृत अभिलेखों में अ-लोणगुलछछोभम् और बाद के तमिल अभिलेखों में उप्पुक्कोच्चेयगइ शब्द का अर्थ है 'नमक (लवण) की समस्याओं से मुक्त', जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि नमक उत्पादन पर राज्य का अधिकार था और इसके इस्तमाल पर कर देय था। इसी तरह अपरम्पराबलिवदम् शब्द का अर्थ है 'बैल (मुहैया कराने की बाध्यता/ज़िम्मेदारी) से मुक्त', जिससे यह पता चलता है कि दौरें पर अधिकारियों को बोझ ढोने वाले मवेशी मुहैया करवाना की सेवा एक तरह का कर था। राजस्व के अन्य स्रोत थे: ईलम्पूट्चि (पेशेवर ताड़ी बनाने वालों पर कर), ईडइपूट्चि (पशु-पालकों पर कर), ब्राह्मणराशक्काणम् (धार्मिक अनुष्ठानों में पौरहित्य करने वाले

ब्राह्मणों पर कर), कल्लाणक्काणम् (विवाह के अवसर पर कर), कुशक्काणम् (कुम्हारों पर कर), तट्टुक्कायम् (सुनारों पर कर), विशक्काणम् (गाँव के मुखिया के दायित्वों के निर्वाह के लिए गाँव के निवासियों द्वारा देय कर), पारइक्काणम् (धोबियों पर लगाया गया कर, या धोबियों द्वारा कपड़े धोने के लिए सार्वजनिक तालाबों का या सार्वजनिक भूमि के पत्थरों का इस्तमाल करने पर देय कर), पुत्तगविलइ (कपड़े बेचने वालों पर कर या शिविर लगा कर रहने के लिए देय कर), पट्टिगइ-काणम् (नौका-यात्रा पर शुल्क या मल्लाहों पर कर), तरगु (दलाली से मुनाफें पर दलालों द्वारा देय कर), तरि (जुलाहों पर कर), पडाम्कलि (सूत काटने वालों पर कर), पट्टिनशेरि (मछुआरों पर कर), नाट्टुवगइ (गाँव द्वारा नाडु को देय कर), नेय-विलइ (घी बेचने वालों पर कर), कत्तिक्काणम् (शस्त्र इस्तमाल करने वालों या बनाने वालों, यानी लोहारों पर कर), तथा एच्चोरु (इरइ वसूल करने वाले अधिकारियों के रखरखाव के लिए ग्रामवासियों द्वारा देय कर)।

चोलों का राजस्व-विभाग काफ़ी बड़ा और सुसंगठित था, जो विशेष रूप से राजस्व का लेखा-जोखा रखता था। राजस्व-विभाग को पुरवुवरि कहा जाता था और इसके अंतर्गत कई कार्यालय, पद, दायित्व और विशेषताएं थी, जैसे पुरवुवरि-तिणइक्कल-कंकाणि या पुरवुवरि-तिणइक्कल-नायगम् (राजस्व-विभाग का लेखपाल-अध्यक्ष, वरिपोत्तगम् (कर-पंजिका), मुगवेट्टि (राजकीय मुहर), वरिपोत्तग-कणक्कु (कर-पंजिका का लेखा-जोखा), वरियिलिडु (कर-पंजिका में प्रविष्टि[) और पट्टोलई (ताड़-पत्र लेखक)। राजेंद्र-I का करंदई ताम्र-पत्र अभिलेख जिसमें, 1080 ब्राह्मणों को 50 से भी ज़्यादा गांवों के अनुदान का विवरण है, उल्लेख करता है इस दान के प्रबंधक के रूप में 40 से ज़्यादा राजस्व-अधिकारियों तथा उनकी उपाधियों का। यह अकेला ही साक्ष्य है चोलों के सुविकसित अधिकारी-वर्ग का, विशेषतः राजस्व-प्रशासन में। राजस्व का निर्धारण और उसकी वसूली का कार्य उर, नाडु, सभा तथा नगरम् जैसी निगम या संस्थाएं और कई बार केंद्र के प्रतिनिधि के रूप में स्थानीय प्रमुख/सरदार भी करते थे।11वीं शताब्दी की शुरुआत में, राजराज-I ने भूमि-सर्वेक्षण और कर-निर्धारण की एक व्यापक परियोजना चलाई।। उनके पुत्र राजेंद्र-I के अभिलेखों में उल्लिखित मलिगइ-कोल नामक एक नया मापदंड राजराज के शासन-काल में हुए भूमि-सर्वेक्षण में ज़रुर इस्तमाल हुआ था। कुलोत्तुंग-I के शासन-काल में भी दो सर्वेक्षण हुए।

चोल अभिलेखों में उल्लिखित कर-संबंधित शब्दों से राज्य द्वारा वसूले जाने वाले करों की जानकारी मिलती है। काराशिमा के शोध ने दर्शाया है कि चोल राज्य के दो मुख्य/मूल मण्डलमों (चोल-मण्डलम् और जयन्गोण्डचोल-मण्डलम्) में जारी किए गए अभिलेखों में पूरे चोल-काल (846-1279 ईस्वी) के दौरान बारम्बार उल्लिखित सात शब्द सात मुख्य कर माने जा सकते है। ये है: अंतरायम्, एच्चोरु, कडमइ, कुडिमइ, मुट्टइ-अल्, तट्टार्-पाट्टम्, और वेट्टि। कडमइ व कुडिमइ भू-लगान थे, पहला भूस्वामियों पर और दूसरा किसानों पर लगाया जाता था। चुकिं चोल राज्य और अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः कृषि-निर्भर थी, धान और अन्य फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया जाता था। सिंचाई चोल-मण्डलम् में तालाबों तथा जयन्गोण्डचोल-मण्डलम् में नदी के पानी से होती थी। सिंचाई व्यवस्था के रख-रखाव के लिए, यानी समय-समय पर तालाबों और नदियों का तालों को रेगमुक्त करने के लिए, बल-श्रम सेवाकर के रूप में वसूल किया जाता था, जिसका द्योतक है मुट्टइ-अल् और वेट्टि। अंतरायम् और तट्टार्-पाट्टम्

व्यापारियों और शिल्पकारों से वसूला जाता था, और इस कर की आवृत्ति 11वीं शताब्दी के अंत से हुई बढ़त व्यापार और दस्त्कारी में विकास का सूचक है। एच्चोरु ग्रामवासियों द्वारा राज कर्मचारियों को देय खाद्यान्न के रूप में कर था। अभिलेखों में कर-संबंधित शब्दों के संख्या में उतारोत्तर वृद्धि हुई, जो अपने चरम पर राजेंद्र-II (1052-63 ईस्वी) पहुँच गया, पर इसमें कुलोत्तुंग-I के काल से ह्रास शुरु हो गया।

9.5.2.3 प्रांतीय/ स्थानीय प्रशासन

पल्लव और चालुक्य राज्य प्रांतीय तथा स्थानीय स्तर पर कई प्रमण्डलों/इकाईओं में विभाजित थे। इनकों अलग-अलग काल तथा भिन्न-भिन्ने क्षेत्रों में आहार, विषय, राष्ट्र, कोट्टम्, मण्डलम् और नाडु कहा जाता था और इनकें आकार और पदानुक्रम में भी काफ़ी अंतर था। ऐसा प्रतीत होता है कि विजित क्षेत्रों के शासकों को राजा का आधिपत्य स्वीकार करने, यदाकदा अधिपतियों को नज़राना पेश करने तथा युद्ध या सैन्य अभियान के समय सैन्य-बल मुहैया करने के एवज़ में स्थानीय प्रशासन का संचालन करने दिया जाता था, अर्थात् ये सामंत के रूप में स्थनीय प्रशासन के जुड़े थे। जैसे बनराज विषय एक स्वतंत्र राज्य था, पर बाद में चालुक्यों के अधीन एक प्रांतीय प्रमण्डल बन गया। दक्कन में विषय और राष्ट्र तथा तमिल क्षेत्र में मण्डलम् बड़ी इकाईयां थी।

अपने शक्ति के चरम पर चोल साम्राज्य 9 मण्डलमों या पडियों में विभाजित था, जिनमें श्रीलंका के विजित क्षेत्र समेत अन्य विजित क्षेत्र भी शामिल थे। प्रशासन को केंद्रिकृत करने के लिए राजराज-I ने सबसे छोटी इकाई नाडु और सबसे बड़ी इकाई मण्डलम् के बीच वलनाडु नामक एक इकाई का गठन किया, और इस इकाई के राजस्व की वसूली का भार इसके अधिकारियों पर डाल दिया। उनका उद्देश्य कृषि-उत्पादन की पारम्परिक इकाई नाडु में नातेदारी और क्षेत्रिय संबंधों के आधार पर सशक्त और प्रभावशाली स्थानीय शासक-वर्ग को कमज़ोर करना था। राजराज-I के काल में 10 वलनाडु थे, जो 12वीं शताब्दी की शुरुआत में विभाजन तथा पुनर्विन्यास के कारण बढ़कर 15 हो गए।

साधारणतः प्रांतीय प्रशासन के प्रमुख थे राजकुमार (युव-महाराज)। अभिलेखों में देशटिक, भोजक, वल्लभ, गोवल्लभ, सञ्चरंत, आयुक्त, अध्यक्ष आदि ज़िला-स्तरिय अधिकारियों का उल्लेख है। पल्लव राज्य के गैर-तमिल-भाषी क्षेत्रों में भूमि के लेन-देन तथा दान की प्रक्रिया में कई अधिकारियों को सूचित करना होता था। इनमें शामिल थे सेनापति, राष्ट्रिक (राष्ट्र के प्रमुख), मदविक (सीमा-शुल्क अधिकारी), देशाधिकृत (ज़िला-अधिकारी), वल्लभ और गोवल्लभ (घोड़े और अन्य मवेशियों के अधीक्षक), नायक (सैनिक दस्तों के अध्यक्ष/कप्तान), और सञ्चरंत (गुप्तचर)। चालुक्य विक्रादित्य के लक्ष्मेश्वर अभिलेख में राज-प्रशासन और ग्रामीण संस्थाओं के संबंध का संकेत मिलता है। इसमें यह बताया गया है कि स्थानीय मुद्दों का आखरी हल राजादेशों से होता था, जिन्हें राजकीय अधिकारी (राजपुरुषर) कार्यान्वित करते थे। चोल काल में नाडु के स्तर पर अधिकारियों में नाडु-वगइ, नाडु-काकनी-नायकम्, नाडु-कुरु तथा कोट्टम्- वगइ शामिल थे, पर इनमें से सभी का दायित्व स्पष्ट नहीं है और ऐसा प्रतीत होता है कि इनके कार्य में एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक नहीं थे।

पल्ल्व-चोल काल में तमिल क्षेत्र का ग्रामिण प्रशासन उर्, और सभा के अधीन था। सबसे छोटी प्राशासनिक इकाई नाडु के अंतर्गत कई गाँव थे, कुछ नाडुओं में एक-दो शहर (नगरम्) भी थे। गाँव दो तरह के थे: उर् और ब्रह्मदेय। संख्या में अधिक उर् किसानों के पारम्परिक गाँव थे। इनमें उर् (बाद के पल्लव अभिलेखों में उरार्) नाम की ही ग्रामीण सभा थे, जिसके सदस्य ज़्यादातर वेल्लल नामक भूस्वामी थे। संख्या में काफ़ी कम ब्रह्मदेय ब्राह्मणों को राजाओं द्वारा उपजाऊ क्षेत्रों में दिए गए भूमि-दानों के परिणाम-स्वरूप बने गाँव थे। इन ब्रह्मदेयों की ग्रामीण सभा को सभा या महासभा कहा जाता था और इनके सदस्य ब्राह्मण भूस्वामी पेरुमक्कल् (अर्थात् 'महान व्यक्ति') कहलाते थे। ये सभाएं मंदिरों के लिए अनुदानों का अनुमोदन; मंदिरों, सड़कों, नहरों, तालाबों तथा कृषि-भूमि का रखरखाव; कर- तथा कर-मुक्ति निर्धारण, न्याय-प्रशासन आदि दायित्वों का पालन करती थी। इन सभाओं का प्राशासनिक कार्य वरियम् नामक कमेटीयां/समितियां करती थी। पल्लव शासक दंतिवर्मन (796-846 ईस्वी) के 9वें राज्य-वर्ष के प्रसिद्ध उत्तिरमेरूर अभिलेख में उत्तिरमेरूर गाँव की सभा के वरियमों की गतिविधियों की सबसे पहला ज्ञात विवरण मिलता है। 8वीं शताब्दी से ही ये वरियम् ग्रामीण प्रशासन में काफ़ी सक्रिय थे। 10वीं शताब्दी की शुरुआत में ये वरियम् अपने भिन्न तथा विशिष्ट कार्यों से जाने गए, जैसे एरि वारिय पेरुमक्कल् (तालाबों या सिंचाई व्यवस्था के रखरखाव के लिए वरियम्), तोट्टा वारिय पेरुमक्कल् (जन-उद्यानों के रखरखाव के लिए वरियम्)। पल्लव कम्पवर्मन के उक्कल अभिलेख में एक वार्षिक समिति, सम्वत्सरस्य वरिय पेरुमक्कल्, का भी उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने दैनिक प्राशासनिक गतिविधियों ये सभाएं केंद्रीय प्रशासन से काफ़ी हद तक स्वंतंत्र थी।थी। यहाँ तक कि राजकुल के सदस्यों को भी इनके अधिकार-क्षेत्र में स्थित किसी मंदिर को भूमि-दान देने के लिए भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया में इनकी अनुमति तथा सहयोग लेना पड़ता था। शहरों के प्रशासन का भार नगरम् या वणिकों की सभा पर था।

दक्कन के चालुक्य अभिलेखों में ग्राम-प्रशासन गाँव के प्रधान (गामुण्ड) तथा वृद्ध और वरिष्ट लोगों (महा-जन) के हाथों में था। प्राशासनिक कार्यों में सहयक थे करण (लेखपाल)। गामुण्ड केंद्रीय/राजकीय और ग्रामीण प्रशासन के बीच सम्पर्क-सूत्र था, और शायद उसकी नियुक्ति केंद्र द्वारा की जाती थी। मंदिरों को दान देने की अनुमति गामुण्ड और महाजनों से लेनी होती थी। पर दक्षिण की तुलना दक्कन में राज-अधिकारी ग्रामीण सभाओं के साथ ज़्यादा करीबी संबंध रखते थे।

9.5.2.4 सैन्य संगठन

पूर्व मध्यकाल में दक्कन और दक्षिण भारत के शासकों के सैन्य अभियानों और परस्पर-युद्धों से एक प्रभावशाली सैन्य संगठन का अंदाज़ा लगाया जा सकता है, पर इस संबंध में विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। अभिलेखों में कुछ पल्लव शासकों को युद्ध में हाथिओं के इस्तमाल की विद्या (गज-शास्त्र) में निपुण बताया गया है। अभिलेखों तथा वैकुण्ठपेरुमाल मंदिर की अलंकृत दिवारों से युद्ध में हाथिओं के व्यापक उपयोग के बारे में पता चलता है। परमेश्वरवर्मन-I के एक अभिलेख पल्लव सेना के संगठन और शस्त्रों की जानकारी देता है। नंदिवर्मन-II के सेनानायक उदयचन्द्र जैसे कुछ युद्ध-निपुण सैन्य अधिकारियों के भी उल्लेख मिलते है। चीनी-बौद्ध तीर्थयात्री श्वैन

ज़ंग के वृतांत में चालुक्य सेना के बारे में जानकारी उपलब्ध है, जैसे विजयी सेना द्वारा हारे हुए सैनिकों को स्त्रियों के कपड़े पहनने पर मजबुर करने और इस अपमान से बचने के लिए कई सैनिकों द्वारा आत्महत्या करने की प्रथा।

चोल राज्य की सैन्य-व्यवस्था के बारे में ज़्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं है, हालांकि चोल सेना (नियायम्) की कुछ पलटनों के नाम मिलते है तंजौर के शिव-मंदिर में उत्कीर्ण अभिलेखों से, जो उल्लेख करते है मंदिर में राजकुल द्वारा स्थापित देव-प्रतिमों के उद्देश्य में सैनिकों द्वारा किए गए धन-दान का। इन पलटनों या सैन्य-दलों में शामिल है विल्लिगल् (धनुर्धारी सेना), कुदिरइच्चेवइच्चेवगर् (अश्वारोही सेना), आनइयाल्गल् (हस्ति सेना), परिवारत्तार् (राजभवन-रक्षक-दल), और वेलइक्कारर् (राजा के अंगरक्षक-दल)। इन पलटनों के नामों में अधिकतम के साथ उपसर्ग के रूप में जुड़े है राजा अथवा राजकुमार के नाम तथा तेरिंद शब्द, जिसका अर्थ है ''चुनिंदा' या ''चयनित' । उदाहरण के रूप में 'केरलांतक-तेरिंद- परिवारत्तार्', अर्थात् 'केरलांतक नामक चुनिंदा राजभवन-रक्षक'। इनके अलावा अन्य अभिलेखों में उल्लिखित है वालिलार् (तलवार-धारी) और कोंदवर् (भाला-धारी) नामक सैन्य-दल, तथा सेनापति व दण्डनायकम् नामक महत्वपूर्ण सैन्य-अधिकारी। कोनेरिराजपुरम के एक अभिलेख से पता चलता है कि कैक्कोलर्, जो चोलोत्तर काल की एक जुलाहा जाति थी, चोल काल में एक महत्वपूर्ण सामरिक जाति थी।

सैनिकों की भर्ती कैसे होती थी इसका कोई साक्ष्य नहीं है, पर राज्य द्वारा नियुक्त व पोषित स्थायी सेना अवश्य होता होगी, हालांकि आवश्यक्ता पड़ने पर स्थानीय मुखियाओं/सरदारों सैन्य सहायता ली जाती थी। शासकों और सरदारों के अंगरक्षकों की बहाली व्यक्तिगत निष्ठा के आधार पर होती थी, उनके चयन में वंशानुगत निष्ठा के तत्व मौजुद थे और उन्हें सेवा के बदले में भू-राजस्व वसूलने के अधिकार दिए जाते थे।

राजराज-I का श्रीलंका पर और राजेंद्र-I का श्री विजय पर सैन्य-अभियानों का उल्लेख चोल नौसेना के प्रमाण के रूप में कई बार किया गया है, पर यह स्पष्ट नहीं है कि क्या चोलों की अलग से नियुक्त व संघठित नौसेना थी या इन अभियानों में सिर्फ़ स्थलसेना को समुद्र-मार्ग से ले जाया गया था।

9.6 सार संक्षेप

इस इकाई में 6ठीं से 12वीं शताब्दी तक दक्कन व दक्षिण भारत में निरंतर राज्य-निर्माण, राज्य-विस्तार तथा राजनीतिक संघर्षों की प्रक्रियाओं का विवरण दिया गया है। 6ठीं से 9वीं शताब्दी में बादामी चालुक्य, पल्लव व पाण्ड्य अपने सहयोगी सामंत-राज्यों के साथ प्रायद्वीपिय भारत पर वर्जस्व पाने के लिए निरंतर युद्ध-रत थे। 9वीं शताब्दी से ही शक्ति का संतुलन बदलने लगा, और चोल, राष्ट्रकूट तथा काल्याणी चालुक्य जैसे नए राज्यों के विकास, विस्तार और संघर्ष की प्रक्रिया चली। इन प्रक्रियाओं के चलते राजत्व की अवधारणा, राज-सत्ता के वैधिकरण के तरीके, केंद्र-परिधि के संबंध तथा प्राशासनिक ढ़ांचों में कई निरन्तरताएं और अनिरंतरताएं देखी जा सकती है। अनुष्ठानों, वंशावलियों, धार्मिक अनुदानों, अतिरंजित प्रशस्तियों के माध्यम से राज-सत्ता को वैधानिकता प्रदान करने तथा सशक्त करने की निरन्तर कोशिशे चल रही थी। पर स्थानीय स्तर पर उर और सभा जैसी परम्परागत संस्थाएं केंद्रीय या राजकीय प्रशासन से काफ़ी हद तक स्वतंत्र होकर काम कर रही थी। राज-शक्ति के बड़ने से स्थानीय शासक-वर्गो की शक्ति या उनके प्रभाव में कोई दीर्घ-कालीन ह्रास नहीं हुआ, बल्कि केंद्र में राजा तथा इन

स्थानिय शासक-वर्गो के बीच का घटता-बड़ता तनाव इस क्षेत्र की राज्य-व्यवस्थाओं की स्थायी विशेषता बनी रहीं।

9.7 संदर्भ ग्रंथ

काराशिमा, नोबोरु, सम्पादित, अ कॅन्साइस् हिस्ट्री ऑथफ़ साउथ इंडिआ, 2014.

मीनाक्षी, सी, ऐड्मिंस्त्रेश्न् ऐंड शोशल् लाईफ़ अण्डर द पल्लवस्, 1938.

शास्त्री, नीलकण्ठ, अ हिस्ट्री ऑऐफ़ साउथ इंडिआ, 1975.

सिंह, उपिंदर, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास, 2017.

9.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. दक्षिण भारत के प्रारंभिक इतिहास पर चर्चा कीजिए।
2. प्रारंभिक दक्षिण भारतीय शासकों के आपसी संघर्ष पर चर्चा कीजिए।

इकाई दस – राष्ट्रकूट, पाल एवं प्रतिहार – त्रिपक्षीय संघर्ष

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 राष्ट्रकूट, पाल एवं प्रतिहारशासकों का इतिहास

10.3.1 राष्ट्रकूट

10.3.2 राष्ट्रकूटों का सांस्कृतिक योगदान

10.3.2 पाल

10.3.3 प्रतिहार

10.4 राष्ट्रकूट, पाल एवं प्रतिहार – त्रिपक्षीय संघर्ष

10.4.1 राष्ट्रकूट, पाल एवं प्रतिहार शासकों के मध्य त्रिपक्षीय संघर्ष के कारण

10.5 त्रिपक्षीय संघर्ष के चरण

10.5.1. प्रथम चरण

10.5.2 द्वितीय चरण

10.5.3 तृतीय चरण

10.5.4 चतुर्थ चरण

10.5.5 पंचम चरण

10.5.6 छठा एवं अंतिम चरण

10.6 सारांश

10.7 तकनीकी शब्दावली

10.8 स्वमूल्यांकित प्रश्न

10.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

10.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

किसी महान साम्राज्य के पतन का तात्कालिक परिणाम होता है सत्ता के विविध केन्द्रों का उत्थान। उत्तरी भारत में हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् तथा दक्षिणी भारत में चालुक्य साम्राज्य के पतनोपरांत ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हुई। हर्षवर्द्धन तथा चालुक्य साम्राज्य के अवशेष पर अनेक राज्यों का उदय हुआ परंतु उनके वास्तविक अधिकारी पाल,

प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट ही हो सके। अपने संसाधनों का बेहतर प्रबंध न कर ये तीनों राज्य लम्बे समय तक भारतीय राजनीति को प्रभावित करते रहे। अपनी शक्ति तथा संसाधनों में ये तीनों राज्य लगभग समान थे। इन तीनों राज्यों ने कन्नौज पर आधिपत्य के लिए दावा किया तथा लगभग 200 वर्षों तक आपस में निरंतर संघर्ष करते रहे। वस्तुतः हर्षवर्द्धन के आधिपत्य में कन्नौज ने अपनी समृद्धि का वही स्तर प्राप्त किया था जो पहले पाटलिपुत्र को प्राप्त था। अपने कलात्मक भवनों तथा व्यापारिक मार्गों के संगम की वजह से कन्नौज इस समय सत्ता का सबसे प्रतिष्ठित केन्द्र था। जिस किसी राज्य का कन्नौज पर आधिपत्य स्थापित होता स्वाभाविक रूप से वही सर्वोच्च स्तर को प्राप्त करता। पाल, प्रतिहार तथा राष्ट्रकूटों के मध्य चलने वाले निरंतर संघर्ष की पृष्ठभूमि यही थी।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्च्यात आप जान सकेंगे कि सम्राट हर्षवर्धन के बाद उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति कैसी थी साथ ही आप जान सकेंगे कि उत्तर भारत में क्षेत्रीय शक्तियों का उदय किस प्रकार हुआ तथाकन्नौज के लिए पाल, प्रतिहार व राष्ट्रकूट शासकों के मध्य हुए त्रिपक्षीय संघर्ष के क्या-क्या कारण एवं परिणाम रहे |

10.3 राष्ट्रकूट, पाल एवं प्रतिहार शासकों का इतिहास

10.3.1 राष्ट्रकूट

उत्तरी दक्कन में स्थापित जिस किसी राज्य ने उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के मध्य सेतु का कार्य किया उनमें राष्ट्रकूट राज्य की विशिष्ट भूमिका थी। यद्यपि राष्ट्रकूटों से पूर्व दक्कन में स्थापित कुछ अन्य शक्तियों ने भी नर्मदा से उत्तर तथा दक्षिण दोनों दिशाओं में अपनी शक्ति एवं प्रतिष्ठा को प्रसारित करने का प्रयत्न किया होगा परंतु इस संदर्भ में वास्तविक सफलता राष्ट्रकूट शासकों को ही मिलीं। उन्होंने नर्मदा से उत्तर तथा दक्षिण दोनों ही दिशाओं में अपने सैनिक दबाव को बनाए रखा। यद्यपि इसका एक नकारात्मक पक्ष भी था अर्थात राष्ट्रकूटों की एक बड़ी ऊर्जा उत्तर भारत के सैनिक अभियानों में ही नष्ट हो गई। अगर इसका उपयोग दक्षिण भारत में किया गया होता तो सम्भव था कि दक्षिण में राष्ट्रकूटों के अंतर्गत एक बड़े साम्राज्य की स्थापना होती, फिर भी उत्तर भारत की राजनीति में सक्रिय भागीदारी निभाकर राष्ट्रकूटों ने एक नवीन परंपरा की शुरूआत की। आगे फिर इसी प्रकार की ऐतिहासिक भूमिका मराठों द्वारा निभाई गई।

चौथी शताब्दी के कतिपय लेखों में राष्ट्रकूटों की चर्चा प्रांतीय अधिकारियों के रूप में की गई है। राष्ट्रकूटों के बारे में प्रमाण मध्य भारत एवं महाराष्ट्र के उत्तर भाग से प्राप्त होते हैं। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वे कन्नड़ क्षेत्र से संबंधित थे। इतिहासकारों का अनुमान हैकि वे कर्नाटक के लाटूर क्षेत्र से संबद्ध थे क्योंकि अधिकांश राष्ट्रकूट शासकों ने **'लाटालूर परमेश्वर'** की उपाधि ली हैं।

अतोर्ली-छरोली पत्र से ज्ञात होता है कि राष्ट्रकूट शासकों की कई पीढ़िया थीं जिनमें प्रमुख हैं- कर्क प्रथम, ध्रुव, गोविन्द तथा कर्क द्वितीय। इस वंश की स्थापना का श्रेय **दंतीदुर्ग** को है। एलोरा के दशावतार गुफा से प्राप्त अभिलेख से राष्ट्रकूट वंश के संबंध में जानकारी मिलती है। राष्ट्रकूटों की स्वतंत्रता का श्रेय दन्तिदुर्ग को ही जाता है। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी वातापी के चालुक्य वंशी शासक **कीर्तिवर्मन** को परास्त कर अपनी स्वतंत्रता

की घोषणा करना। इस उपलक्ष्य में उसने **महाराजाधिराज, परमेश्वर, परमभट्टारक** जैसी उपाधियाँ धारण की । **समनगढ़ ताम्रपत्रों** से ज्ञात होता है कि उसने कांची, कलिंग, कोशल, श्रीशैल, मालवा, लाट तथा टंक के राजाओं को युद्ध में परास्त किया।

दन्तिदुर्ग के पश्चात उसके चाचा **कृष्ण प्रथम (756 - 772)** के तहत राष्ट्रकूट वंश की शक्ति का उत्थान हुआ। उसने उभर रहे चालुक्य शक्ति के साथ वेंगी के चालुक्यों तथा गंग शासकों को भी पराजित किया। उसने मध्य प्रदेश के संपूर्ण मराठी क्षेत्र तथा संपूर्ण हैदराबाद तथा कोंकण पर अधिकार कर लिया। कृष्ण प्रथम एक सांस्कृतिक व्यक्तित्व भी था। इसने ही **एलोरा में प्रसिद्ध कैलाश मंदिर** का निर्माण करवाया था।

राष्ट्रकूटों के अगले शासक **ध्रुव धारावर्ष** के अंतर्गत राष्ट्रकूटों ने उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया तथा पालों तथा प्रतिहारों के मध्य चल रहे द्विपक्षीय संघर्ष को त्रिपक्षीय संघर्ष में तब्दील कर दिया। उसने पाल तथा प्रतिहार दोनों शासकों को पराजित किया। परंतु ध्रुव स्थायी रूप से उत्तर भारत में नहीं टिक सका तथा आंतरिक कारणों से दक्षिण लौट गया।

राष्ट्रकूटों का श्रेष्ठतम शासक **गोविन्द तृतीय** को माना जाता है। उसने पुनः त्रिपक्षीय संघर्ष में भाग लिया तथा कन्नौज पर आक्रमण करके उसने प्रतिहार शासक **नागभट्ट द्वितीय** को पराजित किया तथा मालवा पर अधिकार कर **उपेन्द्र** को वहां स्थापित कर दिया। फिर उसने **चक्रायुद्ध** तथा **धर्मपाल** से भी अधीनता स्वीकार करवाई। **संजन ताम्रपत्र अभिलेख** से ज्ञात होता है कि उसने हिमालय तक सैनिक अभियान किये तथा कोशल, कलिंग, वंग, डाहल आदि पर अधिकार स्थापित किया। **नागभट्ट द्वितीय का** समय राष्ट्रकूटों की शक्ति का स्वर्णकाल था। उन्हें विंध्यघाटी में अनेक मंदिरों के निर्माण का श्रेय दिया जाता है।

अमोघवर्ष राष्ट्रकूटों का अंतिम महान शासक था। उसे भी अभिलेखों में अनेक विजयों का श्रेय दिया गया है। **सिरूर ताम्रपत्र** में बताया गया है कि अंग, वंग, मगध, मालवा तथा वेंगी के शासक उसके प्रति सम्मान रखते थे। **अमोघवर्षप्रथम** की वास्तविक चर्चा उसके सांस्कृतिक व्यक्तित्व होने को लेकर है। उसने अनेक विद्वानों को दरबार में प्रश्रय दिया। उसने स्वयं **नृपतुंग** के नाम से कन्नड़ भाषा में अलंकरणशास्त्र पर प्रथम पुस्तक **'कविराजमार्ग'**एवं **'प्रश्नोत्तर मलिका'** जैसे ग्रंथों की रचना कर अन्य कन्नड़ कवियों को प्रेरित किया। **अमोघवर्षप्रथम ने** जैन विद्वान **जिनसेन** तथा **महावीराचार्य** को संरक्षण दिया।

आगे **कृष्ण तृतीय** (939-967) ने राष्ट्रकूटों की शक्ति के उत्थान का प्रयास किया। गंगों की सहायता से उसने चोलों को पराजित किया तथा कांची व तंजौर पर अधिकार कर लिया परंतु उसके उत्तराधिकारियों के समय राष्ट्रकूट सत्ता विनष्ट होने लगी। उसके उत्तराधिकारी **खोटिक** के समय **सियक परमार** ने राष्ट्रकूट राजधानी **मान्यखेत** पर हमला कर लूटपाट की तथा उसे जला दिया। **कर्क तृतीय** इस वंश का अंतिम शासक था जिसके समय राष्ट्रकूटों के ही एक सामंत **चालुक्य तैलप** ने उसकी हत्या कर कल्याणी के चालुक्य वंश की स्थापना की। राष्ट्रकूट शासन की महत्ता इस बात में है कि अपने दो शताब्दियों के शासन की अवधि में उसने दक्षिण भारत में एक विशाल राज्य की स्थापना के अतिरिक्त वहां प्रशासनिक एवं सांस्कृतिक विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

10.3.2 राष्ट्रकूटों का सांस्कृतिक योगदान

राष्ट्रकूटों ने न सिर्फ राजनीति में बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। विशेष रूप से कन्नड़ साहित्य के विकास में इनका योगदान उल्लेखनीय है जो दक्षिण में तमिल के साथ सबसे पुरानी भाषा है। इसके अलावा इन्होंने धार्मिक समन्वय तथा वास्तुकला के उत्थान में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है।राष्ट्रकूट शासकों द्वारा कन्नड़ साहित्य के विकास के लिये वास्तव में प्रयास किये गये। कन्नड़ साहित्य में वास्तविक रचना **शिवकोटि** की **'वद्दघन'**थी। कन्नड़ में प्राचीनतम काव्य रचने वाले **'स्वयंभू'**राष्ट्रकूट दरबार के ही रत्न थे। कृष्ण तृतीय के सामंत **अरिकेसरी** के दरबार में **'यशतिलक चंपु'**एवं **'नीतिवाक्यामृत'**के रचयिता **सोमदेवसूरी**तथा **हलायुध** जैसे विद्वान उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। कन्नड़ साहित्य के अन्य रत्नों में **पम्पा (कृष्ण तृतीय)** तथा **पोन्ना** के नाम प्रमुखता से आते हैं। पम्पा ने **आदिपुराण** तथा **विक्रमार्जुन** लिखकर कन्नड़ साहित्य को अमूल्य निधि सौंपी तो पोन्ना ने **शान्तिपुराण** तथा **भूवनि कर्माभ्युदय** लिखकर कन्नड़ साहित्य को समृद्ध किया। राष्ट्रकूट शासकों के संरक्षण में ही महान व्याकरणशास्त्री **शाक्टायन** ने **अमोघवृत्ति** तथा **महावीराचार्य** ने **गणितसार संग्रह** की रचना की। कन्नड़ साहित्य के विकास में जैनियों का भी प्रमुख योगदान है। जैन विद्वान **जिनसेन** ने ही **आदिपुराण** की रचना की थी। राष्ट्रकूट शासकों ने कन्नड़ के साथ-साथ प्राकृत एवं अपभ्रंश तथा मराठी में लिखने वाले विद्वानों को भी संरक्षण दिया। यद्यपि इस समय संस्कृत साहित्य के लिये खास राजकीय प्रयत्न नहीं हुआ तथापि **राजशेखर** जैसे कुछ संस्कृत विद्वानों को राष्ट्रकूट दरबार में '**राजगुरू**' पद पर देखा जा सकता है।

राष्ट्रकूट शासक स्वयं शिक्षा प्रेमी थे। उन्होंने शिक्षा के विकास हेतु समुचित प्रयास किये। राजकीय संसाधनों से अग्रहारों को भरपूर अनुदान दिया गया क्योंकि तत्कालीन समाज में अग्रहार शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। ऐसे अनेक अग्रहारों की स्थापना राज्य द्वारा भी की गई जिनमें शिक्षा के साथ आवास और भोजन कीनिःशुल्क व्यवस्था थी। अग्रहारों के साथ मंदिर एवं बौद्ध व जैन बिहार भी शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। इस समय **संत्लोगी** का **त्रयीपुरूष मंदिर** शिक्षा का महत्वपूर्ण केन्द्र था।

यद्यपि राष्ट्रकूट शासक जैन धर्मानुयायी थे तथापि उनके समय बौद्ध और ब्राह्मण धर्म का भी प्रचलन था। इस समय जैन धर्म की विशेष प्रगति हुई थी। अनेक राष्ट्रकूट शासकों जैसे अमोघवर्ष प्रथम आदि जैन धर्म के उत्साही अनुयायी थे |फलतः यह धर्म ब्राह्मण धर्म का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी बन गया। ब्राह्मण धर्म के अंतर्गत विष्णु, शिव, लक्ष्मी, आदित्य तथा पांडुरंग की पूजा की जाती थी। धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति लोगों की आसक्ति तथा श्रद्धा थी। राष्ट्रकूटों के समय दक्षिण में इस्लाम धर्म का भी प्रचार हुआ। राष्ट्रकूटों ने अपने राज्य में अरबों को बसने दिया तथा मस्जिद बनाने की सुविधा दीं।

राष्ट्रकूट शासन काल में वास्तुकला के क्षेत्र में भी अभूतपूर्व प्रगति हुई। दक्षिण भारत में जिस प्रसाद शैली का विकास हुआ उसमें राष्ट्रकूटों का चालुक्यों के साथ महत्वपूर्ण योगदान रहा। राष्ट्रकूट काल में कुछ मंदिर भी बनवाए गये जो स्थापत्य कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। राष्ट्रकूटों के महान स्थापत्य के उदाहरण

एलोरा में मिलते हैं। एलोरा स्थित रावण की खाई, दशावतार तथा कैलाश मंदिर राष्ट्रकूट कला के ज्वलंत उदाहरण हैं। **दशावतार मंदिर** पहले के बौद्ध मंदिरों के समान हैं अर्थात् इनमें एक स्तंभयुक्त बरामदा एवं गर्भगृह है। यह दो मंजिला मंदिर है तथा 44 स्तंभों पर टिकी हुई एक छत है। स्तंभों पर चारों ओर भित्ति स्तंभों के मध्य पौराणिक हिंदू देवताओं की उकेरी हुई आकृति है। एक ओर वैष्णव और दूसरी ओर शैव आकृतियां हैं। रावण की खाई का आकार आयताकार है। इस पर्वत कन्दरा में एक स्तंभयुक्त मंडप तथा गर्भगृह है। गर्भगृह के चारो ओर प्रदक्षिणा पथ है। यहां भी दीवारों की भित्ति स्तंभ पर वैष्णव एवं शैव धर्म की उभरी हुई मूर्तियां उकेरी गई हैं।

एलोरा का कैलाश मंदिर राष्ट्रकूट शासक **कृष्ण तृतीय** के काल में निर्मित हुआ। पर्वतशालाओं को खोदकर भवन निर्माण की कला का यह चरमोत्कर्ष है। इस मंदिर का प्रांगण चार मुख्य भागों में बंटा है जिसमें विमान की ऊँचाई 29 मीटर है। इसमें नंदी मण्डप तथा दो मंजिला गोपुरम है जिनमें सभी की अक्षीय लंबाई समान हैं। यह द्रविड़ वास्तुकला की मूलभूत पद्धति को दर्शाता है। संभवतः राष्ट्रकूट काल में ही कुछ गुहाओं एवं उनके स्थापत्य कृत्तियों का भी निर्माण हुआ जिसमें एलिफेंटा के गुहा मंदिर इस वास्तुकला की अंतिम उपलब्धि है। इस प्रकार राष्ट्रकूट शासक महान निर्माता के रूप में विख्यात है, चाहे वह साम्राज्य का निर्माण हो या वास्तुकला, साहित्य अथवा सर्वधर्म समभाव का।

10.3.2 पाल वंश

शशांक की मृत्यु के पश्चात् बंगाल में लगभग एक शताब्दी तक अत्यंत अराजकतापूर्ण स्थिति बनी रही। किसी शक्तिशाली केन्द्रीकृत सत्ता के उत्थान नहीं होने तथा व्याप्त अराजकतापूर्ण स्थिति से तंग आकर वहाँ की जनता ने आठवीं सदी के मध्य में **गोपाल** नामक व्यक्ति को अपना शासक चुना जो बंगाल के प्रसिद्ध पाल वंश का संस्थापक बना।

पाल वंश की जानकारी के स्त्रोत के रूप में धर्मपाल का खालीमपुर लेख, देवपाल का मुंगेर लेख, नारायणपाल का भागलपुर ताम्रपत्राभिलेख, महीपाल प्रथम के वानगढ़, नालंदा तथा मुजफ्फरपुर से प्राप्त लेखों के अतिरिक्त गुर्जर प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट अभिलेख और सन्ध्याकर नंदी का रामचरित प्रमुख हैं।

पाल वंश के संस्थापक गोपाल के प्रारंभिक जीवन तथा कार्यों के विषय में हमें बहुत कम जानकारी प्राप्त होती है। परवर्ती अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसका पितामह **दयितविष्णु** एक विद्वान तथा योग्य सैनिकथा । बंगाल के पुंड्रवर्द्धन क्षेत्र के क्षत्रिय परिवार से उसका सम्बन्ध था। बंगाल के सामंतों ने अपने स्वार्थ का बलिदान करते हुए गोपाल की योग्यता से प्रभावित होकर उसे अपना शासक बनाया। जिसके पश्च्यात गोपाल ने 750 ई० से 770 ई० तक शासन किया। इस मध्य उसने अनेकों युद्धों के द्वारा राज्य का विस्तार किया तथा राज्य को एक दृढ़ सांगठनिक आधार प्रदान किया। वह व्यक्तिगत रूप से बौद्ध धर्मानुयायी था। नालंदा तथा ओदन्तपुरी में उसने एक बौद्ध विहार का निर्माण भी करवाया।

गोपाल का पुत्र **धर्मपाल** (770-810) अत्यंत योग्य शासक साबित हुआ और उसने बंगाल को उत्तरी भारत के प्रमुख राज्यों की श्रेणी में स्थापित कर दिया। धर्मपाल के समय ही उत्तरी भारत में कन्नौज पर आधिपत्य के लिये

त्रिपक्षीय संघर्ष की भूमिका तैयार हो रही थी क्योंकि इस समय कन्नौज पर अपेक्षाकृत कमजोर आयुध वंश का शासन था। दूसरी तरफ मालवा तथा राजस्थान के प्रतिहार और दक्षिण के राष्ट्रकूट गंगा घाटी के ऊर्वरक भूभाग पर आधिपत्य स्थापित करने के लिये पूरे मनोबल एवं सैन्यबल से प्रेरित हो रहे थे। अपने विस्तारवादी अभियान के प्रारंभिक चरण में धर्मपाल पहले प्रतिहार शासक वत्सराज से पराजित हुआ, फिर उसे राष्ट्रकूट ध्रुव से भी हार का सामना करना पड़ा। किंतु धर्मपाल ने प्रतिहार शक्ति पर हुए राष्ट्रकूटों के आघात से लाभ उठाया। उसने कन्नौज पर आक्रमण करके इंद्रायुध को शासन से हटाकर चक्रायुध को अपने संरक्षण में कन्नौज का शासक बनाया। इस राज्यारोहण के परिप्रेक्ष्य में कन्नौज में धर्मपाल द्वारा आयोजित सभा में भोज, मत्स्य, मद्र, कुरू, यदु, यवन, अवंति, गंधार तथा कांगड़ा (कीर) के शासकों ने धर्मपाल को शासक स्वीकार किया। धर्मपाल ने स्वयं भी **'सकलोत्तरापथनाथ'**की उपाधि ग्रहण की। ग्यारहवीं सदी के गुजराती कवि **सोड्यल** के लेखन से इस बात की पुष्टि होती है।

किंतु धर्मपाल की यह सफलता दीर्घकालिक साबित नहीं हुई क्योंकि प्रतिहार शासक **नागभट्ट द्वितीय** ने अपने ऊपर हुए राष्ट्रकूट हमले से उबरते हुए कन्नौज की गद्दी से चक्रायुध को अपदस्थ करते हुए धर्मपाल को चुनौती दी तथा मुंगेर के युद्ध में उसे पराजित भी किया। परंतु इसी समय राष्ट्रकूट गोविंद तृतीय का प्रतिहार राज्य पर हुए भीषण हमले का फायदा उठाते हुए धर्मपाल ने अपने राज्य के अधिकांश भू-भाग को पुनः प्राप्त कर लिया। इस प्रकार धर्मपाल एक योग्य शासक था जिसने पश्चिम में पंजाब से पूर्व में बंगाल तक, उत्तर में हिमालय से दक्षिण में बरार तक अपनी शक्ति स्थापित की। वह भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था, तथापि वह सभी धर्मों का आदर करने वाला था। उसने अपने दरबार में प्रसिद्ध विद्वान **हरिभद्र** को संरक्षण दिया तथा **विक्रमशिला** एवं **सोमपुरी** जैसे प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्रों की स्थापना की।

धर्मपाल के पुत्र **देवपाल (810-850)** का साम्राज्य पाल शासन के चरमोत्कर्ष का काल था। उसने आक्रामक नीति से पिता से विरासत में पाए हुए साम्राज्य को न केवल सुरक्षित रखा बल्कि उसका विस्तार भी किया। देवपाल ने प्रतिहार नागभट्ट द्वितीय को कन्नौज से खदेड़ने में सफलता प्राप्त की। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में विंध्य तक आक्रमण किया। पूर्वोत्तर में उसने असम तथा उत्कल के शासकों से अपना आधिपत्य स्वीकार कराया। ऐसा उल्लेख मिलता है कि देवपाल का तिब्बत से भी युद्ध हुआ था। अरब यात्री **सुलेमान** ने देवपाल को प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट शासकों से अधिक शक्तिशाली बताया है।

पाल वंश के इतिहास में 850 से 988 ई० तक का काल अवनति का काल रहा है। इस काल में **विग्रहपाल प्रथम**, **नारायणपाल**, **गोपाल द्वितीय** जैसे कमजोर शासक हुए। पुनः 988ईस्वी में **महिपाल प्रथम** के समय पाल वंश की प्रतिष्ठा पुनःस्थापित हुई। लगातार युद्ध करके उसने उत्तरी, पश्चिमी तथा पूर्वी बंगाल पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित किया तथा अपने राज्य की सीमा उसने वाराणसी तक बढ़ा ली। किन्तु राजेन्द्र चोल तथा कलचुरी गांगेयदेव के आक्रमणों से इसकी शक्ति एवं प्रतिष्ठा पर गहरा आघात लगा, फिर भी बंगाल तथा बिहार के अधिकांश भागों पर इसका नियंत्रण था।

नयपाल (1038-1055) को लंबे समय तक कलचुरियों से युद्धरत रहना पड़ा। यद्यपि विक्रमशिला महाविहार के प्रधान आचार्य **दीपंकर श्रीज्ञानअतिश** ने दोनों के मध्य समझौता करा दिया पर अब तक पाल साम्राज्य में विघटनकारी प्रवृत्ति प्रधान हो चली थी। **रामपाल (1077 - 1120)** ने कुछ सीमा तक व्यवस्था को कायम रखने की कोशिश की। इसी शासक के सम्मान में **संध्याकर नंदी** ने **रामचरित** की रचना की है। परंतु कालांतर में इसे सेन तथा गहड़वाल शक्ति के निरंतर हुए आक्रमण ने कमजोर कर दिया। अंतिम पाल शासक **गोविन्द पाल** था। इसके पश्चात लगभग 400 वर्षों तक उत्तरी भारत की राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले पाल वंश का सूर्यास्त हो गया।

10.3.3गुर्जर -प्रतिहार

त्रिपक्षीय संघर्ष में भाग लेने वाला प्रतिहार तीसरा प्रमुख राज्य था। अग्निकुल से उत्पन्न राजपूतों में सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रतिहार वंश था। गुर्जरों की शाखा से संबद्ध होने के कारण इसे गुर्जर प्रतिहार कहा जाता है। गुर्जर प्रतिहार वंश के इतिहास की जानकारी के प्रामाणिक साधन उसके बहुसंख्यक अभिलेख हैं। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय **मिहिर भोज** का **ग्वालियर अभिलेख** है। यह अभिलेख प्रशस्ति के रूप में है। यद्यपि इसमें कोई तिथि अंकित नहीं है तथापि यह प्रतिहार वंश के शासकों की राजनीतिक उपलब्धियों तथा उनकी वंशावली ज्ञात करने का मुख्य साधन है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध विद्वान **राजशेखर** की **काव्यमीमांशा**, **कर्पूरमञ्जरी**, **बालरामायण**, **भुवनकोष**, **जयानक** की **पृथ्वीराजविजय** एवं समकालीन अरब लेखकों के विवरण भी जानकारी के प्रमुख स्रोत के रूप में उपलब्ध हैं।

इन स्रोतों सेज्ञात होता है कि **हरिश्चंद्र** इस वंश का संस्थापक था। इसने जोधपुर के निकट माण्डव्यपुर में अपना राज्य स्थापित किया। उसकेपुत्रों ने नंदीपुर, भड़ौच, उज्जियनि आदि में अपने वंश को फैलाया। **नागभट्ट प्रथम (730-765)** के समय इस वंश की सत्ता वास्तविक रूप से स्थापित हुई। **ग्वालियर अभिलेख** के अनुसार नागभट्ट, अरबों को सिंध से आगे बढ़ने से रोकने में सफल रहा किंतु इसी समय उसे राष्ट्रकूट शासक दंतीदुर्ग से पराजित होना पड़ा। आगे **वत्सराज (778-805)** ने राजस्थान के मध्य भाग और उत्तरी भारत के पूर्वी क्षेत्र को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इसी के समय त्रिपक्षीय संघर्ष प्रारंभ हुआ। कन्नौज पर आधिपत्य करने के प्रयास में उसने पाल वंश के शासक **धर्मपाल** को पराजित करने में सफलता प्राप्त की, परंतु स्वयं राष्ट्रकूट शासक**ध्रुव** से हार गया।

नागभट्ट द्वितीय (805-833) ने पुनः गुर्जरों की प्रतिष्ठा एवं शक्ति को स्थापित किया। ग्वालियर प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने आंध्र, सिंध, विदर्भ को पराजित किया तथा वत्स, मत्स्य और अरबों से संघर्ष किया। उसने कन्नौज पर आक्रमण कर धर्मपाल द्वारा स्थापित चक्रायुध को गद्दी से बेदखल कर दिया। इसके परिणामस्वरूप धर्मपाल से हुए मुंगेर के युद्ध में उसे भी पराजित किया। परंतु चक्रायुध तथा धर्मपाल ने मिलकर राष्ट्रकूटों को प्रतिहारों पर पुनः हमला करने के लिए प्रेरित किया। 810 ई० में राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट को पराजित कर दिया तथा मालवा एवं गुजरात पर अधिकार कर लिया।

प्रतिहारों की शक्ति का चरमोत्कर्ष **मिहिर भोज** अथवा **भोज प्रथम (836-882)** के शासन काल में आया। यह योग्य, शक्तिशाली एवं महत्वाकांक्षी शासक था। वह कन्नौज को अपनी राजधानी बनाने में सफल रहा साथ ही इसने राजपूताना, मालव, मध्यप्रदेश तथा कालिंजर में भी अपनी शक्ति को संगठित किया। प्रारंभ में बंगाल के देवपाल से पराजित हो जाने के कारण पूर्व में उसके राज्य का विस्तार नहीं हो पाया फिर राष्ट्रकूट ध्रुव से भी उसे हार का सामना करना पड़ा। इस प्रकार त्रिपक्षीय संघर्ष में वह अन्य दोनों पक्षों से पराजित तो हुआ हीसाथ ही उसे कलचुरी शासक कोकल्ल की शक्ति का सामना भी करना पड़ा। यद्यपि अपने शासन के उत्तरार्द्ध में पाल शासक **नारायण पाल** को हराकर उसने पुनः काफी बड़ा क्षेत्र प्राप्त कर लिया।

इन कठिनाइयों के बावजूद **मिहिर भोज** अपने साम्राज्य के अंतर्गत काठियावाड़, पंजाब, मालवा, राजपूताना तथा मध्यप्रदेश को सम्मिलित करने में सफल रहा। मिहिर भोज को इतिहास में कला, साहित्य तथा धर्म के उदार संरक्षक के रूप में याद किया जाता है। किन्तु व्यक्तिगत रूप से **मिहिर भोज**वैष्णव धर्मानुयायी था अपने सिक्कों पर इसके प्रतीक के रूप में उसने **'आदिवाराह'** की उपाधि ग्रहण की है।इसका उत्तराधिकारी **महेन्द्रपाल प्रथम (885-910)** था। इसके समय में कश्मीर के शासक **शंकरवर्मन** ने पश्चिमी पंजाब के कुछ भागों पर अधिकार कर इस भू-भाग को अपने एक अधिकारी को सौंप दिया परंतु महेन्द्रपाल ने पालों से मगध और उत्तरी बंगाल के कुछ क्षेत्र हस्तगत कर लिये। चालुक्यों पर भी उसका नियंत्रण बना रहा। महेन्द्रपाल का राज्य हिमालय से विंध्याचल और पूर्वी समुद्रतट से पश्चिमी समुद्रतट तक फैला हुआ था। वह विद्वानों का संरक्षक भी था। प्रसिद्ध विद्वान **राजशेखर** उनके दरबार में ही रहते थे।

महीपाल प्रथम गुर्जर प्रतिहार वंश का अंतिम शक्तिशाली शासक था। उसका राज्यकाल कठिनाइयों से भरा था। 915 से 918 ई० के मध्य राष्ट्रकूट शासक **इंद्र तृतीय** ने कन्नौज पर आक्रमण कर कन्नौज को लूटा। यद्यपि महीपाल ने चंदेलों की सहायता से पुनः कन्नौज पर नियंत्रण स्थापित किया तथापि प्रतिहारों की प्रतिष्ठा पर गहरा आघात पहुँचा। प्रतिहारों के सामंतों जैसे चालुक्य, चंदेल, कलचूरी, परमार, गुहिल, चौहान आदि ने राज्य के विभिन्न भागों में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। **राज्यपाल** के समय 1018 ई० में **महमूद गजनवी** ने कन्नौज पर हमला कर इसे खूब लूटा। इस वंश का अंतिम शासक **यशपाल** था। जिसको हटाकर **गहड़वालों** ने अपनी सत्ता की स्थापना की। गहड़वालों के अधीन कन्नौज इल्तुतमिश की कन्नौज विजय से पूर्व तक बना रहा।

10.4 राष्ट्रकूट, पाल एवं प्रतिहार – त्रिपक्षीय संघर्ष

10.4.1 राष्ट्रकूट, पाल एवं प्रतिहार शासकों के मध्य त्रिपक्षीय संघर्ष के कारण

राष्ट्रकूट, पाल एवं प्रतिहार शासकों के मध्यत्रिपक्षीय संघर्ष के अनेक कारण रहे जिनमें प्रमुख कारण निम्नवत है-

1.हर्षवर्द्धन की मृत्यु तथा चालुक्य शासन के पतन के पश्चात जिन महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति का उदय हुआ उनमें पाल, प्रतिहार एवंराष्ट्रकूट शक्ति प्रमुख थे। इस समय संपूर्ण भारत में कन्नौज सामरिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र था। कन्नौज की आर्थिक समृद्धि तथा राजनीतिक महत्व ने तीनों शक्तियों को अपनी ओर आकर्षित किया। वस्तुतः आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में कन्नौज पर नितांत शक्तिहीन आयुध शासकों का शासन था।

इसके विपरीत पाल, प्रतिहार तथा राष्ट्रकूट शासक आयुध शासकों की शक्तिहीनता का लाभ उठाकर कन्नौज पर आधिपत्य करना चाहते थे। इन तीनों महाशक्तियों के मध्य कन्नौज पर आधिपत्य के लिये हुए सघर्ष को ही त्रिपक्षीय संघर्ष कहा जाता है। यह संघर्ष बड़ी ही विचित्र एवं रोचक स्थितियों में लगभग एक शताब्दी तक चलता रहा और अंततः नवीं शताब्दी के प्रारंभ में गुर्जर प्रतिहार के कन्नौज पर अंतिम रूप से आधिपत्य के साथ ही समाप्त हुआ।

2.त्रिपक्षीय संघर्ष का एक अन्य प्रमुख कारण रहा- विभिन्न शक्तियों द्वारा कन्नौज पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न करना। हर्ष के काल से ही कन्नौज उत्तर भारत में शक्ति एवं प्रतिष्ठा का वही प्रतीक बन गया था जो कि मौयों तथा गुप्तों के समय पाटलीपुत्र का था। जिस प्रकार पाटलिपुत्र का राजधानी के रूप में सामरिक महत्व अत्यधिक था क्योंकि यह भाग विभिन्न नदियों के द्वारा सुरक्षित था | उसी प्रकार कन्नौज का इस समय व्यापक आर्थिक महत्व था। इस भूभाग में विभिन्न नदियों की उपस्थिति के कारण व्यापारिक मागों को सुगमता थी तथा वस्तुओं को एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में ले जाना सरल था। इसके साथ ही पालों तथा प्रतिहारों के मध्यकन्नौज के अतिरिक्त बनारस से बिहार तक के एक बड़े क्षेत्र पर कब्जा जमाने के लिये भी आपस में संघर्ष हो रहा था।

3.इस त्रिपक्षीय संघर्ष में कन्नौज पर प्रभुत्व स्थापित करने की सर्वाधिक आतुरता प्रतिहारों में दिखती है क्योंकि इस समय राष्ट्रकूटों के द्वारा जो समकालीन भारत में अजेय हो गये थे, प्रतिहारों पर लगातार प्रहार किया जा रहा था। अतः प्रतिहारों का मुख्य उद्देश्य था राष्ट्रकूट शक्ति के समीप भाग से हट कर अन्य सुरक्षित स्थान पर शासक करना । ज्ञातव्य है कि मालवा पर उन दिनों प्रतिहार शासन था तथा मालवा के ठीक दक्षिण का क्षेत्र राष्ट्रकूटों के नियंत्रण में था।

4.राष्ट्रकूटों को कन्नौज को समृद्धि तथा उत्तर भारत में कीर्ति पताका फैलाने की लालसा ने उन्हें त्रिपक्षीय संघर्ष में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया । यहां यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रकूट उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करने वाली और दक्षिण से उत्तर पर आक्रमण करने वाली दक्षिण की पहली शक्ति थे। उन्होंने समकालीन उत्तर भारत की राजनीति में वही भूमिका निभाई जो परवर्ती मुगल काल में मराठों ने निभाई थी।

10.5 त्रिपक्षीय संघर्ष के चरण

10.5.1 प्रथम चरण

त्रिपक्षीय संघर्ष की वास्तविक शुरुआत प्रतिहार शासक **वत्सराज** द्वारा कन्नौज पर आक्रमण करने से हुई । इसके जवाब में पालों ने भी आक्रमण किया परंतु उन्हें युद्ध में प्रतिहारों से परास्त होना पड़ा। इसी समय राष्ट्रकूट शासक **ध्रुव** ने प्रतिहारों पर आक्रमण कर इस संघर्ष को त्रिपक्षीय बना दिया। इस आक्रमण में प्रतिहार शासक पराजित हुए जिससे पाल शासक **धर्मपाल** को संभलने का मौका मिला। अपनी विजय के बावजूद ध्रुव को वापस दक्कन लौटना पड़ा। इस प्रकार त्रिपक्षीय संघर्ष का पहला चरण राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव की अल्पकालीन सफलता का चरण रहा ।

10.5.2 द्वितीय चरण

संघर्ष के द्वितीय चरण में राष्ट्रकूट अनुपस्थित रहे तथा संघर्ष मुख्यतः पाल शासक **धर्मपाल** तथा प्रतिहार शासक **वत्सराज** के मध्य केन्द्रित रहा। इस चरण में पाल शासक धर्मपाल को तब महत्वपूर्ण सफलता हाथ लगी जब उसने कन्नौज की गद्दी पर अपने अधीन **चक्रायुध** को स्थापित करने में सफलता पाई। इस अवसर पर अनेक राजा उपस्थित हुए थे तथा उन्होंने सर्वसम्मति से **धर्मपाल** को **सकलोत्तरापथनाथ** के रूप में स्वीकार किया। ग्यारहवीं सदी के गुजराती कवि **सोड्यल** के लेखन में इस सभा की चर्चा मिलती है।

10.5.3 तृतीय चरण

त्रिपक्षीय संघर्ष का तृतीय चरण प्रतिहार शासक **नागभट्ट द्वितीय**, पाल शासक **धर्मपाल** तथा राष्ट्रकूट शासक **गोविन्द तृतीय** के मध्य संघर्ष हुआ। धर्मपाल द्वारा कन्नौज पर किये गये नियंत्रण ने प्रतिहार शासक को धर्मपाल पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया तथा मुंगेर के युद्ध में उसने धर्मपाल को बुरी तरह पराजित भी किया परंतु उसी वक्त पुनः राष्ट्रकूटों ने प्रतिहार राज्य पर आक्रमण कर दिया। गोविन्द तृतीय के नेतृत्व में हुए इस हमले की वजह से जहां एक तरफ धर्मपाल को पुनः शक्ति प्राप्त करने का मौका मिल गया वहीं कन्नौज पर प्रतिहार नियंत्रण भी स्थायी नहीं हो सका।

10.5.4 चतुर्थ चरण

संघर्ष के चौथे चरण में केवल प्रतिहार एवं राष्ट्रकूट शासक ही शामिल हुए। इसी चरण में राष्ट्रकूट शासक **गोविन्द तृतीय** ने **नागभटटद्वितीय**को पराजित कर मालवा का क्षेत्र छीन लिया और वहां पर अपने अधीन **उपेन्द्र** को स्थापित कर दिया।

10.5.5 पंचम चरण

संघर्ष का पंचम चरण सिर्फ पालों तथा प्रतिहारों के मध्य लड़ा गया। इस काल तक प्रतिहार शासक राष्ट्रकूट हमले से उबर नहीं सके थे। इसका लाभ**धर्मपाल** तथा उसके उत्तराधिकारी **देवपाल** ने उठाया तथा एक विस्तृत भूभाग पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया।जब 814 ई० मेंधर्मपाल की मृत्यु हुई तो देवपाल उत्तर भारत के शक्तिशाली राज्य का उत्तराधिकारी बना । यही नहीं, उसने स्वयं भी पाल वंश के विस्तार के लिए काफ़ी प्रयत्न किया। बदल स्तंभ अभिलेख के अनुसार बंगाल के राजा देवपाल ने केदार मिश्र की सलाह पर उत्कलों के वंश को समाप्त किया, हुण शक्ति को समाप्त किया और द्रविड़ और गुर्जरों के अभिमान को चूर-चूर कर दिया।

10.5.6 छठा एवं अंतिमचरण

त्रिपक्षीय संघर्ष के छठे चरण में भी केवल पाल एवं प्रतिहार शासक ही उपस्थित रहे। इस चरण में पालों की स्थिति कमजोर हो गई थी जबकि प्रतिहारों को **मिहिरभोज** तथा **महेन्द्रपाल** जैसे शासकों की सेवाएं प्राप्त हुई थीं। मिहिर भोज अंततः कन्नौज को अपनी राजधानी बनाने में सफल रहा। इस प्रकार इस त्रिपक्षीय संघर्ष में प्रतिहारों को कन्नौज पर नियंत्रण पाने में अतिम सफलता प्राप्त हुई।

अब प्रश्न उठता है कि राष्ट्रकूट शासकों द्वारा जब उत्तर भारत की राजनीति में सफल हस्तक्षेप किया गया तो फिर कन्नौज पर नियंत्रण प्राप्त करने में उन्हें सफलता क्यों नहीं मिली? वस्तुतः कन्नौज से राष्ट्रकूटों की भौगोलिक दूरी बहुत अधिक थी। अतः कन्नौज पर उनका स्थायी नियंत्रण व्यवहारिक रूप में सम्भव नहीं था। यही वजह है कि उनके निरंतर सैनिक आक्रमणों का कोई निश्चित परिणाम सामने नहीं आया। दूसरी तरफ उत्तरी भारत में अपने उलझाव के कारण उनकी एक बड़ी शक्ति उत्तर में ही नष्ट हो गई। जिसके कारण राष्ट्रकूट दक्षिणी भारत में अपने को संकेन्द्रित नहीं कर सके अन्यथा दक्षिण में एक बड़े साम्राज्य की स्थापना करना उनके लिये संभव हो पाता।
कुछ इतिहासकारों द्वारा यह भी मानना है कि राष्ट्रकूटों को परवर्ती काल के मराठों की तरह महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए थी परंतु ऐसा राष्ट्रकूटों के लिये संभव नहीं हुआ क्योंकि राष्ट्रकूट तथा मराठों की स्थिति में अन्तर था। मराठों के पास अतिरिक्त मानव शक्ति थी जिसका उपयोग वे उत्तर में कर रहे थे। अर्थात् उत्तर में मुख्य विस्तार अधीनस्थ मराठा सरदारों के अंतर्गत किया गया था। दूसरे, उन्होंने उत्तर भारत की किसी न किसी शक्ति का समर्थन भी प्राप्त कर रखा था। राष्ट्रकूट इन लाभों से वचित थे। इन्हीं कारणों से राष्ट्रकूटों के उत्तर में लंबे समय तक उलझाव के बावजूद एकमात्र स्पष्ट परिणाम मालवा में उपेन्द्र के नेतृत्व में परमार शक्ति की स्थापना के रूप में ही आया।

दूसरी तरफ निरंतर आपसी सैनिक संघर्ष के कारण प्रतिहार एवं पाल शक्ति का भी पतन हो गया। इन राजवंशों के अंतर्गत एक सामंती संरचना कायम हो चुकी थी। प्रतिहारों के अंतर्गत महत्वाकांक्षी सामंत और सरदार निरंतर स्वतंत्र होने का प्रयास कर रहे थे |त्रिपक्षीय संघर्ष में उलझाव के कारण यह प्रतिहार शासक उन विघटनकारी तत्वों पर नियंत्रण नहीं रख सकेजिसके परिणामस्वरूप प्रतिहार साम्राज्य का विघटन हो गया। इस विघटन के पश्चात छोटे-छोटे राजपूत राज्य अस्तित्व में आये यथा-मालवा का परमार, खजुराहों का चन्देल, दिल्ली के तोमर, अजमेर के चौहान, गुजरात के सोलंकी। दूसरी तरफ इन संघर्षों ने पाल शक्ति के पतन का भी मार्ग प्रशस्त कर दिया। अंततः सेन वंश के हाथों पाल शासकों ने भी अपनी सत्ता गंवा दी

10.5 सारांश

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि त्रिपक्षीय संघर्ष ने उत्तर भारतीय राजनीतिक स्थिति को नाटकीय रूप में परिवर्तित कर दिया था । इसके परिणामस्वरूप भारत की तीन महान शक्तियों पाल, प्रतिहार एवं राष्ट्रकूट का पतन हो गया। राष्ट्रकूट राजवंश उत्तरवर्ती चालुक्यों द्वारा विस्थापित कर दिया गया, जबकि प्रतिहार राजवंश के पतन के पश्चात् अपेक्षाकृत छोटे-छोटे राजवंश अस्तित्व में आये। यद्यपि इससमय दक्षिण में एक महान शक्ति चोलों का उद्भव हुआ तथा चोल नौ सेना ने दक्षिण में श्रीलंका तथा दक्षिण पूर्व एशिया में अपनी शक्ति का अहसास कराया परन्तु उत्तरी भारत में एक प्रकार के राजनीतिक शून्य की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। यद्यपि यह वही काल था जब महान चोल शासक राजेन्द्र प्रथम ने उत्तर में गंगा का अभियान किया था परन्तु उत्तरी भारत तथा उत्तर पश्चिम का क्षेत्र उसकी परिधि से बाहर था। किन्तु अनेक कमजोरियों के बावजूद इन राजपूत शक्तियों राष्ट्रकूट एवं प्रतिहारों ने अनेक वर्षों तक विदेशी शक्तियों को भारत के अंदरूनी भाग में विजय प्राप्त करने से रोके रखा |सर्वप्रथम जब अरब आक्रमण के रूप में मुस्लिम शक्ति ने भारत के दरवाजे पर दस्तक दी। छठी शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त से ही अरब शक्ति

भारत में अपना पाँव फैलाने के लिए प्रयासरत थी। 90 वर्षों के निरन्तर प्रयत्नों के पश्चात् यद्यपि सिंध में उन्हें पाँव फैलाने का अवसर मिला परन्तुसिन्ध से बाहर भारत की मुख्य भूमि पर प्रसार करने की उनकी महत्वाकांक्षा खण्डित हो गयी। वस्तुतः भारत की मुख्य भूमि पर उनके प्रसार को पश्चिम में गुर्जर प्रतिहारों ने तथा दक्षिण पश्चिम में राष्ट्रकूटों ने रोक दिया।

10.7 स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर दीजिए –

1. विक्रमशिला एवं सोमपुरी जैसे प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों की स्थापना का श्रेय किस शासक को दिया जाता है-

(अ). गोपाल (ब). ध्रुव

(स). धर्मपाल (द). दन्तिदुर्ग

2. त्रिपक्षीय संघर्ष में कौन सा राजवंश सम्मिलित नहीं था-

(अ). पाल (ब). प्रतिहार

(स). राष्ट्रकूट (द). चौहान

3.काव्यमीमांशा एवं कर्पूरमञ्जरी ग्रंथों के रचनाकार कौन है-

(अ).राजशेखर (ब).दन्तिदुर्ग

(स).हलायुध (द).जिनसेन

4. नृपतुंग के नाम से कन्नड़ भाषा में अलंकरणशास्त्र पर प्रथम पुस्तक 'कविराजमार्ग' एवं ‘प्रश्नोत्तर मलिका’ जैसे ग्रंथों की रचना किस शासक ने की -

(अ).गोपाल (ब).अमोघवर्ष प्रथम

(स).दन्तिदुर्ग (द). ध्रुव

10.8 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. (स), 2. (द), 3. (अ), 4. (ब)

10.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. द्विजेन्द्रनारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली, प्राचीन भारत

2. वर्मा, हरीशचंद्र., मध्यकालीन भारत (भाग-1),

3. शर्मा, रामशरण., प्रारम्भिक भारत का परिचय, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान प्रा. ली., नई दिल्ली, 2010.

4. महाजन, बी.डी., प्राचीन भारत एक रुपरेखा, पीपुल्स पब्लिसिंग हॉउस, नई दिल्ली, 2005.

5.श्रीवास्तव, के०सी०, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति.

6. वी. सी. पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास.

7. गौरीशंकर ओझा, प्राचीन राजपूताने का इतिहास.

10.10 निबंधात्मक प्रश्न

1 . हर्षोत्तर काल में उत्तरी भारत में कौन-कौन से नवीन राजवंशों का उदय हुआ ? समीक्षा कीजिए।

2. पाल, प्रतिहार एवंराष्ट्रकूट शासकों के मध्य हुए त्रिपक्षीय संघर्ष का वर्णन कीजिए।

इकाई ग्यारह – उत्तर भारत में राजपूतों का उत्थान : राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज एवं संस्कृति

11.1 प्रस्तावना

11.2 उद्देश्य

11.3 राजपूतों की उत्पत्ति

11.3.1 देशी उत्पत्ति का सिद्धान्त

11.3.1.1. अग्निकुण्ड का सिद्धान्त

11.3.2 विदेशी उत्पत्ति का सिद्धान्त

11.3.3 मिश्रित सिद्धान्त

11.4 उत्तरी भारत के प्रमुख राजपूत राजवंशों का परिचय

11.4.1 गहड़वाल वंश

11.4.2 चौहान वंश

11.4.3 चन्देल वंश

11.4.4 परमार वंश

11.4.5 सेन-वंश

11.4.6 सोलंकी वंश

11.4.7 कलचुरीवंश

11.5 राजपूतकालीन अर्थव्यवस्था

11.5.1 कृषि

11.5.2 व्यापार

11.5.2.1 विदेशी व्यापार

11.5.2.1.1 आयात- निर्यात की वस्तुएं

11.5.2.2 आंतरिक व्यापार

11.5.3 व्यापारिक मार्ग

11.5.4 व्यापारिक समूह

11.5.5 उद्योग

11.5.4.1 वस्त्र उद्योग

11.5.4.2 धातु उद्योग

11.5.6 मुद्रा

11.5.7 कर प्रणाली

11.6 राजपूत कालीन सामाजिक व्यवस्था

11.6.1 जातियों से उपजातियों का विकास

11.6.2. ब्राह्मणवादी विशेषाधिकारों पर बल

11.6.3. वैश्यों की सामाजिक दशा में गिरावट

11.6.4. महिलाओं की दशा

11.6.5. अस्पृश्य जातियों की संख्या में विस्तार

11.7 राजपूत कालीन संस्कृति

11.7.1 साहित्य

11.7.2 शिक्षा

11.7.3 कला

11.7.3.1 वास्तुकला

11.7.3.1.1 भारतीय आर्य शैली

11.7.3.1.2 चालुक्य शैली

11.7.3.1.3 द्रविड़ शैली

11.7.3.2 मूर्तिकला

11.7.3.3 चित्रकला

11.8 सारांश

11.9 तकनीकी शब्दावली

11.10 स्वमूल्यांकित प्रश्न

11.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

11.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

11.13 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम मुख्यता राजपूतों की उत्पति एवं उनके इतिहास का अध्ययन करेंगे। राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इतिहासकारएकमत नहीं है। भारतीय इतिहासकारों के अनुसार राजपूत भारत के प्राचीन क्षत्रियों की सन्तान हैं जबकि पाश्चात्य इतिहासकार राजपूतों को विदेशियों की सन्तान स्वीकार करते हैं। 'राजपूत' शब्द का प्रयोग हर्ष की मृत्यु के बाद हुआ। इससे पूर्व कहीं-कहीं 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है, किन्तु वह किसी जाति विशेष के लिये प्रयोग नहीं किया जाता था बल्कि यह राजकुमार अथवा राजवंश का सूचक था, किन्तु कालान्तर में क्षत्रिय वर्ग के लिए ही राजपूत शब्द का प्रयोग होने लगा। इस प्रकार क्षत्रिय वर्ग अपनी शौर्यता एवं वीरता के कारण ही राजपूत नाम से प्रसिद्ध हुए।

11.2 उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्च्यात हम प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में निरंतरता और दीर्घकालीन परिवर्तन व विकास की प्रक्रिया को समझ पाएंगे | साथ ही राजपूतों की उत्पत्ति से सम्बंधित विभिन्न मतों को समझ पाएंगे | इसके अतिरिक्त राजपूत कालीन राजनीतिक, सामजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे|

11.3 राजपूतों की उत्पत्ति

राजपूत शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द **'राजपुत्र'** से मानी जाती है। आरंभ में राजपुत्र शब्द व्यक्तिवाचक था तथा राजा के पुत्र के अर्थों में ही प्रयुक्त होता था परन्तु पूर्व मध्यकाल में इस शब्द का अर्थ जातिवाचक हो गया तथा इसका प्रयोग शासक अथवा भूमिधारी सामंत के संदर्भ में किया जाने लगा। राजपूतों का पहला विवरण सिंध विजय के समय मिलता है जब सिंध के शासक दाहिर की सहायता के लिये 5000घुड़सवार इकट्ठे हुए थे जहां इन्हें राजपुत्र अथवा राजपूत कहा गया था। राजपूतों की उत्पत्ति के संदर्भ में विभिन्न मत प्रचलित हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार से हैं-

11.3.1 देशी उत्पत्ति का सिद्धान्त

प्राचीन अनुश्रुतियों के अनुसार राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रियों- सूर्य और चन्द्रवंशी क्षत्रियों के वंशज थे, क्योंकि भारतीय आर्यों की दो प्रमुख शाखायें- सूर्यवंश और चन्द्रवंश के नाम से प्रसिद्ध थीं। कालान्तर में एक तीसरी शाखा 'यदुवंश' के नाम से विख्यात हुई। पं. गौरीशंकर ओझा, श्री सी.पी. वैद्य तथा श्री वेदव्यास राजपूतों को सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी मानते हैं। आगे चलकर इन प्रमुख जातियों की अनेक उप-जातियाँ बन गईं और उन जातियों के प्रमुख व्यक्तियों के नाम पर ही वंश चलने लगे।

11.3.1.1 अग्नि-कुण्ड का सिद्धान्त-

राजपूतों के उद्भव के संबंध में अग्निकुलका सिद्धान्त पृथ्वीराज रासो के लेखक चन्दबरदाई द्वारा स्थापित किया गया है। इसमें कहा गया है कि परशुराम के द्वारा जब क्षत्रियों का नाश किया गया तो उसके पश्चात समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई जिनको दूर करने तथा धर्म की रक्षा के लिये ब्रह्मा के आदेश से आबू पर्वत पर 20 दिनों तक एक महान यज्ञ का आयोजन किया गया । उसी यज्ञकुण्ड से परमार, चालुक्य (सोलंकी), प्रतिहार तथा चाहमानों की उत्पत्ति हुई। यह धारणा असंगत और कपोल-कल्पित लगती है क्योंकि इस कथा का वर्णन सोलहवीं शताब्दी से मिलता है जबकि इन जातियों का इतिहास इस काल से लगभग एक हजार वर्ष पुराना है। ऐसा लगता है कि कालान्तर में इस अनुश्रुति को पृथ्वीराजरासो में जोड़ दिया गया, क्योंकि पृथ्वीराजरासो की हस्तलिखित किसी प्रति में इसका उल्लेख नहीं मिलता। अतः इस अनुश्रुति में सत्यता का अभाव है।

11.3.2 विदेशीउत्पत्ति का सिद्धान्त –

राजस्थान के सुप्रसिद्ध इतिहासकार **टॉड** तथा उनके समर्थकों के अनुसार राजपूतों की उत्पत्ति मध्य एशिया से आए शक और सिथियन जाति से हुई। उनके अनुसार जो राजपूत सूर्यवंश से अपने को सम्बोधित करते हैं तथा सूर्य की उपासना करते हैं वे विदेशियों की सन्तान थे और जो राजपूत नाग की पूजा करते हैं वे भारत की मूल जातियों के वंशज हैं। टॉड की धारणा न्याय-संगत नहीं है और इसे स्वीकार करना भी राजपूत जाति के साथ घोर अन्याय करना है। यदि हम इस धारणा को स्वीकार भी कर लें कि राजपूत विदेशियों की सन्तान हैं तो प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन क्षत्रिय जाति का क्या हुआ और वह कहाँ विलीन हो गई ? अतः राजपूत जाति को विदेशियों की सन्तान मानना सर्वथा अनुचित है।

11.3.3 मिश्रित सिद्धान्त-

प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ ने राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपनी एक अन्य धारणा का प्रतिपादन किया है। उनकी धारणा है कि दक्षिण भारत में गोंड, भार आदि जंगली जातियाँ निवास करती थीं। इन्हीं जातियों से चन्देल, राठौर और गहड़वाल आदि जातियों की उत्पत्ति हुई, जो अपने को सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी क्षत्रिय मानने लगे और ब्राह्मणों द्वारा हिन्दू-धर्म में दीक्षित किये गये। इस धारणा को स्वीकार करने में वही विकट समस्या उत्पन्न होती है कि भारत के प्राचीन क्षत्रियकुलों का क्या हुआ ? इस सम्बन्ध में यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि समय-समय पर जो विदेशी जातियाँ भारत में आई, वे मूल जातियों से इतनी घुल-मिल गईं कि मूल जाति से उनका विभेद करना कठिन हो गया।परन्तु विश्लेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि राजपूतों के उद्भव की व्याख्या स्वदेशी बनाम विदेशी सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य मेंकरने के बजाय एक संपूर्ण प्रक्रिया के परिणाम के रूप में किया जाना चाहिए।

राजपूतों की उत्पत्ति एक आर्थिक प्रक्रिया का परिणाम है क्योंकि भूमि अनुदान के माध्यम से दूरस्थ क्षेत्रों में कृषि बस्तियों का प्रसार हुआ। फिर भूस्वामी वर्ग में स्थानीय जनजातीय वर्ग के रूप में देशी तथा आक्रमणकारी वर्ग के रूप में विदेशी तत्व शामिल हो गये होंगे। इन्होंने वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित कर तथा ब्राह्मणों को दान देकर अपने को क्षत्रिय वर्ग के साथ स्थापित कर लिया। इसी प्रकार राजपूतों का उद्भव एक राजनीतिक प्रक्रिया का भी परिणाम है। उदाहरण के लिये विभिन्न सरदारों को भूमि अनुदान प्राप्त हुए। उनमें से कुछ सरदारों को यह अधिकार प्राप्त था कि वे अनुदान का कुछ अंश अपने अधीनस्थ किसी दूसरे व्यक्ति को भी दे सकते थे। इस व्यवस्था से इन सरदारों की स्थिति मजबूत हुई। आगे चलकर इन सरदारों द्वारा किलों का निर्माण किया गया तथा सैन्य तंत्र संगठित किए गए। इस प्रकार सरदारों ने अपनी राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ किया।

इसके अतिरिक्त राजपूतों के उद्भव को सामाजिक प्रक्रिया के परिणाम के रूप में भी देखा जा सकता है। वस्तुतः कुछ सरदारों के उद्भव में वैवाहिक संबंधों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। कुछ छोटे स्तरों के सरदारों ने वैवाहिक संबंधों के माध्यम से अपनी स्थिति सुदृढ़ की। वैवाहिक संबंधों द्वारा उनका सामाजिक स्तर ऊँचा हुआ तथा वे राजपूत समूह में शामिल हो गये। उसी प्रकार कुछ महत्त्वपूर्ण परिवारों के उद्भव में **'ब्रह्म-क्षत्र'** की अवधारणा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कुछ योद्धा परिवारों ने अपने सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिये क्षत्रिय से पूर्व ब्राह्मणों से अपना संबंध जोड़ लिया। उदाहरण के लिये, प्रतिहार शासकों के मूल पुरूष **हरिश्चन्द्र** के विषय में यह बताया जाता है कि उसकी दो पत्नियां थीं जिनमें एक ब्राह्मण थीं तो दूसरी क्षत्रिय। आगे इस वंश के महत्वपूर्ण शासकों को ब्राह्मण पत्नी से उत्पन्न बताया गया है। इसी प्रकार कुछ योद्धा परिवारों ने अपने सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिये क्षत्रिय से पूर्व ब्राह्मणों से अपनासंबंध जोड़ लिया।

11.4 उत्तरी भारत के प्रमुख राजपूत राजवंशों का परिचय

उत्तरी भारत में जिन प्रमुख राज्यों की स्थापना हुई उनमें गुर्जर-प्रतिहार वंश, कन्नौज का गहड़वाल वंश, दिल्ली व अजमेर का चौहानवंश, बुन्देलखण्ड का चन्देलवंश, मालवा का परमार वंश, बंगाल का पाल व सेन वंश, गुजरात का सोलंकी तथा मध्य भारत का कलचुरी वंश आदि प्रमुख थे। जिनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार से है-

11.4.1 गहड़वाल वंश

गहड़वाल कौन थे, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित कहना अत्यन्त कठिन है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि वे राठौरों की एक शाखा थे। कुछ इतिहासकारों के मतानुसार इस वंश का उदय 11वीं शताब्दी में मिर्जापुर की पहाड़ियों में हुआ।इस वंश का संस्थापक प्रथमराजा **चन्द्रदेव** था, जिसने वाराणसी को अपनी राजधानी बनाया। 1085ईस्वी. में उसनेगुर्जर- प्रतिहारों का अन्त करके कन्नौज पर अधिकार कर लिया और कन्नौज को राजधानी बनाया। लगभग 1104 ईस्वी. में इस महान शासक का देहावसान हो गया। चन्द्रदेव के उत्तराधिकारी क्रमशः **मदनपाल (1104-**

14), **गोविन्दचन्द्र (1114-54)** तथा **विजयचन्द्र (1154-70)** हुए। गोविन्दचन्द्र प्रतिभाशाली शासक था। उसने मगध के पश्चिमी प्रदेश तथा मालवा के पूर्वी प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसके शासन काल में **लक्ष्मीधर** ने **'कृत्यकल्पतरु'** नामक ग्रन्थ की रचना की जो कानून का एक अमूल्य ग्रन्थ माना जाता है। **विजयचन्द्र** भी अपने पिता गोविन्दचन्द्र के समान योग्य तथा प्रतिभाशाली शासक था। 'पृथ्वीराजरासो' नामक ग्रन्थ में उसकी विजयों का उल्लेख मिलता है। इस वंश का अन्तिम शक्तिशाली शासक **जयचन्द** था, जो **1170ईस्वी.** में कन्नौज का सम्राट बना। उसकी दिल्ली के सम्राट पृथ्वीराज तृतीय से शत्रुता थी, क्योंकि पृथ्वीराज ने उसकी पुत्री संयोगिता का हरण करके विवाह कर लिया था। जयचन्द ने इस अपमान का बदला लेने के लिये **मुहम्मद गोरी** को पृथ्वीराज तृतीय के विरुद्ध भारत पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया। फलतः 1192 ईस्वी. में तराइन के द्वितीय युद्ध में पृथ्वीराज पराजित हुआ। अन्त में 1194 में मुहम्मद गोरी ने जयचन्द को भी पराजित कर दिया तथा युद्ध-स्थल में ही जयचन्द वीरगति को प्राप्त हुआ। इस प्रकार सौ वर्ष शासन करने के पश्चात् गहड़वाल वंश का अन्त हो गया और उसका राज्य तुर्की साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

11.4.2 चौहान वंश

'हम्मीर महाकाव्य'और **'पृथ्वीराजरासो'**के अनुसार चौहान अपने पूर्वज **'चाहमान'**के वंशज थे जिनकी उत्पत्ति सूर्य से हुई थी। **चारण अनुश्रुतियों** के अनुसार चौहानों की उत्पत्ति अग्नि-कुण्ड से हुई और उन्होंने तुर्कों से भारत की रक्षा के लिये अग्नि के सम्मुख शपथ ली। अधिकांश भारतीय इतिहासकार चौहानों को प्राचीन भारतीय सन्तान मानते हैं। इस वंश का राज्य जोधपुर और जयपुर के मध्यवर्ती साँभर प्रदेश तक विस्तृत था। कालान्तर में उन्होंने अजमेर में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली।

इस वंश का प्रथम शक्तिशाली शासक **विग्रहराज द्वितीय** था। जिसने गुजरात के चालुक्य राजा **मूलराज प्रथम** को परास्त कर नर्मदा नदी तक के प्रदेशोंपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इसके उत्तराधिकारी क्रमशः **अजयराज (1105-1130)** तथा **अर्णोराज (1130-1150)** शासक हुए। **अजयराज** ने **अजमेर नगर** की स्थापना की और मालवा के परमार राजाओं से युद्ध किया। **अर्णोराज** ने मुस्लिम आक्रमणकारियों को पराजित किया। इस वंश का सबसे बड़ा प्रतापी तथा महत्वपूर्णसम्राट **विग्रहारज चतुर्थ** अथवा **बीसलदेव (1153-64)** था जिसने तोमरों से दिल्ली छीन ली थी। इस वंश का अन्तिम तेजस्वी तथा शक्तिशाली सम्राट **पृथ्वीराज तृतीय (1179-92)** था जिसका मुहम्मद गोरी के साथ दो बार युद्ध हुआ। पृथ्वीराज ने 1191ईस्वी. में तराइन के प्रथम युद्ध में मुहम्मद गोरी को पराजित किया। जबकि दूसरे ही वर्ष1192 ईस्वी. मेंतराइन के द्वितीय युद्ध में उसे हार का सामना करना पड़ा | पृथ्वीराज की पराजय के फलस्वरूपदिल्ली तथा अजमेर पर तुर्क शासकों की राजसत्ता स्थापित हो गई।

11.4.3 चन्देल वंश

चन्देलों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ इतिहासकारों का मत है कि चन्देल **'चन्द्रवंशी'**थे। जबकि इतिहासकार स्मिथ के अनुसार चन्देल भारों अथवा गोंडों की जाति के भारतीय आदिवासीथे और उनका मूल स्थान छतरपुर रियासत में केन नदी के तट पर मनियागढ़ था। प्रारम्भ में वे प्रतीहार राजाओं के सामन्त थे।इस वंश का प्रथम महत्वपूर्ण स्वतन्त्र शासक **यशोवर्मन** था। उसने कालिंजर के दुर्ग को विजित किया और महोबा को अपनी राजधानी बनाकर वहीं से शासन करने लगा। उसने कन्नौज के राजा पर भी विजय प्राप्त की और वहाँ से एक विष्णु प्रतिमा छीनकर ले आया जिसे खजुराहों में एक विशाल मंदिर बनवाकर प्रतिष्ठित किया। यशोवर्मन ने 930 ईस्वी से 950ईस्वी तक शासन किया।यशोवर्मन के पश्चात् उसका पुत्र **धंग** गद्दी पर आसीन हुआ। उसने उत्तरी भारत के प्रयाग, कालिंजर तथा ग्वालियर के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसने दक्षिण भारत के राजाओं से कई युद्ध किये और खजुराहो के मन्दिरों का निर्माण करवाया। धंग ने 950ईस्वी से 1002ईस्वी तक शासन किया।

'धंग' के पश्चात् उसका पुत्र **गण्ड(1002-17ईस्वी)** गद्दी पर आसीन हुआ। 1002ईस्वी में महमूद के आक्रमण के विरुद्ध उसने **आनन्दपाल** की सहायता की थी। जब महमूद गजनवी ने कन्नौजपर आक्रमण किया तो वहाँ का शासक **राज्यपाल** अपना राज्य छोड़कर भाग गया। इससे क्रुद्ध होकर गण्ड ने युवराज **विद्याधर (1000-1021ईस्वी)** को एक सेना देकर राज्यपाल को दण्ड देने के लिये भेजा। विद्याधर ने युद्धभूमि में राज्यपाल की हत्या कर दी। जब यह समाचार महमूद गजनवी को ज्ञात हुआ तो उसने 1022ईस्वी में गण्ड पर आक्रमण कर दिया तथा उसे पराजित कर अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया।

'गण्ड' के पश्चात् **कीर्तिवर्मन (1070 से 1100ईस्वी)**इस वंश का शक्तिशाली शासक हुआ।उसने चेदि राजा को परास्त किया।साथ ही**'कीरत नगर'** नामक नगर का निर्माण करवाया, जिसके मध्य कीरत सागर नामक झील का निर्माण किया गया। इस वंश का अन्य शक्तिशाली राजा **मदनवर्मन (1129 से 1163ईस्वी)**हुआ। उसने गुजरात के चालुक्य राजा **सिद्धराज जयसिंह** को पराजित किया था। इस वंश का अन्तिम शासक **परमाल (1165-1203ईस्वी)** था जिसने 1203 में कुतुबुद्दीन ऐबक की अधीनता स्वीकार कर ली और इस प्रकार चन्देलों की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हो गया।

11.4.4 परमार वंश

कुछ इतिहासकारों का मानना है कि परमार प्राचीन भारतीय क्षत्रियों की सन्तान थे और उन्हीं राजवंशों से सम्बंधित थे जिन्होंने मुस्लिम आक्रमणों से देश की रक्षा के लिये अग्नि के सम्मुख शपथ ग्रहण की थी। अहमदाबाद जिले से प्राप्त एक अभिलेख के अनुसार, 'परमार राष्ट्रकूट जाति के थे।' नवीं शताब्दी में उन्होंने आबू पर्वत के निकट अपने राज्य की स्थापना की थी। इस वंश का संस्थापक **उपेन्द्र** अथवा **कृष्णराज** राष्ट्रकूटों का सामन्त था।उपेन्द्र का उत्तराधिकारी श्रीहर्ष प्रतिभाशाली शासक था जिसने सम्राट की उपाधि धारण की। फलस्वरूप राष्ट्रकूटों तथा परमारों में भीषण युद्ध हुआ जिसमें **श्रीहर्ष** को विजय प्राप्त हुई। उसने हूण-जाति के एक सरदार से भी युद्ध किया।

श्रीहर्ष के पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र **मुंज (973-995ईस्वी)** परमारों की गद्दी पर आसीन हुआ। वह इस वंश का प्रतिभाशाली सम्राट था।उसने लाट, चोल, कलचुरी, केरल तथा कर्नाटक के शासकों को पराजित किया तथा **'उत्पलराज', 'श्रीवल्लभ'**तथा **'अमोघवर्ष'** आदि उपाधियाँ धारण कीं। उसने चालुक्य राजा **तैलप द्वितीय** को छःबार युद्ध में पराजित किया, परन्तु सातवीं बार वह पराजित होकर बन्दी बना लिया गया और उसकी हत्या कर दी गई। मुंज स्वयं उच्चकोटि का विद्वान तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में **पद्मगुप्त, धानिक भट्ट, धनञ्जय, हलायुद्ध** जैसे प्रकाण्ड विद्वानों को प्रश्रय प्राप्त था। मुंज के पश्चात् **सिन्धुराज (995-1018ईस्वी)** शासक हुआ। उसने तैलप द्वितीय के पुत्र और उत्तराधिकारी **सत्याश्रम** पर आक्रमण करके अपने राज्य के खोये प्रदेश पर पुनः अधिकार कर लिया।

इस वंश का सर्वश्रेष्ठ शासक राजा **भोज(1018-1060ईस्वी)** था। उसने कल्याणी के चालुक्यों को पराजित किया। इसके पश्चात् उसने कलचुरी राजा **गांगेयदेव** को पराजित किया। उसने उत्तर प्रतीहारों को पराजित करके बिहार पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इन विजयों के होते हुए भी उसके अन्तिम दिन गौरवपूर्ण न रहे। चालुक्य राजा **सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल** ने उसे पराजित करके मालवा और उसकी राजधानी धार को बुरी तरह लूटकर विनष्ट कर दिया। लेकिन भोज ने शीघ्र ही अपनी खोई हुई शक्ति अर्जित कर ली। उसने भीम प्रथम की अनुपस्थिति में अह्लिवाड़ को खूब लूटा। फलतः **भीम प्रथम** ने कलचुरी राजा **लक्ष्मीकर्ण** की सहायता से दोनों ओर से राजा भोज के राज्य पर भीषण आक्रमण किया। युद्ध चल ही रहा था कि इसी समय राजा भोज की मृत्यु हो गई।

राजा भोज अपने विद्या-प्रेम तथा अपनी दानशीलता के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इनके द्वारा रचित अट्ठाईस ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं जिनमें **'सरस्वती कण्टाभरण', 'श्रृंगारप्रकाश', 'प्राकृत व्याकरण', 'पातंजलयोगसूत्रवृत्ति', 'कूर्मशतक', 'चम्पूरामायण', 'श्रृंगारमंजरी', 'समरांगणसूत्रधार', 'युक्तिकल्पतरु', 'तत्वप्रकाश', 'भुजबलनिबन्ध', 'राजमृगांक', 'नाममालिका' और 'शब्दानुशासन'**आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। एक अभिलेख में उसे **'कविराज'**कहा गया है। उसने अपनी राजधानी **'धार'** में एक संस्कृत का विद्यालय **'भोजशाला'**के नाम से बनवाया था। उसके दरबार में अनेक कवियों तथा साहित्यकारों को आश्रय प्राप्त था। वह शैव मतावलम्बी था। उदयपुर के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने राज्य में अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण करवाया था। उसने वर्तमान भोपाल के दक्षिण में **'भोजपुर'** नामक नगर की स्थापना की थी।

भोज की मृत्यु के उपरान्त क्रमशः **जयसिंह** और **उदयादित्य** शासक हुए। **उदयादित्य** (**1094ईस्वी**) इस वंश का अन्तिम स्वतन्त्र शासक था। अन्त में **अलाउद्दीन खिलजी** ने मालवा पर आक्रमण करके उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

11.4.5 सेन-वंश

पाल-वंश के पतन के पश्चात् बंगाल में सेन-वंश का शासन प्रारम्भ हुआ। सेन दक्षिण में कर्नाटक के निवासी थे। सेन राजा ब्राह्मण थे। क्षत्रियों का कर्म करने के कारण इनको **'ब्रह्म-क्षत्रिय'** कहा गयाहै। इस वंश का संस्थापक **सामन्तसेन** था जो वृद्धावस्था मेंगंगा के तट पर आकर बस गया। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि वह राजा नहीं था बल्कि उसके पुत्र **हेमन्तसेन** ने एक छोटे से राज्य की स्थापना की थी।हेमन्तसेन का पुत्र **विजयसेन(1095 से 1158ईस्वी)**इस वंश का वीर तथा योग्य शासक था। उसके समय में सेनवंश की शक्ति और प्रतिष्ठा का विस्तार हुआ। उसने गौड़ राजा **मदनपाल** को पराजित करके बंगाल पर अधिकार कर लिया और तिरहुत, कामरूप, नेपाल तथा कलिंग के राजाओं को भी परास्त किया। वह शैव- धर्म का अनुयायी था। उसने देवपाड़ा में प्रद्युम्नेश्वर शिवका एक विशाल मन्दिर और एक झील का निर्माण करवाया। उसकी दो राजधानियाँ थीं- एक पश्चिम बंगाल में विजयपुर और दूसरी पूर्वी बंगाल में विक्रमपुर।

विजयसेन की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र **बल्लालसेन (1158 से 1179ईस्वी)** गद्दी पर आसीन हुआ। उसने अपने पैतृक राज्य को यथावत् रखा। वह हिन्दू धर्म का कट्टर अनुयायी था। वह उच्चकोटि का विद्वान तथा लेखक भी था। उसने अपने गुरु **अनिरुद्ध** की सहायता से **'दानसागर'**और **'अद्भुत सागर'**नामक दो ग्रन्थों की रचना की थी। उसके शासन-काल का सबसे महत्वपूर्ण कार्य वर्ण-व्यवस्था को पुनः स्थापित करना था। उसने कुलीन प्रथा चलाई जिसके कारण ब्राह्मण, वैश्य और कायस्थ को कुलीन माना गया और उनमें जातीय अहंकार की भावना का अत्यधिक विकास हुआ।बल्लालसेन के पश्चात् उसका पुत्र **लक्ष्मणसेन** राजा हुआ। वह इस वंश का अन्तिम प्रभावशाली शासक था। उसने गौड़, कामरूप, कलिंग तथा काशी पर विजय प्राप्त की थी। उसके शासन-काल में ही बिहार और बंगाल पर तुर्कों का अधिकार स्थापित हुआ। लक्ष्मणसेन ने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये **'अद्भुत सागर'**ग्रन्थ के लेखन के कार्य को पूर्ण किया। **'गीतगोविन्द'**के रचयिता **जयदेव,** लक्ष्मणसेनकी राजसभा का कवि था। **'पवनदूत'**नामक ग्रन्थ के लेखक **धीयी**, **'ब्राह्मणसर्वस्व'** के **हलायुध** और **'सदुक्तिकर्णाभृत'**के संकलक **श्रीधरदास** साहित्यिक क्षेत्र में उसके समय के विख्यात लेखक थे। लक्ष्मणसेन के पश्चात् उसके पुत्रों- **माधवसेन, विश्वरूपसेन** और **केशवसेन** ने लगभग 1260ईस्वी तक पूर्वी बंगाल में राज्य किया। अन्त में तुर्क शासकों ने इस वंश को समाप्त कर इनके भू-भाग पर शासन किया ।

11.4.6 सोलंकी वंश

कुछ इतिहासकारों ने सोलंकी वंश को चालुक्यों की शाखा माना है जिन्होंने गुजरात में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की। जबकि कुछ जन-श्रुतियों के अनुसार ये अग्निवंशीय क्षत्रिय थे।इस वंश का संस्थापक **मूलराज** था। उसने कच्छ के **लक्षराज**को परास्त कर उसका वध कर दिया और सौराष्ट्र में वनस्थली के राजा **ग्रहरिपु** को बन्दी बना लिया। मूलराज ने दक्षिण गुजरात के शासक **बारप्पा**, शाकम्भरी के **विग्रहराज चौहान** से भी युद्ध किया। इस वंश का अन्य शक्तिशालीशासक मूलराज का पौत्र दुर्लभराज का भतीजा **भीम प्रथम (1021 से 1063ईस्वी)** हुआ । उसके

शासन-काल में **महमूद गजनवी** ने सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण कर उसे खूब लूटा। भीम प्रथम गुजरात छोड़कर भाग गया था। महमूद गजनवी के वापस जाने के बाद भीम प्रथम ने पुनः गुजरात पर अधिकार कर लिया। उसने अपनी शक्ति का विस्तार कर आबू के परमार राजा को परास्त किया किन्तु जब वह सिन्धु के मुस्लिम राजा के विरुद्ध युद्ध कर रहा था, भोज परमार के सेनापति कुलचन्द ने उसकी राजधानी अह्मिलवाड़ को खूब लूटा। फलतः भीम प्रथम ने कलचुरी शासक **लक्ष्मीकर्ण** से सन्धि कर सम्मिलित रूप से मालवा पर आक्रमण किया। इसी युद्ध के मध्य भीम की मृत्यु हो गई। भीम प्रथम का उत्तराधिकारी **कर्ण (1063-1093ईस्वी)** एक निर्बल शासक था।

इस वंश का सबसे प्रतापी सम्राट् **जयसिंह सिद्धराज (1093 से 1143ईस्वी**) था। उसने सौराष्ट्र को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसने नादोल (जोधपुर रियासत) के चौहानों को युद्ध में पराजित किया और परमारों से मालवा का अधिकांश भाग छीन लिया। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने **'अवन्तिनाथ'**का विरुद धारण किया। उसने चन्देल राजा **मदनवर्मा** पर भी आक्रमण किया, किन्तु उसे चन्देल राजा से पराजित होना पड़ा। सिद्धराज निःसन्तान था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका सम्बन्धी **कुमारपाल (**1133 से 1172ईस्वी**)** उसका उत्तराधिकारी बना। उसने शाकम्भरी के चौहान राजा **अर्णोराज** को परास्त किया। साथ ही आबू और मालवा के परमार राजाओं के विद्रोह का दमन किया। उसने सौराष्ट्र और कोंकण के राजा **मल्लिकार्जुन** को भी परास्त किया। वह शैव मतावलम्बी था। उसने सोमनाथ मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया। जैन ग्रन्थों के अनुसार हेमचन्द्र के प्रभाव में आकर उसने जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। **कुमारपाल के** बाद क्रमशः **अजयपाल** तथा **मूलराज द्वितीय** शासक हुए। इस वंश का अन्तिम शासक **भीम द्वितीय** था जो कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा 1197ईस्वी में पराजित हुआ। अन्त में अलाउद्दीन खिलजी ने 1299ईस्वी में गुजरात को जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

11.4.7 कलचुरीवंश

कलचुरी 'कार्तवीर्य अर्जुन' के वंशजमाने जाते हैं। यह**'हैहय'**जाति की शाखा से थे जिसका महाभारत तथा पुराणों में उल्लेख मिलता है। इस वंश की राजधानी **'त्रिपुरी'**थी।इस वंश का संस्थापक **कोकल्ल (875 से 925ईस्वी)** था। उसने चन्देल एवं राष्ट्रकूटों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये।इस वंश का सबसे प्रतापी शासक लक्ष्मणराज था जिसने मालवा के परमार तथा कालिंजर के चन्देल राजाओं को परास्त किया।

इस वंश का दूसरा प्रतापी शासक **गांगेयदेव (1015 से 1040ईस्वी)** था।उसने उत्तरी भारत के प्रयाग तथा काशी के प्रदेशों को विजित कर अपने राज्य में मिला लिया, परन्तु परमार राजा भोज से उसे पराजित होना पड़ा। गांगेयदेव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र **लक्ष्मीकर्ण (1041 से 1072ईस्वी**)गद्दी पर बैठा। वह महत्वाकांक्षी तथा प्रतापी शासक था। उसने बनारस पर अधिकार करके कर्णमेरु नामक शिव-मन्दिर का निर्माण कराया। उसने चन्देल राजा **विजयपाल** तथा **देववर्मा** को पराजित किया। उसने राजा भोज से अपने पिता के अपमान का बदलालिया, किन्तु चालुक्य राजा **सोमेश्वर प्रथम** तथा चन्देल राजा **कीर्तिवर्मन** से उसे पराजित होना पड़ा। परमारों तथा चन्देलों

के साथ निरन्तर संघर्ष चलने के कारण कलचुरी वंश अधिक उन्नति नहीं कर सका। कर्ण के पश्चात् क्रमशः **यश कर्ण (1073 - 1123), गया कर्ण (1123- 1151), नरसिंह (1151-1161), जयसिंह** व **विजय सिंह** शासक हुए। अन्त में देवगिरि के यादवों ने इस राज्य पर अधिकार करके इसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

11.5 राजपूतकालीन अर्थव्यवस्था

11.5.1 कृषि

इस काल के ग्रंथों से कृषि की विकसित अवस्था का पता चलता है। साथ ही समकालीन ग्रंथों से खेतों के नाप व सीमा निर्धारित कर उत्पादकता के हिसाब से भूमि के वर्गीकरण की जानकारी भी प्राप्त होती है, जैसे **बाहीत**, जो बोया गया हो; **अकृष्ट**, जिसमें खेती न की गई हो; **ऊसर**, जहाँ बीज न उगता हो । **कृषिपाराशर**, **उपवन विनोद** और **अग्नि पुराण** के अध्ययन से पता चलता है कि फ़सल के लिए गोबर का ऊर्जा के रूप में प्रयोग किया जाता था । कृषिकार्य के लिए हल, फावड़ा, दराँती इत्यादि कृषि-उपकरणों के प्रयोग का उल्लेख प्राप्त होता है । साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि इस समयकाल में लोहे के फाल वाले हल का प्रचलन होता था। इससे गहरी खुदाई होती थी जो कि अच्छी पैदावार के लिए आवश्यक समझा जाता था ।राजा भोज कृत **'समरांगण सूत्रधार'**के यन्त्र लक्षणा अध्याय में **जल यन्त्र**के निर्माण की विधि दी गई है । 12 वीं शताब्दी में **भट्ट भुवन देव**द्वारा रचित कृति **'अपराजित पृछा'** में खेतों की सिंचाई के लिए नदी, झील, कूप, तालाब तथा अरहट्टो के उपयोग का विवरण मिलता है।चाहमान शासकों के अभिलेखों में सर्वाधिक उल्लेखनीयसुंधा पर्वत का चामुण्डा माता मंदिर (वि.स. 1319)प्रशस्ति में तड़ाग, वापी, प्रपा (नालियाँ) वकूप का उल्लेख प्राप्त होता है |

11.5.2 व्यापार

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से व्यापार को हम दो भागों- विदेशी एवं आंतरिक व्यापार में बाँट सकते है-

11.5.2.1 विदेशी व्यापार

राजपूत काल में आन्तरिक तथा बाह्य व्यापार दोनों ही प्रगति पर थे। अलबरूनी ने भारत के प्रमुख नगरों को जोड़ने वाले मार्गों का विस्तारपूर्वक विवरण दिया है। किन्तु इस युग में अतिरिक्त उत्पादन के अभाव ने दूरवर्ती व्यापार को प्रभावित किया। 7वीं शताब्दी के बाद में अरबों ने अपने राजनीतिक नियन्त्रण का विस्तार उत्तरी अफ्रीका, भूमध्यसागर क्षेत्र, मध्य एशिया तथा सिन्ध में कर लिया। इस विस्तार के फलस्वरूप उन्होंने हिन्द महासागर के व्यापार पर अपनी मजबूत पकड़ बना ली थी। ग्याहरवी-बाहरवी शताब्दी में कुछ बड़े राजपूतराज्यों जैसे - चौहान, चालुक्य, परमार एवं चन्देल राज्यआदि की स्थापना हुई, जिन्होंने वाणिज्य व्यापार को प्रोत्साहन दिया। परमार भोज की व्यापारिक वाणिज्य में गहरी रूचि का प्रमाण उसकी कृति **'युक्तिकल्पतरू'**है, जिसमें विभिन्न प्रकार के व्यापारिक जहाजों का विवरण मिलता है।

11.5.2.1.1 आयात- निर्यात की वस्तुएं

राजपूत काल में कामरूप तथा तिब्बत के बीच 35 घाटियों से होकर व्यापार होता था। हाथी दांत जंजीबार से आयात होता था। चीन से भारत को आयातित सामग्री में रेशम, चीनी मिट्टी के बर्तन, जानवरों की खाल, सिन्दूर फल (सतालु व नाशपती), कपूर, लाह पारद, स्वर्ण, रजत वताम्र धातु प्रमुख थे।भारत से चीन को निर्यातित वस्तुओं में -इत्र, घोड़े, गेण्डे के सींग, बहुमूल्य काष्ठ (चन्दर, घारू, सपन आदि), गरम मसाले, हाथीदाँत आदि प्रमुख थे। 13वीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय वस्तु चीन को निर्यात की जाने वाली सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामग्री बन चुकी थी। अरब लेखकों के अनुसार बंगाल में निर्यातित गेण्डे के सींग से बहुमूल्य करधनी बनाई जाती थी जो 2000 से 4000 दीनार में बिकती थी।हालांकि भारत स्वयं रेशमी वस्त्रों का बड़ा उत्पादक था, लेकिन उसकी गुणवत्ता चीनी रेशमी वस्त्र की अपेक्षा काफी कम थी, इसलिए चीनी रेशम की मांगभारत में बनी रही। **मार्कोपोलो**अनेक भारतीय जहाजों का उल्लेख करता है, जो माल लेकर चीन के फूचो बन्दरगाह पर उतरते थे। भारत से मोटे कपड़े, शक्कर, अदरक भी चीन भेजे जाते थे। बदले में ढेर सारी स्वर्ण मुद्राएं भारत आती थी, जिसे रोकने के लिए 1296 ई. में चीन ने मालाबार तथा क्विलोन के साथ अपना व्यापार प्रतिबन्धित कर दिया।

अलबरूनी ने थानेश्वर में चक्रस्वामिन की आदमकद ताम्रप्रतिमा का उल्लेख किया है। ताम्बा-फारस, खेतड़ी, छोरा नागपुर तथा ढाका की खानों से प्राप्त होता था। कांस्य मूर्तियों के लिए चोल तथा बंगाल के पाल राज्य प्रसिद्ध थे। इब्न हौकल के अनुसार सिन्ध के देवल नगर तलवारों के लिए प्रसिद्ध था। **'उत्बी'**मथुरा की लोहे की ढली हुई छड़ों तथा शाही सैनिकों के पास स्टील से बने अस्त्र-शस्त्रों का उल्लेख करता है। परमार राजा**भोज** ने धारा नगरी में 50 फीट ऊंचा लौह स्तम्भ बनवाया था।

11.5.2.2 आंतरिक व्यापार

रणवीर चक्रवर्ती ने पूर्व मध्यकालीन भारत के व्यापार में **'मण्डपी'**की महत्वपूर्ण भूमिका पर प्रकाश डाला है। **'हट्ट'**या **'हट्टिका'** क्रय-विक्रय के लिए छोटे व्यापार या मण्डी को कहते थे। बड़े नगरों के वाणिज्य केन्द्र या मण्डी को **'पिण्ढा'** या **'पट्टन'**कहते थे। **'मण्डपी'** या **'मण्डपिका'**इन दोनों के बीच के स्थानीय बाजार तथा चुंगीगृह को कहा जाता था । इनका निकटस्थ गांवों से सम्बन्ध था तथा ये विशेष रूप से अनाजों तथा व्यावसायिक मंडी का कार्य करते थे। दक्कन में मण्डपी को **'पेंठ'**तथा सुदूर दक्षिण में **'नगरम'** कहा जाता था। चक्रवर्ती ने शासक वर्ग के लिए कीमती सामग्रियां तथा शाही पशुओं को उपलब्ध करने वाले **'राज श्रेष्ठी'** (शाही व्यापारी)को भी चिन्हित किया है।**सियडोनी अभिलेख** (10वीं शताब्दी) में निम्न बाजारों का उल्लेख मिलता है, जैसे -दोसीहाट्ट (वस्त्र बाजार),प्रसन्नहाट्ट (सोमरस बाजार),कटुसहाट्ट (सड़क के किनारे का बाजार),महट्टाकहाट्ट (मुख्य बाजार) इत्यादि |

यशतिलकचंपु नामक ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि इस समय व्यावसायिक मेले भी आयोजित किये जाते थे। **नैषधचरित्त ग्रन्थ** में व्यापारियों द्वारा आवाज लगाकर अपनी वस्तु को बाजार या मेले में बेचने का उल्लेख मिलता है।

11.5.3 व्यापारिक मार्ग

इस काल में कन्नौज उत्तरी भारत का सबसे बड़ा महानगर था। यहां से विभिन्न मार्ग देश के अन्य नगरों को जोड़ते थे। इनमें से 4 प्रमुख हैं जिनका उल्लेख **अलबरूनी** ने किया है-

1. कन्नौज से प्रयाग-ताम्रलिप्ति-कलिंग-कांची तक।

2. कन्नौज से पानीपत-कटक-काबुल-गजनी तक।

3. कन्नौज से कामरूप-नेपाल-तिब्बत तक।

4. कन्नौज से राजोरी-बयाना-मारवाड़-कराची तक।

इन स्थल मार्गों के अतिरिक्त जल मार्ग भी थे। नदियों द्वारा व्यापार अधिक सुरक्षित माना जाता था।

11.5.4 व्यापारिक समूह

चालुक्य शासकों के प्रशासन में व्यापारियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। चालुक्य शासक **कुमारपाल** ने संम्भवतः वणिकों से मधुर सम्बन्ध बनाये रखने के उद्देश्य से ही जैन धर्म को शासकीय संरक्षण दिया। चालुक्यों के अधीन व्यापारियों की नियुक्ति '**महामात्य**' तथा '**दण्डाधिपति**' जैसे पदों पर हुई। **जिनेश्वर सूरि** कृत**'षट्स्थानक प्रकरण'** जैसे जैन ग्रन्थों में जैन व्यापारियों के लिए **'नैतिक आचार संहिता'**की प्रस्तावना की गई है। गुजरात के जैन व्यवसायी श्रेष्ठ गन्थों के रचनाकार भी थे। **'धनुधक'**नामक व्यापारी के पुत्र **'हेमचन्द्र'** की रचनाओं में वणिक वर्ग को **'राजा का कोष'**कहा गया है।

इस समयकाल के स्रोतों में व्यापारी के लिए **'व्यवहारक'** शब्द मिलता है। इस समय मुख्यतः तीन प्रकार के व्यापारी वर्ग तीन समूहों में बंटे थे- पहला**'प्रस्तारिक'**जो सोना, चाँदी, ताँबा आदि खनिज पदार्थों का व्यापार करते थे, दूसरे **'सांस्थानिक'** जो गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि पशुओं का व्यापार करते थे और **तीसरे 'कठिनन्तिक'**जो बाँस, चमड़ा, लाख आदि वस्तुएँ बेचते थे। व्यापार के निमित्त वस्तुओं की बिक्री की बात पक्की की जाती थी, जिसे उस समयकाल में **'सत्याकरोति (साई)** कहा जाता था। वस्त्रादि वस्तुओं के निर्माण में जो लागत लगती थी वह उनका **'मूल्य'**कहलाती थी तथा उससे जो अतिरिक्त द्रव्य प्राप्त होता था, उसे **'लाभ'**कहते थे। **कुवलयमाला**ग्रन्थमें उत्तर तथा दक्षिण के व्यापारियों के आपस में मिलने का उल्लेख है। साथ ही इसमें उत्तरापथ

से घोड़े खरीदे जाने का विवरण भी है। **पेहोवा अभिलेख** में देश के विभिन्न भागों से आने वाले घोड़ों के व्यापारियों की गोष्ठी का उल्लेख है। **आहड़ अभिलेख (953 ई.)** में वर्णित है कि वहां मध्यप्रदेश, लाट, कर्नाट, टक्क (पंजाब) से व्यापारी आकर सम्मेलन करते थे। इसमें **साहण** नामक क्षत्रिय व्यापारी का उल्लेख है।

इस समयकाल में व्यापार से जुड़े अनेक विदेशी समुदायों का भारत में स्थानान्तरण भी हुआ। प्रारम्भिक स्थानांतरण अरब तथा ईरानी व्यापारियों का हुआ जो कोंकण, गुजरात तथा मालाबार तटीय क्षेत्रों में बस गये। 875 ई. के अभिलेख में मदुरै के राजा द्वारा अरबों को आश्रय देने का वर्णन है। यह कोरोमण्डल तट पर अरबों के बसने का प्राचीनतम अभिलेखीय साक्ष्य है | खम्भात, प्रभासपट्टन (सोमनाथ), जूनागढ़ तथा अनहिलवाड़ा के लेखों से ज्ञात होता है क अरब व्यापारियों तथा जहाजों के मालिक 13वीं शताब्दी तक इन हिस्सों में बस चुके थे। इसके साथ ही शिलाहार वंशी राजाओं ने पारसी धर्म (ईरान के जरथ्रुष्ट अनुयायी) को संरक्षण दिया।

11.5.5 उद्योग

भारतीय तथा विदेशी साक्ष्य पूर्व मध्यकाल की विकसित औद्योगिक गतिविधियों पर प्रचूर प्रकाश डालते हैं। **मेधातिथि** से प्रकट होता है कि उद्योग धंधे प्रायः वैश्यों के हाथों में केन्द्रित थे। हालांकि इस काल के स्मृतिकारों ने शिल्प व उद्योग को शूद्रों के लिए भी आवश्यक व्यवसाय माना है।

11.5.4.1 वस्त्र उद्योग

मानसोल्लास के अनुसार 12वीं शताब्दी में मूलस्थान (मुल्तान), अन्हिलवाड़ (गुजरात) तथा कलिंग वस्त्रोद्योग के केन्द्र थे। अपरान्त, मालवा, काशी, बंगाल तथा मदुरा भी वस्त्र उद्योग के केन्द्र थे। **शान्ति समुच्चय** (7वीं सदी रचना) के अनुसार वाराणसी (काशी) श्रेष्ठ रेशम के लिए प्रसिद्ध था। अरब यात्री **सुलेमान** ने बंगाल की मलमल के बारे में लिखा है कि यह इतनी बारीक होती है कि अंगूठी के बीच से पूरा थान निकल जाये। भड़ौच के बने वस्त्र **'वरोज'**तथा खम्बात के बन वस्त्र **'खम्बायात'**कहलाते थे। खम्बात का एक अन्य प्रसिद्ध वस्त्र **'बुकरम'**विदेशों में निर्यात होता था। **'मध्य देश'**चुनरी के लिये प्रसिद्ध था।

11.5.4.2 धातु उद्योग

ताँबे, काँसे और पीतल के बर्तन बनाए जाते थे । इस काल केअभिलेखों में लौहकार के अतिरिक्त कांसार (कांस्यकार) तथा पीतलकार का उल्लेख आया है। ताँबा प्रायः सिक्के बनाने और पूजा के बर्तन बनाने के लिए उपयोग में लाया जाता था । काँसा, बर्तन बनाने के अतिरिक्त मूर्तियाँ बनाने के काम में भी आता था। बंगाल और चोल राज्य से इस काल की अनेक काँसे की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मुसलमान लेखकों के अनुसार ताँबा थाना तथा देवल में फारम से आता था । परंतु खेतड़ी, छोटा नागपुर तथा डाका में ताँबे की खानें थीं और यहाँ से ताँबा प्राप्त

किया जाता रहा होगा। सोना और चाँदी मंदिरों की मूर्तियों, पूजा के बर्तन तथा आभूषणों के लिए उपयोग में लाया जाता था। सोमनाथ के मंदिर सेमहमूद गजनवी अनेक सोने-चाँदी की मूतियाँ और मंदिर का विशाल खजाना ले गया था।

केशवसेन के भटेरा अभिलेख में हाथीदाँत का काम करने वालों का उल्लेख है। केशव सेन के ही दूसरे अभिलेख से ज्ञात होता है कि पालकी के डंडे हाथीदाँत के बने हुए होते थे |**अल इश्तकरी** ने मुल्तान में सूर्य मंदिर के पास हाथीदाँत का काम करने वालों की वस्ती का उल्लेख किया है। **अलमसूदी** के अनुसार हाथीदाँत का आयात जंजीबार से होता था। यह देवल तथा पश्चिमी भारत के लिए उचित जान पड़ता है कितु बंगाल में हाथीदाँत वहीं की उपज थी। कुछ चीनी वृत्तांतों में बंगाल से चीन जाने वाली निर्यात वस्तुओं में हाथीदांत का भी उल्लेख है।

11.5.6 मुद्रा

गुप्त साम्राज्य के पतन के लगभग चार शताब्दियों बाद सर्वप्रथम कलचुरी शासक **गांगेयदेव (1019ई-1040ई)** ने पुनः स्वर्ण सिक्कों का प्रचलन किया।कलचुरी तथा चन्देल सिक्कों पर लक्ष्मी की आकृति मिलती हैं। गुहिलों तथा चौहानों ने **'गधैया प्रकार'**के सिक्के जारी किये। गहड़वाल शासक **मदनपाल** के **'इम्म'**नामक सिक्के मिलते हैं। **सियडोनी अभिलेख** में मध्य दसवीं सदी ई. मेंअनेक प्रकार के **द्रम्भों** का उल्लेख हुआ है।

7वीं से 12वीं शताब्दी के मध्य **'गदहिया/गधैया सिक्कों'**के ढेर, पश्चिमी भारत के कई हिस्सों से प्राप्त हुए है, जो संकेत करते हैं कि मुद्रा का प्रयोग विनिमय में प्रचलित था।साधारण लेन-देन और व्यापार कौड़ियों के माध्यम से होताथा, जिन्हें प्रतीहार अभिलेखों में **'कपर्दक'** कहा गया है। लखनऊ के पास भौन्द्री गाँव में जमीन में गढ़ी हुई एक निधि मिली है, जिसमें प्रतीहारों के सिक्कों के अतिरिक्त 9834 कौड़ियाँ हैं। विदेशी यात्रियों ने दैनिक लेन-देन में कौड़ियों के उपयोग का उल्लेख किया है। इसके साथ ही इस समय काल में बड़े पैमाने पर किए जाने वाले व्यापार में **'हुण्डी'**अथवा **'विनिमय पत्रों'** का भी प्रयोग हो रहा था, जिसमें मुद्रा की आवश्यकता नही थी।

11.5.7कर प्रणाली

'तरशुल्क'राज्य की आय का महत्वपूर्ण साधन था। पाल अभिलेखों में तरशुल्क लेने वाले अधिकारी को **'तरिक'** कहा जाता है। **'नौभाटकार'**नौकाओं द्वारा यात्रियों तथा सामान को ले जाने के बदले वसूला जाने वाला भाड़ा था। गहड़वाल लेखों में **'तुरुष्क दण्ड'**नामक कर का विवरण मिलता है जो मुस्लिम व्यापारियों से वसूला जाता था। फुटकर सामानों की बिक्री करने वाले व्यापारियों से **'प्रवणिकर'**वसूला जाता था।

11.6 राजपूत कालीन सामाजिक व्यवस्था-

राजपूत काल की सामाजिक संरचना पर दृष्टिपात करने पर निम्न विशेषताऐं दिखायीं देती हैं:-

11.6.1 जातियों से उपजातियों का विकास

जातियों की बहुलता इस काल की सामाजिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अभिलक्षण थी उदाहरण के लिए, विदेशी यात्रियों ने भी जातियों की बहुलता पर दृष्टिपात किया है। **इब्न खुर्दादब** ने 7 जातियों का जिक्र किया है। **कल्हण** 64 जातियों का उल्लेख करता है। वहीं **अलबरूनी** 4 वर्ण एवं 8 अंत्यज जातियों का विवरण देता है। जातियों की बहुलता का एक कारण था- कृषि अर्थव्यवस्था के प्रसार के साथ जनजातियों का जाति के रूप में ढलना तथा इसका दूसरा कारण था-कुछ पेशेवर समूहों का जाति के रूप में ढल जाना।

11.6.2. ब्राह्मणवादी विशेषाधिकारों पर बल

राजपूतों की उत्पत्ति मिश्रित तत्वों का परिणाम थी। अतः अपने सामाजिक दर्जे को ऊंचा उठाने के लिए ब्राह्मणों के सहयोग की जरूरत थी। यही वजह है कि इस काल में ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों में वृद्धि हुई। इस काल में स्मृतिकारों ने यह घोषित किया कि **'जहां मुंज घास पैदा नहीं होती हो और काले हिरण विचरण नहीं करते हो वहां द्विजों को यात्रा नहीं करनी चाहिए'।** इस काल के एक विदेशी यात्री **अलबरूनी** ने भी ब्राह्मणों की कट्टरता का जिक्र किया है।

11.6.3. वैश्यों की सामाजिक दशा में गिरावट

वैश्यों की सामाजिक दशा में गिरावट आई तथा उनकी स्थिति शूद्रों के समकक्ष हो गई। **अलबरूनी** भी कहता है- वैश्य और शूद्र नगर, किले तथा सराय में एक साथ निवास करते हैं किंतु उनमें किसी को भी वेद पढ़ने तथा वेदों का श्रवण करने का अधिकार नहीं है।

11.6.4. महिलाओं की दशा

इस काल में महिलाओं की दशा में गिरावट मानी जा सकती है। यद्यपि उन्हें कुछ अधिकार भी प्राप्त हुए उदाहरण के लिए, उनकी संपत्ति के अधिकार में वृद्धि हुई और फिर उन्हें स्वयंवर में वर चुनने का अधिकार दिया गया किंतु व्यवहारिक रूप में उनकी दशा पहले की तुलना में खराब हुई। बाल विवाह तथा सती प्रथा जैसी बुराईयाँ पहले से ही प्रचलित थीं अब जौहरप्रथा जैसी कुरीति भी आरंभ हो गयी। इसके अतिरिक्त इस काल में पर्दा प्रथा को भी विशेष प्रोत्साहन मिला।

11.6.5. अस्पृश्य जातियों की संख्या में विस्तार

इस काल में अस्पृश्यजातियों की संख्या में वृद्धि हुई। इसके मुख्यतः दो कारण हो सकते हैं- प्रथम, नवीन तत्वों का जातिव्यवस्था में शामिल होना दूसरा, कुछ विशेष प्रकार के शिल्पों को हीन दृष्टि से देखा जाना। इस तरह कुछ खास शिल्पों से जुड़े हुए लोग अस्पृश्य की श्रेणी में आ गए। इस प्रकार अस्पृश्यजातियों की संख्या में विस्तार हुआ।

इस तरह हम देखतें हैं कि राजपूत कालीन भारतीय समाज एक विभाजित समाज था। समाज में वर्ण और जाति के विभिन्न सोपान निर्धारित थे।

11.7 राजपूत कालीन संस्कृति

1.7.1 साहित्य

राजपूत सम्राट साहित्य और कला के विशेष संरक्षक थे। इस काल में मुंज और भोज जैसे सम्राट् भी यशस्वी लेखक हुए। राजकीय संरक्षण में काव्य, नाटक, इतिहास, कानून, राजनीति, ज्योतिष तथा चिकित्सा आदि पर प्रसिद्ध ग्रन्थों का लेखन कार्य हुआ। इस समय के काव्य-ग्रन्थों में **भट्टि** का **'रावण वध'**, माघ का **'शिशुपाल वध'**, **राजेश्वर** का **'काव्य मीमांसा'**, **जयदेव** का **'गीतगोविन्द'**उल्लेखनीय हैं। नाटककारों में **भवभूति** का स्थान अद्वितीय है। उसने **'उत्तररामचरित'**, **'महावीर-चरित'**और **'मालतीमाधव'**नामक तीन नाटकों की रचना की। दूसरे नाटककारों में **'कर्पूरमंजरी'** के लेखक**'राजशेखर'**, **'वेणीसंहार'** के **भद्रनारायण**, **'अनर्घराघव'**के **मुरारि** प्रमुख थे। **'प्रबोध चद्रोदय'** का रचयिता **कृष्ण मिश्र** भी इसी काल का नाटककार था। इतिहास के ग्रन्थों में **कल्हण** की **'राजतरंगिणी'**, **विल्हण** का **'विक्रमांकचरित'**, **पद्मगुप्त परिमल** का **'नवसाहसांकचरित'**और **सन्ध्याकरनन्दी** का **'रामचरित'** विशेष उल्लेखनीय हैं। इन इतिहासकारों के अतिरिक्त **'पृथ्वीराजविजय'**केलेखक **जयानक** और **'कुमारपालचरित'**के लेखक **हेमचन्द** भी उल्लेखनीय हैं। कानून पर अनेक ग्रन्थों का लेखन हुआ जिनमें **विज्ञानेश्वर** की **'मिताक्षरा'**, **जीमूतवाहन** का**'दायभाग'** और **लक्ष्मीधर** का **'स्मृतिकल्पतरु'**आदि उल्लेखनीय हैं। इस युग की **'शुक्रनीति'**राजनीति पर प्रसिद्ध रचना है। गणित और ज्योतिष पर **भास्कराचार्य** द्वारा लिखित **'सिद्धान्तशिरोमणि'** एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। चिकित्सा पर राजा **भोज** द्वारा रचित **'आयुर्वेद सर्वस्व'**विशेष उल्लेखनीय है। उपरोक्त विषयों के अतिरिक्त संगीतशास्त्र पर **सांगदेव** का **'संगीतरत्नाकर'**और **कामसूत्र** पर **कोक पण्डित** का **'कोकशास्त्र'** उल्लेखनीय है। **चंदबरदाई** का **'पृथ्वीराजरासो'** इसी काल के अन्तिम दिनों में लिखा गया था।

11.7.2 शिक्षा

इस काल में आचार्यों के आश्रमों तथा बौद्ध-विहारों में विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। इस काल का मुख्य शिक्षाकेन्द्र **नालन्दा विश्वविद्यालय** था। इसके अतिरिक्त पूर्वी बिहार में **विक्रमशिला**, पूर्वी बंगाल में **विक्रमपुर**, उत्तरी बंगाल में **जगधल**, पटना जिले में **ओदंतपुरी** भी शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे।

1 1.7.3 कला

1 1.7.3.1 वास्तुकला

राजपूत काल में कला के क्षेत्र में भी विशेष प्रगतिहुई। मन्दिरों का निर्माण इस काल की प्रमुख देन है। वास्तुकला के तीन उदाहरण राजप्रासाद, दुर्ग तथा मन्दिर आदि उपलब्ध हैं। राजप्रासादों में ग्वालियर का **मानमन्दिर** और **गुर्जरी महल**, उदयपुर में **पिछौला झील** के महल तथा उदयपुर व आमेर के महल विशेष उल्लेखनीय हैं। चित्तौड़, रणथम्भौर, मांडू, जोधपुर तथा ग्वालियर के दुर्ग अपनी निर्माण-शैली में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। मन्दिरों के निर्माण में तीन प्रकार की शिल्प-शैली का प्रयोग हुआ है :

11.7.3.1.1 भारतीय आर्य शैली

उड़ीसा में भुवनेश्वर का 'लिंगराज' मन्दिर, राजस्थान में आबू पर्वत पर निर्मित जैनमन्दिर तथा बुन्देलखण्ड में खजुराहो का 'कन्दारिया' मन्दिर आर्य शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं। खजुराहो में मन्दिरों की संख्या तीस से अधिक है। मन्दिरों में कन्दारिया महादेव मन्दिर सबसे अधिक महत्वपूर्ण है जिसका शिखर30 मीटर ऊँचा है।

11.7.3.1.2 चालुक्य शैली

चालुक्य शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हालेविन्द का होयसलेश्वर का मन्दिर तथा वेलूर का मन्दिर है।

11.7.3.1.3द्रविड़ शैली

इस शैली का प्रचलन सुदूर दक्षिण भारत में था। इसकी विशेषता यह थी कि मूर्ति-प्रकोष्ठ का ऊपरी भाग चौकोर तथा अनेक मंजिल वाला होता था तथा मन्दिर के गुम्बद चिपटे होते थे। इस शैली के उदाहरण मामल्लपुरम् के रथ-मन्दिर, तंजौर का शिव मंदिर, काँची के मन्दिर आदि हैं।

11.7.3.2 मूर्तिकला

इस काल में विभिन्न देवताओं की मूर्तियों तथा बौद्ध प्रतिमाओं का निर्माण हुआ। 30 मीटर ऊँची चट्टानों पर दुर्गा-महिषासुर युद्ध तथा रावण द्वारा कैलाश पर्वत के उठाने के दृश्य अंकित किये गये। मन्दिरों की दीवारों व उनके चबूतरों पर भी अनेक प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गईं। कोणार्क और पुरी के मन्दिरों की दीवारों पर राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ा करते हुई प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं।

11.7.3.3 चित्रकला

राजपूत काल में मूर्ति-कला के साथ ही चित्रकला के क्षेत्र में भी उन्नति हुई। राजप्रासादों और मन्दिरों को अलंकृत करने के लिये पशु-पक्षी, वृक्ष, लता आदि की आकृतियाँ चित्रित की गईं।महमूद गजनवी का सचिव **अल्तुगबी** मथुरा के मंदिरों को देखकर चकित रह गया था। वह लिखता है, **'नगर के मध्य में एक मन्दिर था जो**

अन्य मन्दिरों से बड़ा था, जिसका न तो वर्णन किया जा सकता है और न चित्र खींचा जा सकता है।'सुल्तान महमूद गजनवीभी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करता है, **"यदि कोई इसके समान दूसरी इमारत बनवाना चाहे तो वह बिना सौ सहस्र लाख दिनार व्यय किये इस कार्य को करने में सफल न होगा और इसमें दो सौ वर्ष लग जायेंगे, यद्यपि इसको करने के लिये अत्यन्त अनुभवी और योग्य श्रमिक क्यों न कार्य करें।" अलबरूनी** ने भी राजपूतकालीन मन्दिरों के विषय में लिखा है**, "हमारे देश के लोग जब उन्हें देखते हैं तो वे उन पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। उनका निर्माण करना तो दूर रहा, वह उनका वर्णन करने में भी असमर्थ है।"**

11.8 सारांश

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि राजपूतों का उद्भव एक जटिल प्रक्रिया का परिणाम था। विश्व के अन्य क्षेत्रों में स्थापित योद्धावर्ग की ही तरह भारत में राजपूत भी योद्धावर्ग के रूप में संगठित हुए तथा इस संगठन में राजा के पुत्र से लेकर एक सामान्य जमींदार तक सभी शामिल हुए।कर्नल टॉड तथा कनिंघम जैसे विद्वानों ने इनकी विदेशी उत्पत्ति दिखाने का प्रयास किया तथा उन्हें क्रमशः शकों एवं कुषाणों का वंशज माना। दूसरी तरफ, चन्दबरदाई जैसे लेखक ने 'अग्निकुल' की अवधारणा पर बल देकर इनकी देशी उत्पत्ति दिखाने का प्रयास किया। किंतु सूक्ष्म परीक्षण के पश्चात ऐसा ज्ञात होता है कि एक जाति समूह के रूप में राजपूत देशी उत्पत्ति सिद्ध करने का भिन्न तत्वों का मिश्रण थे।

राजपूत काल मेंउत्तर भारत की राजनीतिक पद्धति बहुराज्य व्यवस्था पर आधारित रही। राजनीतिक-प्रशासनिक दृष्टि से इस काल की राजव्यवस्था एक नयी दिशा की ओर उन्मुख थी। इनमें विकेन्द्रीकरण के तत्वों की प्रधानता थी। अतः इसकी पहचान सामंती व्यवस्था के रूप में की गई तथा बहुराज्य व्यवस्था को राज्यशक्ति के उर्ध्वाधर (लम्बवत्) विभाजन का परिणाम माना गया। किंतु इस संदर्भ में एक दूसरी अवधारणा भी उभरकर आयी है। इसे **'समन्वित राज्य'**की अवधारणा के नाम से जाना जाता है। इसमें राज्यों की बहुलता को क्षैतिज विस्तार के रूप में देखा गया तथा इसे विघटन की जगह संघटन का परिणाम माना गया। इसलिए राजपूत राज्यों के अध्ययन में इस नवीन दृष्टिकोण को समझने की भी जरूरत है। वस्तुतः इतने बड़े क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन महज किसी एक प्रक्रिया का परिणाम नहीं हो सकते। किंतु चाहे कारण जो भी हो बहुराज्य व्यवस्था इस युग की एक विशेषता रही।

11.9 तकनीकी शब्दावली

'ब्रह्मक्षत्र'- अपने वंश की वैधता को सिद्ध करने के लिए किसी राजपूत द्वारा अपनी वंशावली में अपनाई गयी सामाजिक स्थिति |

हुण्डीअथवा **विनिमय पत्र-**एक प्रकार का साधन जिसकी सहायता से व्यापारियों को पैसों के लेन-देन में सहूलियत प्राप्त होती थी |

महामात्य– राजा के अधीन मंत्रियों का प्रधान |

11.10 स्वमूल्यांकित प्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर दीजिए –

1.यज्ञकुण्ड से उत्पन्न राजवंश में कौन सा राजवंश सम्मिलित नहीं है-

(अ).परमार (ब).चालुक्य

(स).प्रतिहार (द). राष्ट्रकूट

2.'कृत्यकल्पतरु' ग्रन्थ की रचना किसने की थी?

(अ).लक्ष्मीधर (ब). कल्हण

(स). राजशेखर (द).चंदबरदाई

3.अजमेर नगर की स्थापना किस शासक ने की?

(अ).पृथ्वीराज चौहान (ब).अजयराज

(स). जयचंद (द).मूलराज प्रथम

4.'सरस्वती कण्टाभरण'ग्रन्थ किस शासक की रचना है-

(अ).भीम प्रथम (ब).मुंज

(स). भोज (द).मदनवर्मन

11.11 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

1. (द), 2. (अ), 3. (ब), 4. (स).

11.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. द्विजेन्द्रनारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास.

2. वर्मा, हरीशचंद्र., मध्यकालीन भारत (भाग-1),

3. शर्मा, रामशरण., प्रारम्भिक भारत का परिचय, ओरिएन्ट ब्लैकस्वान प्रा. ली., नई दिल्ली, 2010.

4. महाजन, बी.डी., प्राचीन भारत एक रुपरेखा, पीपुल्स पब्लिसिंग हॉउस, नई दिल्ली, 2005.

5.श्रीवास्तव, के०सी०., प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति.

6. पाण्डेय,वी. सी., प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास.

7. ओझा,गौरीशंकर., प्राचीन राजपूताने का इतिहास.

8. कर्नल टॉड, राजस्थान का इतिहास, भाग 1, भाग-2.

9. चक्रवर्ती, रणवीर., ट्रेड एंड ट्रेडर्स इन अर्ली इंडियन सोसाइटी, 2002, नई दिल्ली.

10. चटोपाध्याय,बी. डी.,द मेकिंग ऑफ़ अर्ली मेडिवल इंडिया, 1997, नई दिल्ली.

11. कुल्के,हरमन., द स्टेट इन इंडिया 1000- 1700.

11.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. राजपूतों की उत्पत्ति से सम्बंधित विभिन्न मतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए |

2. राजपूत कालीन भारत कीराजनीतिक स्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

3. राजपूत कालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई बारह - अरब आक्रमण के समय भारत की स्थिति तथा अरबों के आक्रमणों का प्रभाव

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 सिन्ध राज्य की तत्कालीन स्थिति

12.3.1 मुहम्मद-बिन-कासिम का आक्रमण

12.3.2 सिन्ध तथा मुल्तान पर अरबों की विजय (711-713 ई0)

12.3.3 आक्रमण के कारण

12.4 अरब आक्रमण का प्रभाव

12.4.1 राजनीतिक प्रभाव

12.4.2 सांस्कृतिक प्रभाव

12.4.3 धार्मिक प्रभाव

12.5 साराशं

12.6 पारिभाषिक शब्दावली

12.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

12.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

12.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

12.10 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

भारत की शस्यश्यामला धरती ने भारत को विश्व के उन देशों में स्थान दिया है जहां प्रकृति मनुष्य के लिए वरदान साबित हुई और अपनी गोद से वे सभी चीजें यहां के निवासियों को प्रदान की जो किसी देश को आर्थिक

सुसम्पन्नता प्रदान करती हैं। प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन से आपको अब यह जानकारी है कि इस देश में अति प्राचीन काल से आर्थिक सम्पन्नता के कारण बड़े-बड़े साम्राज्यों का उदय हुआ और प्राचीन काल से ही यहां वाह्य आक्रमण होते रहे,कुछ आक्रांता लूटपाट कर वापस लौट गये जबकि कुछ सदैव के लिए यहीं बस गये। इसी कारण कहा भी गया है कि 'कांरवां आते रहे और हिन्दोस्तां बसता रहा'।

भारत की सुसम्पन्नता वाह्य आक्रमणकारियों के लिए संभवतः सबसे बड़ा लालच था। भारतीय इतिहास के प्राचीन काल खण्ड की समाप्ति के साथ ही हम देखते हैं कि विश्व में भी अनेक परिवर्तन हो रहे थे, विशेषकर 622 ई0 में अरब देश में इस्लाम धर्म का जन्म हुआ था। इस नवीन धर्म के नये-नये अनुनायियों में इस धर्म को विश्व के सभी स्थानों में प्रसारित करने का अत्यधिक जोश था।

नवीन इस्लाम धर्म को प्रतिष्ठित करने के लिए इसके प्रचारकों ने विश्व के विभिन्न देशों में अभियान किये, धर्म के प्रचार के लिए इन्होंने बल का प्रयोग भी किया और जबर्दस्ती धर्म परिवर्तन को भी इन्होंने अपनाया। भारत भी इससे अछूता नहीं रहा। इन्हीं परिस्थितियों में भारत में अरब आक्रमण हुए।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको को भारत में अरब आक्रमण इन आक्रमणों का भारत में प्रभाव से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

- अरब आक्रमण की पूर्व संध्या में भारत की राजनीतिक स्थिति

- अरब आक्रमणों का भारत पर प्रभाव

12.3 सिन्ध राज्य की तत्कालीन स्थिति

मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के समय भारत में विकेन्द्रीयकरण की भावना तेजी से बढ़ रही थी। इस काल में सिन्ध एक स्वतन्त्र राज्य था, जिसकी स्थापना चच ने की थी। मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के समय सिन्ध में दाहिर शासन कर रहा था। सिन्धु राज्य चार प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्तीय शासकों को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। राजा दाहिर में इतनी शक्ति तथा सामर्थ्य नहीं थी कि वह शक्तिशाली तथा सुसंगठित मुसलमानी सेना का सामना करने में सफल होता। उस समय सिन्ध की जनसंख्या केवल कुछ लाख ही थी। इसके साथ राजा दाहिर को जनता का भी पूर्ण सहयोग तथा समर्थन भी प्राप्त नहीं था। समस्त जनता विभिन्न वर्गों में विभाजित थी और उसमें एकता का सर्वथा अभाव था।

अरबवासियों ने खलीफा उमर के शासन काल में भारत के पश्चिमी तट पर आक्रमण करने तथा लूटपाट के लिये एक सेना 636-637 ई0 में भेजी, किन्तु इस सेना के समक्ष अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुईं और उसे सफलता

के स्थान पर अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ा था। अतः खलीफा उमर के शासन काल में पुनः भारत पर आक्रमण करने का विचार त्याग दिया गया। सन् 642-644 ई0 में उमैद खलीफाओं ने एक सेना द्वारा भारत पर पुनः आक्रमण किया। उस सेना ने किरमन को जीता और बाद में सिस्तान को अपने अधिकार में कर मकरान की ओर कूच किया। सिन्ध तथा मकरान के राजाओं ने सम्मिलित रूप से अरब सेना का विरोध किया, किन्तु उनको विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। विजयी सेनापति अपने अभियान को आगे बढाना चाहता था, लेकिन उसे खलीफा की अनुमति नहीं मिली और उसको अपना विचार स्थगित करना पड़ा।

12.3.1 मुहम्मद-बिन-कासिम का आक्रमण

अरब भारत में इस्लाम धर्म का प्रसार तथा अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए भारत विजय करने के लिये बड़े लालायित थे। वे भारत पर आक्रमण करने के अवसर की खोज में थे और उनको शीध्र ही एक स्वर्ण अवसर भी मिल गया। इतिहासकारों के अनुसार इस आक्रमण का एक कारण यह था कि सिन्ध के सामुद्रिक डाकुओं ने देवल के किनारे थट्टा नामक स्थान के पास अरबी जहाजों को लूट लिया था।एक लेखक के अनुसार ईसा की आठवीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ अरब व्यापारियों तथा वहॉ के मुसलमान निवासियों की सिंहल (लंका) द्वीप में मृत्यु हुई। ये व्यापारी ईराक के निवासी थे। सिंहल द्वीप के राजा ने इन मृतक व्यक्तियों की अनाथ कन्याओं आदि को एक जहाज में ईराक के मुसलमान गर्वनर हज्जाम के पास भेजा। जब यह जहाज भारतीय समुद्रतट के समीप से ईराक की ओर प्रस्थान कर रहा था तो समुद्री डाकुओं ने जहाज पर छापा मारा और अनाथ कन्याओं को छीन लिया तथा जहाज को भी लूटा।एक अन्य लेखक का कथन है कि लंका के राजा ने जिसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था, खलीफा को इन जहाजों में बहुत सा धन भेजा था जिसको सिन्ध के सामुद्रिक डाकुओं ने लूट लिया था। तीसरे लेखक के अनुसार खलीफा ने दासियों तथा कुछ अन्य वस्तुओं के क्रय करने के उद्देश्य से अपने कुछ सेवकों को भारत भेजा था। जब इन्हें जहाजों में ले जाया जा रहा था तो उस जहाज को सामुद्रिक डाकुओं ने लूट लिया और जब यह समाचार हज्जाम ने सुना तो उसने तुरन्त काठियावाड़ के हिन्दू राजा दाहिर से उन कन्याओं की मांग तथा क्षतिपूर्ति की मांग की, किन्तु राजा दाहिर उसकी मांग पूरी न कर सका।

शुरू में खलीफा ने दो सेनायें ओबेदुल्ला तथा बदैल के नेतृत्व में भेजी,किन्तु उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई। अन्त में उसने अपने भतीजे तथा दामाद मुहम्मद-बिन-कासिम को एक विशाल तथा सुसंगठित सेना का नेतृत्व सौंप कर सिन्ध पर आक्रमण के लिये भेज दिया। इस समय मुहम्मद-बिन-कासिम केवल 17 वर्ष का था, किन्तु वह बड़ा वीर तथा साहसी था और प्रत्येक को उससे बड़ी आशायें थीं। इस सम्बन्ध में डाक्टर ईश्वरी प्रसाद कहते हैं कि ‘‘ एक ज्योतिषी ने मुहम्मद बिन कासिम को ही इस कार्य के लिये सबसे अधिक भाग्यशाली घोषित किया था।‘‘

12.3.2 सिन्ध तथा मुल्तान पर अरबों की विजय (711-713 ई0)

सिन्ध राज्य उत्तर में काश्मीर , पूरब में कन्नौज तथा दक्षिण में समुद्र तक फैला हुआ था। इसकी उत्तर-पश्चिमी सीमा में वर्तमान बलोचिस्तान का बहुत बड़ा भाग तथा मकरान का समुद्री तट सम्मिलित था। इसकी राजधानी अलोर (वर्तमान रोहेरा) थीं। उस काल में सिन्ध राज्य चार प्रान्तों में बंटा था और प्रत्येक प्रान्त एक अर्द्ध स्वतन्त्र गवर्नर के अधिकार में था। राजा के अधिकार में केवल राज्य का केन्द्रीय भाग ही था और प्रान्तों का वास्तविक अधिकार गवर्नरों के हाथ में था। ये गवर्नर सामन्त राजा कहलाते थे। सिन्ध का तत्कालीन राजा शूद्र बतलाया गया है और वह बौद्ध मत को मानता था। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फारस के राजा निमरोज ने सिन्ध पर हमला किया और एक युद्ध में वहॉ का शासक शेरियाज मारा गया। शेरियाज के उपरांत उसका पुत्र सहसी राय द्वितीय सिंहासन पर बैठा किन्तु उसका ब्राहमण मन्त्री चच उसकी हत्या कर स्वयं गद्दी का अपहरण कर लिया। इस अपहर्ता राजा ने सहसी राय द्वितीय की विधवा के साथ विवाह किया और गवर्नरों के विद्रोह को भी शान्त किया, उसने मकरान (वर्तमान बलोचिस्तान) के एक भाग को जीतकर उस प्रदेश के कन्दाविल पर भी अपना अधिकार जमा लिया। चच के बाद उसका भाई चन्द्र गद्दी पर बैठा किन्तु इसकी शीध्र ही मृत्यु हो गयी। इसके बाद चच के पुत्र दुराज तथा चच के ज्येष्ठ पुत्र दाहिर के बीच गद्दी के लिए संघर्ष हुआ। दुराज को पराजित कर दिया गया और देश निकाला दिया गया। सहसी राय द्वितीय की विधवा से उत्पन्न हुए चच के दोनों पुत्र दाहिर और दाहरसियाह ने राज्य को आपस में बांट लिया। कुछ समय उपरांत दाहरसियाह की मृत्यु के बाद सिन्ध का सम्पूर्ण राज्य दाहिर के अधिकार में आ गया परन्तु अरब विजय के समय इस राजनीतिक उथल-पुथल तथा गृह-कलह के कारण देश की दशा बहुत बिगड़ गयी थी। सिन्ध की जनसंख्या बहुत कम थी और उसमें भेदभाव एवं विभाजक तत्व अत्यधिक थे। निम्न श्रेणी की जनता के साथ शासकों का व्यवहार अत्याचारपूर्ण था, और सिन्ध में सामाजिक एकता का अभाव था। राज्य के आर्थिक साधन निर्बल थे और आय भी कम थी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि दाहिर स्वयं अपनी जनता में अप्रिय था क्योंकि उसका पिता राज्य का वास्तविक अधिकारी नहीं था। अतः स्पष्ट है कि ऐसे अलोकप्रिय शासक और विभाजित राज्य को ही उस समय के सबसे बड़े और सबसे अधिक शक्तिशाली साम्राज्य के प्रबल आक्रमण का सामना करना पड़ा।

12.3.3 आक्रमण के कारण

भारत और अरब के बीच दीर्घकाल से व्यापारिक सम्बन्ध चले आ रहे थे और सातवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म के अपनाने से पूर्व भी अरब के साहसिक, व्यापार तथा वाणिज्य के कारण हमारे पश्चिमी समुद्रतट के प्रदेशों में आवागमन करते थे, और स्थानीय जनता द्वारा उनका हार्दिक स्वागत किया जाता था।पश्चिमी समुद्रतटीय क्षेत्रों के राजा तथा प्रजा भौतिक समृद्धि के लिय अत्यन्त उत्सुक थे, अतः ये लोग इन विदेशियों के साथ उदारता का व्यवहार करते थे। अरबों द्वारा इस्लाम धर्म अपनाने पर भी इनके साथ भारतीय जनता और शासक वर्ग के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया था, किन्तु धार्मिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों के कारण अरबों के व्यवहार में अवश्य

परिवर्तन आ गया था। मुहम्मद साहब की शिक्षाओं के कारण अरबों के हृदय में एक नया धार्मिक उत्साह भी भर गया था। यद्यपि अरबों का व्यापारिक दल हमारे देश से पहले की भांति ही व्यापारिक लाभ उठाता रहा था, किन्तु साधारण अरब निवासी के मन में विजय एवं इस्लाम के प्रचार की भावनाऐं उठने लगी थीं। उनका पहला आक्रमण बम्बई के निकट थाना को जीतने के लिए खलीफा उमर के काल में 636 ई0 (15 हिजरी) में हुआ था किंतु उन्हें पराजित कर खदेड़ दिया गया। इसके बाद भड़ौच, सिन्ध में देवल की खाड़ी तथा मकरान तट पर लगातार अरबों के हमले होते रहे क्योंकि वे उस समय सिन्ध के ही एक अंग थे। अनेक कठिनाइयों तथा पराजयों के बावजूद भी अरबों ने जल तथा थल से सिन्ध की सीमाओं पर हमले जारी रखे। उन्होंने बोलन दर्रे के चारों ओर के पहाड़ी प्रदेश को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया, जहॉ जाट रहते थे और पशुपालन कर जीवन बिताते थे। उन्होंने अरबों का वीरता से मुकाबला कर देश की रक्षा की। सन् 659 ई0 में अल हेरिस को कुछ प्रारम्भिक सफलता मिली किन्तु 662 ई0 में यह पराजित कर मार डाला गया। इसके बाद 664 ई0 में अल मुहल्लब ने एक आक्रमण किया किन्तु यह सफल नहीं हो पाया।इसके बाद अब्दुल्ला ने आक्रमण किया जो हार गया और मार डाला गया। सिनान बिन सलामह को क्षणिक विजय अवश्य प्राप्त हुई किन्तु रशीद बिन अमीर को उसी प्रदेश के एक आक्रमण में अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। अल मुधीर नामक एक दूसरे अरब साहसी का भी यही हाल हुआ। परन्तु इन लगातार पराजयों की कुछ भी चिन्ता न कर अरब निरंतर आक्रमण करते रहे। उन्होंने 8वीं सदी के प्रथम दशक में इब्न अल अरीहल के सेनापतित्व में एक भयानक हमला किया गया जिसके परिणामस्वरूप मकरान उसके हाथ में आ गया और अब खास सिन्ध की विजय का द्वार खुल गया। अल हज्जाज नामक इराक के अरब गवर्नर को अपनी उन्नत नीति के कारण खलीफा का समर्थन भी प्राप्त हो गया। उसने सेना का सुदृढ़ संगठन कर दाहिर पर लगातार दो हमले किये किन्तु दोनों बार उनके सेनापति उबैदुल्ला तथा बुदैल पराजित हुए और मौत के घाट उतार दिये गये। हज्जाज इन पराजयों से बहुत दुखी हुआ और उसने अपने चचेरे भाई व दामाद इमाउद्दीन मुहम्मद बिन कासिम को एक विशाल एवं शक्तिशाली सेना के साथ सिन्ध पर आक्रमण करने के लिए भेजा। मुहम्मद बिन कासिम 17 साल का साहसी एवं महत्वाकांक्षी युवक था। शीराज से रवाना होकर वह मकरान पहुॅचा जो उस समय अरबों के अधिकार में था और वहॉ से पंजगुर, आर्मबिल तथा कौबती होता हुआ करॉची के पास देवल आया। उसका अभियान सफल हुआ और 712-13 ई0 में अरबों को सिन्ध पर विजय प्राप्त हुई। सिन्ध निरंतर 75 वर्ष से भी अधिक समय से अरब साम्राज्य का बड़ी बहादुरी से मुकाबला करता रहा किन्तु अन्त में उसे पराजय का मुंह देखना पड़ा।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के आगे सत्य/असत्य लिखिए।

1. मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के समय सिन्ध एक स्वतन्त्र राज्य था
2. सिन्ध के राजा दाहिर को जनता का पूर्ण सहयोग तथा समर्थन प्राप्त नहीं था

3. उमैद खलीफाओं के शासन काल में भारत के पश्चिमी तट पर आक्रमण करने तथा लूटपाट के लिये एक सेना 636-637 ई0 में भेजी गयी थी

4. उस काल में सिन्ध राज्य चार प्रान्तों में बंटा था

5. भारत में आक्रमण के समय मुहम्मद बिन कासिम 27 साल का साहसी एवं महत्वाकांक्षी युवक था।

12.4 अरब आक्रमण का प्रभाव

भारत में अरब आक्रमणों के फलस्वरूप दो विभिन्न धर्म एवं संस्कृति के लोग संपर्क में आये और परस्पर विचारों का आदान प्रदान हुआ, लेकिन हम कह सकते हैं कि उस समय भारतीय संस्कृति अत्यधिक उन्नत थी और अरबों ने इससे पर्याप्त विचार ग्रहण किये, इनका उल्लेख अग्रांकित है-

12.4.1 राजनीतिक प्रभाव

अरब विजय का भारत तथा सिन्ध की राजनीतिक स्थिति पर एक प्रकार से नगण्य प्रभाव पड़ा, क्योंकि उनकी यह विजय क्षणिक थी और मुहम्मद बिन कासिम की मृत्यु के कुछ समय बाद ही अरब सत्ता का भरत से अन्त हो गया और पुनः शासन सत्ता पर भारतीयों का अधिकार स्थापित हो गया। अतः अरब विजय के राजनीतिक प्रभाव के विषय में कहा जा सकता है कि इसका कुछ काल की राजनीतिक अव्यवस्था के अतिरिक्त कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

12.4.2 सांस्कृतिक प्रभाव

अरब विजय का सांस्कृतिक क्षेत्र में बहुत अधिक महत्व है। इस काल में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति इतनी उन्नत थी कि उसके सामने अरब निवासी बिल्कुल असभ्य तथा बर्बर कहे जा सकते थे। अरबवासियों पर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। अरबों ने भारतीय विद्वानों तथा साहित्यकारों का बड़ा आदर किया। भरतीय दर्शन, ज्योतिष, चित्रकारी आदि कलाओं के विशेषज्ञों ने भी मुसलमानों को बहुत आधिक प्रभावित किया। भरतीयों के सम्पर्क में आकर उन्होंने इन सभी विधाओं का ज्ञान प्राप्त किया। खलीफा हारून रशीद ने एक असाध्य रोग की चिकित्सा करने के लिये भारत से एक वैद्य को भी बुलाया था जिसको अपने कार्य में सफलता प्राप्त हुई और जो सुरक्षित स्वदेश वापिस लौट आया। खलीफा हारून रशीद भारतीय साहित्य का प्रेमी था तथा विद्वानों का आदर करता था। उसने अनेक भारतीय विद्वानों को अपनी राजधानी बगदाद में आमन्त्रित किया और उनकी सहायता से विभिन्न शास्त्रों का अनुवाद अरबी भाषा में करवाया, अरबवासियों के द्वारा इस ज्ञान का यूरोप में भी बहुत अधिक प्रचार हुआ। अतः कहा जा सकता है कि अरबवासियों के प्रयत्न के कारण ही भारत की सभ्यता तथा संस्कृति न केवल मध्य एशिया में ही फैली,वरन् यूरोप के विभिन्न देशों को भी प्रभावित करने में सफल हुई। खलीफा मंसूर के शासन काल में भी भारत के बहुत से विद्वान बगदाद गये। अरब भारत से ‘‘ ब्रहम सिद्धान्त‘‘ तथा ‘‘खण्ड खण्डयायक‘‘ नामक ग्रन्थ बगदाद ले गये, जहॉ उसका अरबी में अनुवाद किया गया। अरबवासियों को अंकों का ज्ञान भारतीयों से प्राप्त हुआ। इसी कारण उन्होंने उसका नाम ‘‘हिन्दसा‘‘ रखा। इस

प्रकार यह कहना गलत नहीं होगा कि भारत मध्य काल में अरबों के गुरू पद पर आसीन था। हैवेल नामक इतिहासकार ने भी लिखा है कि ''भारतवर्ष ने अरबों को बहुत सी विद्याओं का ज्ञान करवाया तथा उनके साहित्य और कला को विशेष रूप से प्रभावित किया। बाद में अरबवासियों का भारत से सम्पर्क कम होने लगा और वे यूनान की सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित हुए, किन्तु आरम्भ में उनको सभ्यता की ओर अग्रसर करने का श्रेय भारत को ही प्राप्त है।

12.4.3 धार्मिक प्रभाव

अरबों द्वारा भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार हुआ जो सरलता तथा बन्धुत्व के कारण प्रसिद्ध है तथा एकेश्वरवाद में विश्वास करता है, किन्तु हिन्दुओं को अपनी सभ्यता एवं संस्कृति पर पूर्ण विश्वास था जिसके कारण इस काल में इस्लाम धर्म बहुत ही कम भारतीयों को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हुआ। केवल उन्हीं व्यक्तियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया जो इस धर्म के स्वीकार करने के लिये शक्ति द्वारा बाध्य किये गये थे।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के आगे सत्य/असत्य लिखिए।

1. अरब विजय का भारत तथा सिन्ध की राजनीतिक स्थिति पर भीषण प्रभाव पड़ा
2. खलीफा मंसूर ने एक असाध्य रोग की चिकित्सा करने के लिये भारत से एक वैद्य को भी बुलाया था
3. अरब भारत से '' ब्रहम सिद्धान्त'' तथा ''खण्ड खण्डयायक'' नामक ग्रन्थ बगदाद ले गये
4. अरबवासियों को अंकों का ज्ञान भारतीयों से प्राप्त हुआ

12.5 साराशं

अब आपको यह जानकारी हो गयी है कि मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के समय भारत में विकेन्द्रीयकरण की भावना तेजी से बढ़ रही थी। समस्त जनता विभिन्न वर्गों में विभाजित थी और उसमें एकता का सर्वथा अभाव था। इसके साथ राजा दाहिर को जनता का भी पूर्ण सहयोग तथा समर्थन प्राप्त नहीं था। अरब भारत में इस्लाम धर्म का प्रसार तथा अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए भारत विजय करने के लिये बड़े लालायित थे। इन्हीं परिस्थितियों में 712-13 ई0 में अरबों ने मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में सिन्ध पर आक्रमण हुआ और अरबों को सिन्ध पर विजय प्राप्त हुई। इस विजय का भारत तथा सिन्ध की राजनीतिक स्थिति पर एक प्रकार से नगण्य प्रभाव पड़ा, क्योंकि उनकी यह विजय क्षणिक थी। इस विजय का भारतीयों पर केवल ज्योतिष शास्त्र के क्षेत्र में प्रभाव पड़ा जबकि अरबवासियों पर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विविध क्षेत्रों में बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

12.6 पारिभाषिक शब्दावली

खलीफा - इस्लाम का सर्वोच्च धर्मगुरू, कमाल पाशा द्वारा 20वीं सदी के प्रारंभ में इस पद का अंत कर दिया गया।

द्वीप - चारों ओर से जल से घिरा भू-प्रदेश

कूच करना - युद्ध के लिए जाना

अपहर्ता राजा - वैध उत्तराधिकारी से गद्दी छीनकर गद्दी में बैठने वाला राजा

12.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

भाग 12.3.3 के प्रश्न 1 का उत्तर- सत्य

भाग 12.3.3 के प्रश्न 2 का उत्तर- सत्य

भाग 12.3.3 के प्रश्न 3 का उत्तर- असत्य

भाग 12.3.3 के प्रश्न 4 का उत्तर- सत्य

भाग 12.3.3 के प्रश्न 5 का उत्तर- असत्य

भाग 12.4.3 के प्रश्न 1 का उत्तर- असत्य

भाग 12.4.3 के प्रश्न 2 का उत्तर- असत्य

भाग 12.4.3 के प्रश्न 3 का उत्तर- सत्य

भाग 12.4.3 के प्रश्न 4 का उत्तर- सत्य

12.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Habibullah, A.B.M. – *Foundation of Muslim Rule in India*

2. Prasad Ishwari – *History of Medieval India*

3. पाण्डेय, विमल चन्द्र - मध्यकालीन भारत का इतिहास

4. Haig ,Woolseley : Cambridge History of India, vol.III

5. Elliot & Dowson: History of India etc. vol. II &III

12.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पाण्डेय, विमल चन्द्र - मध्यकालीन भारत का इतिहास

2. Haig ,Woolseley : Cambridge History of India, vol.III

3. Elliot & Dowson: History of India etc. vol. II &III

12.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में अरब आक्रमण का परिचय देते हुए उसके प्रभावों का उल्लेख कीजिए।

इकाई तेरह- महमूद गजनवी एवं मोहम्मद गौरी के आक्रमणों का प्रभाव

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 महमूद के आक्रमणों का प्रभाव

13.4 मुहम्मद गोरी के आक्रमण

13.4.1 1192 ई0 का तराइन का युद्ध

13.4.2 कन्नौज पर अधिकार

13.4.3 मुहम्मद गौरी तथा उसके सेनापतियों की अन्य विजयें

13.5 साराशं

13.6 पारिभाषिक शब्दावली

13.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

13.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

13.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

13.10 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

10 वीं सदी से तुर्क काबुल के हिन्दूशाही राज्य के सम्पर्क में आये और गजनवी वंश की स्थापना के 50 वर्ष पश्चात उन्होंने भारत में प्रवेश पा लिया। भारत में अन्दर तक प्रवेश पाने का प्रथम श्रेय गजनवी वंश के सुल्तान महमूद को जाता है। इसने सन् 1000 से लेकर 1027 ई0 तक हेनरी इलियट के अनुसार 17 आक्रमण किये।

द्वितीय महत्वपूर्ण आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी था जिसनेमहमूद गजनवी के प्रायः 148 वर्ष पश्चात 1175 ई0 में अपना प्रथम आक्रमण भारत में किया और 1192 में पृथ्वीराज तृतीय को निर्णायक रूप से हराकर भारत में तुर्की साम्राज्य की नीवं डाली। मुहम्मद गोरी का अन्तिम आक्रमण 1206 ई0 में खोक्करों या इस्माइल विद्रोहियों के विरूद्ध सिन्ध में हुआ जहॉं उसका कत्ल कर दिया गया।

महमूद गजनवी के आक्रमण की पूर्व संध्या में उत्तरी भारत विभिन्न राज्यों में विभाजित था। डॉ0 ईश्वरी प्रसाद के अनुसार,''इस समय भारत 16 वीं सदी के जर्मनी की भांति ऐसे राज्यों का समूह बन गया था जो अपने प्रत्येक उद्देश्य एवं कार्य के लिए स्वतन्त्र थे।'' इनमें से कुछ राज्य शक्तिशाली भी थे परन्तु उनकी पारस्परिक प्रतिस्पर्धा उनकी मुख्य दुर्बलता थी जिसके कारण वे विदेशी शत्रु का मुकाबला मिलकर न कर सके। मुल्तान और सिन्ध में दो मुसलमानी राज्य थे। ब्राहमण हिन्दूशाही राज्य चिनाब नदी से हिन्दुकुश तक फैला था, जयपाल उसका साहसी,

बहादुर और दूरदर्शी शासक था। अपने पड़ोसी गजनी राज्य को समाप्त करने के लिए उसने आक्रमणकारी नीति का पालन किया यद्यपि वह उसमें सफल न हो सका। महमूद के आक्रमणों का प्रथम और द्रढ़तापूर्वक सामना इसी राजवंश ने किया। इस समय काश्मीर में भी ब्राहमण वंश का शासन था, इसकी शासिका रानी दिद्दा थी। कन्नौज में प्रतिहार वंश का शासन था, इस समय यहॉ राज्यपाल का शासन था। 11 वीं सदी के आरंभ तक यह राज्य दुर्बल हो गया था, उसके सामन्त बुन्देलखण्ड के चन्देल, मालवा के परमार, और गुजरात के चालुक्त उसके आधिपत्य से मुक्त हो गये थे।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको को भारत में महमूद गजनवी तथा मुहम्मद गोरी के आक्रमणों का परिचय तथा इन आक्रमणों का भारत में प्रभाव से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

महमूद गजनवी के आक्रमणों का परिचय तथा इन आक्रमणों का भारत में प्रभाव

मुहम्मद गोरी के आक्रमणों का परिचय तथा इन आक्रमणों का भारत में प्रभाव

13.3 महमूद के आक्रमणों का प्रभाव

महमूद के आक्रमणों का भारत पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उसके भारत पर आक्रमणों का मुख्य लक्ष्य,अपने गजनी के साम्राज्य विस्तार के लिए भारत की अतुल सम्पत्ति लूटना था। साथ ही साथ वह अपनी कट्टर सुन्नी प्रजा को इन अभियानों द्वारा यह भी दिखाना चाहता था कि उसने काफिरों के देश में आक्रमण कर जिहाद किया है।उसका लक्ष्य भारत पर राज्य स्थापित करना नहीं था। उसने उत्तरी भारत के पश्चिमी प्रदेशों के अनेक राजाओं को युद्ध में परास्त किया, अनेक भव्य तथा समृद्धिशाली नगरों तथा मन्दिरों का विध्वंश कर दिया और इस समस्त प्रदेश को आतंकित कर दिया,एवं विशाल मात्रा में धन की लूटपाट की।उसने पंजाब के अतिरिक्त किसी अन्य प्रदेश को अपने साम्राज्य का भाग नहीं बनाया और न उसकी उचित शासन व्यवस्था की ओर ही ध्यान दिया। इस सम्बन्ध में डाक्टर ईश्वरी प्रसाद का कहना है कि, 'धन के लोभ तथा लालच ने महमूद को अत्यन्त महत्वपूर्ण लाभों की ओर से अन्धा बना दिया था जो भारतीय विजय द्वारा विजेता को प्राप्त होते।' वह भारत में इस्लाम धर्म का भी प्रचार नहीं कर सका, क्योकि उसकी विध्वंसात्मक नीति ने हिन्दुओं में इस्लाम धर्म के प्रति अरूचि की भावना पैदा कर दी, जो भारत के हिन्दुओं में दीर्घ काल तक विद्यमान रहीं और प्रारंभ में जिसके कारण दोनों धर्मों का सामजंस्य असम्भव हो गया।

राजनीतिक दृष्टि से पंजाब का उसके गजनी राज्य में सम्मिलित होने के अतिरिक्त उसके आक्रमणों का कोई स्थायी परिणाम नहीं हुआ, किन्तु कुछ दूरगामी परिणाम हुये जिसके कारण भारत के इतिहास में आगे चलकर मुस्लिम

राज्य स्थापित हो सका। भारत के अन्य स्थानों पर उसके आक्रमणों का प्रभाव शीघ्र ही समाप्त हो गया। आगे की लगभग दो सदियों तक राजपूत शासक उत्तरी भारत के विभिन्न राज्यों में शासक बने रहे। महमूद गजनवी के आक्रमणों को उन्होंने एक आंधी या तूफान के समान समझा, जो आई और चली गई। महमूद गजनवी के आक्रमणों के अन्य मुख्य प्रभाव निम्नलिखित हैं -

1. **राजाओं की शक्ति पर प्रभाव:-** महमूद ने कुल मिलाकर 17 आक्रमण किये थे। उसके निरन्तर आक्रमणों के कारण भारतीय नरेशों की सैनिक शक्ति को बहुत आघात पहुँचा था,और भारी जन-धन की हानि उठानी पड़ी थी।

2. **सैन्य दुर्बलता:-** भारतीयों की राजनीतिक तथा सैन्य दुर्बलता का ज्ञान विदेशी आक्रमणकारियों को लग गया जिन्होंने बाद में उसका पूर्णरूप से लाभ उठाया। महमूद के साथ आये अलबरूनी ने भारतीयों की इस काल में उत्पन्न कमजोरी का कारण उनका विदेशों से संपर्क न होना बताया है।

3. **अतुल सम्पत्ति का पलायन:-** महमूद गजनवी के आक्रमणों के द्वारा भारत की अतुल धन सम्पत्ति विदेश चली गई जिसके कारण भारत की आर्थिक स्थिति को विशेष धक्का पहुंचा। उसने हिन्दुओं के उन मन्दिरों को विशेष रूप से लूटा जिनमें शताब्दियों से एकत्रित किया हुआ अतुल धन संचित था।महमूद का समकालीन इतिहासकार उत्बी उसके अभियानों में लूटी गयी सम्पति का विवरण देता है। महमूद ने इस सम्पत्ति का प्रयोग अपनी पश्चिमी विजयों में किया।

4. **स्थापत्य कला:-** महमूद ने अपने अभियानों के दौरान अनेक मन्दिरों ,महलों तथा भव्य भवनों को तोड़ डाला था जिसके कारण उत्तरी भारत की राजपूत शैली में विकसित स्थापत्य कला को बड़ी हानि पहुंची और स्थापत्य कला की अनेक अमूल्य धरोहरें सदैव के लिए समाप्त हो गयीं।

5. **पंजाब का गजनी साम्राज्य में विलय:-** भारत के प्रवेश द्वार पंजाब को महमूद ने अपने विशाल गजनी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इससे पंजाब का भारत से कुछ समय के लिए सम्बन्ध विच्छेद हो गया।

6. **आक्रमण के लिये नये मार्ग का खुलना:-** उत्तर-पश्चिम से भारत में आक्रमण के लिये महमूद गजनवी ने एक नया मार्ग खोल दिया और उत्तर-पश्चिम से आक्रांताओं को भारत के कुछ प्रदेशों में प्रवेश करने का अवसर प्राप्त हुआ। महमूद के आक्रमणों के उपरान्त भारत पर अन्य समस्त आक्रमण इसी मार्ग से हुये और आक्रमणकारियों को विशेष सफलता भी प्राप्त हुई। महमूद के आक्रमणों ने मुहम्मद गौरी के आक्रमणों के लिये मार्ग प्रशस्त करने का कार्य किया। कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि यदि महम्मद गौरी को महमूद गजनवी का निर्देशित मार्ग न मिला होता तो वह अपना कार्य इतनी आसानी से सम्पन्न नहीं कर सकता था।

भारत का ज्ञानः- महमूद ने भारत पर 17 आक्रमण किये जिनके कारण मुसलमानों को उत्तरी भारत के अधिकांश भाग का ज्ञान प्राप्त हो गया तथा उनको भारत की विभिन्न दुर्बलताओं के बारे में भी जानकारी प्राप्त हुई, जिससे भविष्य में होने वाले आक्रमणों के अवसरों पर आक्रमणकारियों ने विशेष लाभ उठाया।

13.4 मुहम्मद गोरी के आक्रमण

महमूद गजनवी के प्रायः 148 वर्ष पश्चात मुहम्मद गोरी का प्रथम आक्रमण 1175 ई. में मुल्तान में हुआ। इस समयान्तर के बावजूद भी उत्तरी भारत में विभिन्न राजवंशों में परिवर्तन होने के अतिरिक्त कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ या यह कहा जा सकता है कि भारतीयों ने महमूद के आक्रमणों से कोई सबक नहीं लिया। राजनीतिक दृष्टि से भारत उस समय भी विभक्त था, निस्संदेह कुछ राजपूत वंश बहुत सम्मानित और शक्तिशाली थे परन्तु उनमें राज्य विस्तार की प्रतिस्पर्धा और वंशानुगत झगड़ों के कारण निरन्तुर युद्ध होते रहते थे, जिससे वे न तो अपनी शक्ति का सदुपयोग अपने और अपने राज्य के हित के लिए कर सके और न वे एक होकर विदेशी शत्रु का मुकाबला कर सके।

इस समय उत्तर-पश्चिम सीमा पर सिन्ध, मुल्तान और पंजाब के मुसलमानी राज्य थे। सिन्ध और मुल्तान के राज्य छोटे थे और पंजाब का गजनवी राज्य दुर्बल था। गिज-तुर्कों से पराजित होकर गजनवी सुल्तान खुशरवशाह गजनी से भागकर लाहौर आ गया था। भारत के अन्य सभी भागों में राजपूत शासक थे। गुजरात और काठियावाड़ में चालुक्य वंश का शासन था जिसके शासक मूलराज द्वितीय ने 1178 ई0 में मुहम्मद गोरी को पराजित किया था। दिल्ली और अजमेर में चौहान वंश का शासन था, यहॉ का शासक पृथ्वीराज तृतीय उत्तरी भारत के राजपूत शासकों में सर्वाधिक साहसी और महत्वाकांक्षी था। अपनी महत्वाकांक्षा के कारण प्रायः सभी राजपूत शासकों से उसकी शत्रुता हो गयी थी। गुजरात के चालुक्य वंश को उसने पराजित कर अपमानित किया, बुन्देलखण्ड के शासक परमर्दी देव को परास्त कर उसने उससे महोबा छीन लिया था और कन्नौज के गहड़वाल वंशी शासक जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता से बलपूर्वक विवाह कर उसने कन्नौज की शत्रुता मोल ले ली थी। पृथ्वीराज तृतीय अपने युग का एक महान् साहसी योद्धा और सफल सेनानायक था, परन्तु उसमें दूरदर्शिता तथा राजनीतिज्ञता का अभाव था। इस कारण अपने मुसलमान शत्रु के विरूद्ध वह अपने किसी पड़ोसी से सहायता प्राप्त नहीं कर सका। कन्नौज के गहड़वाल वंश का राज्य उत्तर भारत में सबसे अधिक विस्तृत था। गोरी के विरूद्ध यहॉ के शासक जयचन्द्र ने अत्यधिक पराक्रम दिखाया था लेकिन छंदवाड़ नामक स्थान पर 1194 ई0 में वह अकेला मारा गया। बुन्देलखण्ड में चन्देल वंश तथा कलचुरि में चेदी वंश का शासन था।

13.4.1 1192 ई0 का तराइन का युद्ध

विस्सेन्ट स्मिथ के अनुसार सन् 1192 ई0 का तराइन का युद्ध एक निर्णायक युद्ध था, इसमें पृथ्वीराज तृतीय की निर्णायक हार हुई, जिसने भारत में मुसलमानों के आक्रमण की सफलता सुनिश्चित कर दी। वास्तव में इस कथन में

बहुत सत्यता विद्यमान है। इसके उपरान्त धीरे-धीरे मुसलमानों ने समस्त उत्तरी भारत को अपने अधिकार में कर लिया। ईश्वरी प्रसाद के अनुसार 'यह राजपूत शक्ति पर घातक आघात था।' इसके द्वारा भारतीय समाज के समस्त अंगों का नैतिक पतन होना आरम्भ हो गया था जो समस्त राजपूत राजाओं को अपने नेतृत्व में संगठित कर मुसलमानों का सामना करता। डॉ0 आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने भी इन्हीं विचारों को व्यक्त किया। इस युद्ध में विजयी होने से मुहम्मद गौरी को भारत के अन्य भागों पर अधिकार करने में बड़ी सहायता मिली। महमूद गजनवी के विपरीत मुहम्मद गोरी के आक्रमणों से भारत की राजनीतिक स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन हो गया,यथा;

13.4.2 कन्नौज पर अधिकार

तराईन के द्वितीय युद्ध में विजयी होने के उपरांत इस विजय को आगे बढ़ाते हुए मुहम्मद गोरी ने झॉसी, कुहराम तथा सरसुती पर अधिकार किया और भारत की भूमि पर मुसलमानी राज्य की स्थापना की। उसने अजमेर को पृथ्वीराज के पुत्र के अधिकार में इस शर्त के साथ सौंप दिया कि वह प्रतिवर्ष उसको कर दिया करेगा और दिल्ली को भी तोमर वंश के एक राजकुमार को समान शर्त पर सौंप दिया। मुहम्मद गोरी ने कुतुबुद्दीन ऐबक के नेतृत्व में दिल्ली के समीप इन्द्रप्रस्थ में एक सेना छोड़ गयी जिसने बाद मेरठ, कोल और दिल्ली पर अधिकार किया। मुहम्मद गौरी स्वदेश वापिस चला गया। उसके चले जाने पर भारत में कुछ स्थानों में बगावत हुई , जिनका कुतुबुददीन ने कठोरता से दमन किया। इसके उपरान्त दिल्ली भारत में मुसलमानी राज्य की राजधानी घोषित हुई।

इन राज्यों पर अधिकार से ही मुहम्मद गौरी की विजय का अन्त नहीं हुआ। जब कुतुबुद्दीन राजपूतों के विद्रोह का दमन करने में व्यस्त था उस समय मुहम्मद गौरी फिर एक बार अपनी विशाल सेना लेकर भारत आया। इस बार उसका उद्देश्य कन्नौज और काशी को अपने अधीन करना था, जिस पर राठौर वंश के जयचन्द्र का अधिकार था। जयचन्द्र को अकेले ही मुसलमानी सेना का सामना करना पड़ा। इस युद्ध में केवल भाग्य के कारण मुहम्मद को विजय प्राप्त हुई। इस युद्ध में विजयी होने के परिणामस्वरूप उसके अधिकार में भारत का बहुत बड़ा भाग आ गया। उसने शीघ्र बनारस पर आक्रमण किया और उस पर भी अधिकार जमाया। मुहम्मद को यहॉ से अतुल धन तथा बहुत से हाथी प्राप्त हुए। उसने वहॉ बहुत से मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और उनके स्थानों पर मस्जिदों का निर्माण करवाया।

मुहम्मद के गजनी जाने के उपरान्त उसके कार्य को उसके सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने पूरा किया। कोल में विद्रोह हुआ जिसका शीघ्र दमन कर दिया गया। इसके उपरान्त अजमेर में विद्रोह हुआ। उसने अजमेर पर आक्रमण किया और अजमेर पर पुनः मुसलमानों का अधिकार स्थापित हो गया। कुतुबुद्दीन ने अजमेर को एक तुर्क मुसलमान सूबेदार के हाथ में सौंप दिया और पृथ्वीराज के पुत्र को रणथम्भौर का प्रदेश दे दिया।

13.4.3 मुहम्मद गौरी तथा उसके सेनापतियों की अन्य विजयें

मुहम्मद गौरी ने सन् 1195 ई0 में पुनः भारत पर बियाना तथा ग्वालियर के प्रदेशों को अपने अधिकार में करने के लिए आक्रमण किया।

1. **बियाना पर अधिकारः-** बियाना पर भट्टी राजपूतों का अधिकार था। यहॉ के राजा कुमारपाल ने मुहम्मद गौरी के आक्रमण से भयभीत होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।

2. **ग्वालियर पर अधिकारः-** इसके बाद मुहम्मद गौरी ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। ग्वालियर का दुर्ग अभेद्य समझा जाता था। मुहम्मद गौरी ने वहॉ के शासक से वार्षिक कर लेना स्वीकार कर उसने सन्धि की, कुछ समय उपरान्त मुसलमानों ने उस पर अधिकार कर लिया।

3. **अन्हिलवाडा की लूटमारः-** मुहम्द गौरी के भारतीय प्रतिनिधि कुतुबुद्दीन ने अन्हिलवाड़ा पर आक्रमण किया, राजपूतों ने बड़ी वीरता से उनका सामना किया, किन्तु वे पराजित हुये। कुतुबुद्दीन अन्हिलवाड़ा की लूटमार कर वापिस चला गया।

4. **बुन्देलखण्ड पर अधिकारः-** सन् 1201 ई0 में कुतुबुद्दीन ने बुन्देलखण्ड के प्रदेश पर आक्रमण किया। उसने कालिंजर के दुर्ग का घेरा डाला,यह दुर्ग भी बहुत दृढ था और उसकी गणना भारत के प्रसिद्ध दुर्गों में की जाती थी कुतुबुद्दीन ने दुर्ग में पानी पहुंचाने के मार्ग पर अधिकार कर दुर्ग में पानी की आपूर्ति बन्द कर दी। फलस्वरूप राजपूतों ने हथियार डाल दिये और दुर्ग पर मुसलमानों का अधिकार हो गया।

5. **बिहार की विजयः-** इसी काल में मुहम्मद गौरी का एक अन्य दास मुहम्मद बिन बख्तियार खजली पूर्वी विजयों में संलग्न था। उसे गंगा और सोन नदी के मध्य में एक जागीर भेंट स्वरूप प्रदान की गई थी। उसने बहुत से खिलजियों को अपनी सेना में भर्ती किया और बिहार के प्रदेश पर आक्रमण करने आरम्भ किये। अपनी शक्ति को दृढ़ करने के उपरान्त उसने बिहार की राजधानी उदन्तिपुर पर अधिकार कर वहॉ के विशाल भवनों को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। उसने नालन्दा विश्वविद्यालय तथा उसके पुस्तकालयों पर भी आग लगा दी। इसके उपरान्त उसने बिहार के अन्य प्रदेश पर अधिकार किया और समस्त बिहार उसके अधिकार में आ गया।

6. **बंगाल विजयः-** सन् 1204 ई0 में मुहम्मद बिन बख्तियार खजली ने बंगाल पर आक्रमण किया। वह अपनी सेना लेकर नदिया के द्वार पर पहुंच गया। उसके साथ उस समय केवल 18 व्यक्ति थे और उसकी सेना पीछे आ रही थी। वह दुर्ग में प्रवेश करने में सफल हुआ। इस समय राजा लक्ष्मणसेन दोपहर का भोजन करने के लिये बैठा ही था। जब उसने यह समाचार सुना तो वह पिछले द्वार से भाग गया। इसके बाद मुहम्मद बिन बख्तियार खजली ने गौढ के समीप लखनौती पर अधिकार कर उसको अपनी राजधानी घोषित किया, उसने बंगाल के अन्य प्रदेशों को

अपने अधिकार में करने की चेष्टा नहीं की। उसने तिब्बत आक्रमण करने का विचार किया। लेकिन उसका यह अभियान असफल हुआ और सन् 1206 ई0 में इसकी मृत्यु हो गई।

इस समस्त विजयों के परिणामस्वरूप मुसलमानों के अधिकार में उत्तरी भारत का अधिकांश प्रदेश आ गया और भारत में मुस्लिम राज्य की नींव पड़ी।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. गजनवी वंश के सुल्तान महमूद ने सन् 1000 से लेकर 1027 ई0 तक हेनरी इलियट के अनुसार 27 आक्रमण किये

2. मुहम्मद गोरी का अन्तिम आक्रमण 1206 ई0 में खोक्करों या इस्माइल विद्रोहियों के विरूद्ध हुआ जहॉं उसका कत्ल कर दिया गया

3. महमूद गजनवी के आक्रमण के समय ब्राहमण हिन्दूशाही राज्य चिनाब नदी से हिन्दुकुश तक फैला था

4. मुहम्मद गोरी का प्रथम आक्रमण 1175 ई. में मुल्तान में हुआ

5. मूलराज द्वितीय ने 1178 ई0 में मुहम्मद गोरी को पराजित किया था

6. 1304 ई0 में मुहम्मद बिन बख्तियार खजली ने बंगाल पर आक्रमण किया

7. सन् 1210 ई0 में कुतुबुद्दीन ने कालिंजर के दुर्ग पर विजय प्राप्त की

13.5 साराशं

महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय उत्तरी भारत के अधिकांश राज्य राजपूत वंशों के थे। राजपूतों में साहस, शौर्य और बहादूरी की कमी न थीं परन्तु वे विनाशकारी भ्रातृघातक झगडों में लगे रहे थे। उनमें दूरदर्शिता और परिस्थितियों को समझने तथा उसके अनुकूल आचरण करने का सर्वथा अभाव रहा, जिसके कारण वे सभी बार बार पराजित हुए।

महमूद गजनवी के प्रायः 148 वर्ष पश्चात मुहम्मद गोरी का प्रथम आक्रमण 1175 ई में मुल्तान में हुआ। इस समयान्तर के बावजूद भी उत्तरी भारत में विभिन्न राजवंशों में परिवर्तन होने के अतिरिक्त कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ या यह कहा जा सकता है कि भारतीयों ने महमूद के आक्रमणों का कोई सबक नहीं लिया।

इस प्रकार तुर्की आक्रमण के समय भारत राजनीतिक रूप से विश्रखंल था। यहॉ के शासक राजनैतिक महत्वाकाक्षाओं तथा वंशानुगत झगडों के कारण भ्रातृघातक युद्धों में लगे थें ऐसी परिस्थिति में भारत में तुर्की आक्रमणों की बाढ को रोके रखना असंभव सा हो गया था। इस निरन्तरआक्रमणों के परिणाम स्वरूप 1192 ई0 में भारतमें तुर्की राज्य की नींव पडी।

13.6 पारिभाषिक शब्दावली

काफिर – इस्लाम धर्म के अनुसार जो इस्लाम को नहीं मानता है , काफिर कहलाता है।

जिहाद – धर्म युद्ध

मस्जिद – इबादतगाह

दुर्ग - किला

बगावत – विद्रोह

13.7 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

भाग 13.4 के प्रश्न 1 का उत्तर- असत्य

भाग 13.4 के प्रश्न 2 का उत्तर- सत्य

भाग 13.4 के प्रश्न 3 का उत्तर- सत्य

भाग 13.4 के प्रश्न 4 का उत्तर- सत्य

भाग 13.4 के प्रश्न 5 का उत्तर- सत्य

भाग 13.4 के प्रश्न 6 का उत्तर- असत्य

भाग 13.4 के प्रश्न 7 का उत्तर- असत्य

13.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Habibullah, A.B.M. – *Foundation of Muslim Rule in India*

2. Prasad Ishwari – *History of Medieval India*

3. Prasad Ishwari – *A History of the Quraunah Turks in India*

4. Srivastav, A.L. – *The Sultanat of Delhi*

5. Majumdar (General Editor) – *Struggle for Empire*

6. Elliot & Dowson – *The History of India as Told by Its Own Historians*

7. Hodivala, S. H. – *Studies in IndoMuslim History*

8. Jackson, Peter – *The Delhi Sultanate: A Political and Military History*

9. हबीब, मुहम्मद - दिल्ली सल्तनत भाग 1

13.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Minhaj-i-Siraj – *Tabqat-i-Nasiri* (Eng Tr. Raverty, H. G.)

2. Isami – *Futu-us-Salatin* (Edited by Husain, A. M.)

2. Lane Poole – *The Mohammadan Dynasties*

3. Lane Poole – *Medieval India under Mohammadan Rule*

13.10 निबंधात्मक प्रश्न

1- महमूद गजनवी के भारत आक्रमणों पर चर्चा कीजिए

2- मुहम्मद गोरी के आक्रमणों के प्रभाव बतलाइये

इकाई चौदह- तुर्क आक्रमण की पूर्व संध्या में भारत की राजनैतिक, धार्मिक,आर्थिक दशा

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति

14.3.1 मुल्तान और सिन्ध के अरब राज्य

14.3.2 हिन्दूशाही राज्य

14.3.3 काश्मीर

14.3.4 कन्नौज

14.3.5 बंगाल का पाल वंश

14.3.6 दक्षिण के राज्य

14.4 मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत की दशा

14.4.1 गजनवी शासन के अन्तर्गत पंजाब

14.4.2 करामाथियों की अधीनता में मुल्तान

14.4.3 सुम्त्र शासन के अन्तर्गत सिन्ध

14.4.4 राजपूत

14.4.4.1 अन्हिलवाड़ा के चालुक्य

14.4.4.2 अजमेर के चौहान

14.4.4.3 कन्नौज के गहड़वाल

14.4.4.4 बुन्देलखण्ड के चन्देल तथा कलचुरी के चेदि

14.4.4.5 उत्तरी बंगाल के पाल

14.4.4.6 बंगाल का सेन राज्य

14.5 सामाजिक तथा धार्मिक दशा

14.6 आर्थिक जीवन

14.7 साराशं

14.8 तकनीकी शब्दावली

14.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

14.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

14.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

14.12 निबंधात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों के अध्ययन के उपरांत अब आपको यह जानकारी है कि महमूद गजनवी के आक्रमणों के समय भारत की राजनीतिक दशा अरबों की सिन्ध विजय के समय से एक प्रकार से बहुत भिन्न थी। 8वीं सदी के प्रारम्भ में भारत में कोई विदेशी सत्ता नहीं थी। पश्चिमी भारत के कुछ इलाकों पर केवल कुछ अरब व्यापारिक-गतिविधियों में संलग्न थे। लेकिन 10वीं सदी के अंत में भारत में मुल्तान और सिन्ध के दो अरब राज्य थे।

इन राज्यों की काफी जनता ऐसी थी जिसे मुसलमान बना लिया गया था। दक्षिण भारत में भी, मालाबार राज्य मुसलमानों द्वारा अधिगृहित कर लिया गया था और गजनी तथा मध्य एशिया से आने वाले अपने मुसलमान भाइयों के साथ उनकी सहानुभूति थी,वास्तव में, उनके लिये यह स्वाभाविक था। सुबुक्तगीन, महमूद गजनवी और उनके 150 वर्ष बाद मुहम्मद गोरी इस दृष्टि से भाग्यशाली थे कि उन्हें भारतीय जनता के एक अंग की सहानुभूति प्राप्त हुई थी।

देश विभक्त था और छोटे-छोटे निहित स्वार्थों के कारण शासक वर्ग आपस में लड़ता रहता था। देश की राजनीतिक दशा की भांति ही समाज भी अनेक रूढ़ियों के चलते विभाजित था। धर्म में संकीर्णता प्रवेश कर चुकी थी और जादू-टोने और अंधविश्वास ने धर्म में स्थान प्राप्त कर लिया था। देश आर्थिक दृष्टि से संपन्न था किंतु धन का बंटवारा उचित नहीं था। अधिकांश धन राजा-रजवाड़ों और सामन्तों के महलों तथा मंदिरों में संकेद्रित था। ये स्थान विदेशी आक्रांताओं के लोभ के केन्द्र बन गये और यहां का धन भारत में आक्रमण का एक बहुत बड़ा लालच साबित हुआ।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको को तुर्क आक्रमण की पूर्व संध्या में भारत की राजनैतिक,धार्मिक,आर्थिक दशा का परिचय देना है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप अग्रांकित के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे-

1. महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति

2. मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति

3. इन दोनों आक्रमणकारियों के आक्रमण की पूर्व संध्या में भारत की ,धार्मिक, आर्थिक दशा

14.3 महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति

महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति विवरण निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत दिया जा सकता है-

14.3.1 मुल्तान और सिन्ध के अरब राज्य

करामाथी लोग मुल्तान में राज्य करते थे, फतेह दाऊद उनका शासक था। वह एक योग्य व्यक्ति था। सिन्ध में भी अरबों का ही शासन था। अरबों की राजनीतिक और धार्मिक नीति से परिचित होने पर भी पड़ोस के हिन्दू राज्य किसी प्रकार इनसे सजग नहीं हुए थे। इसके विपरीत हर जगह अरबों तथा नये भारतीय मुसलमानों के साथ सहृदयता का बरताव किया जाता था और उन्हें अपने धर्म का पालन करने तथा नये लोगों को मुसलमान बनाने की आज्ञा थी। व्यापारिक गतिविधियों में संलग्न रहने के कारण भारत के विभिन्न भागों में उनका काफी महत्व था।

भारत के शेष अन्य भागों में देशी राजवंश शासन करते थे। इन राज्यों में प्रमुख राज्य निम्नलिखित थे-

14.3.2 हिन्दूशाही राज्य

हिन्दूशाही राज्य, चिनाब नदी से हिन्दूकुश तक फैला हुआ था और काबुल उसमें सम्मिलित था। इस राजवंश ने 200 वर्षों तक अकेले ही अरब आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया था। किन्तु अन्त में इसके शासकों को अफगानिस्तान छोड़ने पर बाध्य होना पडा काबुल भी उनके हाथ से निकल गया इसके उपरांत उन्होंने उदभण्डपुर अथवा बैहन्द को अपनी राजधानी बनाया। 10वीं सदी के अंत में जयपाल इस राज्य पर शासन करता था। वह वीर सैनिक तथा योग्य शासक था। अपने राज्य की भौगोलिक स्थिति के कारण गजनी से आने वाले आक्रमण का पहला प्रहार उसी को झेलना पड़ा।

14.3.3 काश्मीर

उत्तर-पश्चिम में दूसरा महत्वपूर्ण राज्य काश्मीर का था। उसकी हिन्दूशाही राज्य तथा कन्नौज के साम्राज्य से इस काल में शत्रुता चल रही थी। प्रसिद्ध राजा शंकरवर्मन ने काश्मीर राज्य की सीमाओं का अनेक देशों में विस्तार किया था परन्तु वह आधुनिक हजारा जिला के लोगों से युद्ध करता हुआ मारा गया। उसके उपरान्त राज्य में अराजकता फैल गयी और कुछ समय तक छोटे-छोटे राजवंशों का शासन रहा और फिर पर्वगुप्त ने एक नये वंश की नींव डाली। महमूद के आक्रमण के समय में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उसकी रानी दिद्दा के हाथ में थी। उसने 1003 ई0 तक राज्य किया।

14.3.4 कन्नौज

कन्नौज और मध्य प्रदेश पर प्रतिहारों का प्रभुत्व कायम था। अपने उत्तर तथा दक्षिण के पड़ोसी राज्यों से उनका संघर्ष चलता रहता था, जिनमें कभी उनको सफलता मिलती और कभी पराजय भोगनी पड़ती थी। दक्षिण के राष्ट्रकूट शासक इन्द्र तृतीय ने प्रतिहार राजा महिपाल को बुरी तरह हराया था और उसे अपनी राजधानी कन्नौज से भी हाथ धोना पड़ा था। किन्तु एक चन्देल शासक ने उसे पुनः गद्दी पर बैठा दिया, लेकिन प्रतिहारों की शक्ति को भारी धक्का लगा था। इस वंश के शासक गंगा के उत्तरी भाग तथा राजस्थान और मालवा के कुछ प्रदेशों पर राज्य

करते रहे किन्तु उनकी सत्ता सदैव अस्थिर रही। बुन्देलखण्ड के चन्देल, गुजरात के चालुक्य और मालवा के परमार जो पहले उनके अधीनस्थ सामन्त थे, इस काल में स्वतन्त्र हो गये थे। प्रतिहार वंश का अन्तिम शासक राज्यपाल हुआ। वह दुर्बल शासक था। उसकी राजधानी कन्नौज पर महमूद गजनवी ने 1018 ई0 में आक्रमण किया, महमूद के आक्रमण के सामन वह टिक न सका।

14.3.5 बंगाल का पाल वंश

11 वीं शताब्दी के प्रथम चरण में बंगाल में महिपाल प्रथम का शासन था जो महमूद गजनवी का समकालीन था। उसने कुछ हद तक अपने वंश के वैभव की पुनः स्थापना की, किन्तु बंगाल के कुछ भाग पर शक्तिशाली सामन्तों ने पहले ही अधिकार कर लिया था और वे नाममात्र को ही राजाओं का प्रभुत्व स्वीकार करते थे। जिस समय उत्तर पश्चिमी भारत में महमूद गजनवी, हत्या और लूट का काण्ड रच रहा था उसी समय बंगाल पर चोल शासक राजेन्द्र चोल का आक्रमण हुआ। इस युद्ध में बंगाल को भीषण क्षति उठानी पड़ी थी, किन्तु दूर स्थित होने के कारण बंगाल राज्य महमूद गजनवी के आक्रमणों से मुक्त रहा।

उपर्युक्त राज्यों के अतिरिक्त उत्तरी भारत में अन्य कई छोटे छोटे राज्य थे जिनमें गुजरात के चालुक्य, बुन्देलखण्ड के चन्देल और मालवा के परमार अधिक महत्वपूर्ण थें पहले किसी समय वे कन्नौज के अधीन रह चुके थे।

14.3.6 दक्षिण के राज्य

दक्षिण भारत के शासकों में भी उत्तर भारतीय शासकों की भांति निरन्तर संघर्ष चलता रहा था। दक्षिण के परवर्ती चालुक्यों और राष्ट्रकूटों में प्रभुता के लिए दीर्धकाल तक संघर्ष हुआ था। 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ में दक्षिण में दो प्रसिद्ध राज्य थे, कल्याणी का परवर्ती चालुक्य राज्य और तंजौर का चोल राज्य। परवर्ती चालुक्य वंश का संस्थापक तैल द्वितीय था। वह वातापी के चालुक्यों के वंश का होने का दावा करता था। उसने आधुनिक हैदराबाद राज्य में स्थित कल्याणी को अपनी राजधानी बनायी थी। उसके उत्तराधिकारी तंजौर के चोल राजाओं के विरूद्ध संघर्षरत रहे थे।चोल लोग आदित्य के वंशज थे। राजराजा के समय में उनका महत्व बढ गया। उसका पुत्र राजेन्द्र चोल महान योद्धा और विजेता हुआ, वह महमूद का समकालीन था। उसने बंगाल की विजय कर गंगईकोण्डचोलपुरम की उपाधि धारण की थी। उसने उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के अनेक प्रदेश जीते । उसकी गणना उस युग के महानतम भारतीय शासकों में थी। जिस समय दक्षिण में चालुक्य और चोल निर्मम संघर्ष में रत थे, उत्तरी भारत में महमूद गजनवी बड़े-बड़े साम्राज्यों को धूल में मिला रहा था।

14.4 मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय भारत की दशा

बारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में उत्तर पश्चिमी भारत में पंजाब, मुल्तान और सिन्ध के तीन विदेशी राज्य थे।

14.4.1 गजनवी शासन के अन्तर्गत पंजाब

पंजाब को ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में महमूद ने जीतकर अपने राज्य में मिला लिया था तभी से यह राज्य 1186 ई0 तक गजनवी साम्राज्य का अभिन्न अंग बना रहा। जैसा कि आप जानते हैं कि गिज तुर्कों ने खुसरवशाह को गजनी से मार भगाया था और पंजाब में उसने शरण ली थी। उसके उत्तराधिकारियों ने भी पंजाब को ही अपना घर बनाया और लाहौर उनकी राजधानी थी। इस प्रकार तत्कालीन भारत में सिन्ध के बाद पंजाब दूसरा मुस्लिम राज्य था, जिसमें उत्तर में पेशावर तथा सियालकोट सम्मिलित थे, उत्तर पूरब में उसकी सीमाऐं जम्मू के हिन्दू राज्य तक पहुंचती थी और दक्षिण तथा दक्षिण पश्चिम में उसकी सीमाऐं घटती-बढ़ती रहती थी। चौहान नरेश पृथ्वीराज प्रथम मुसलमानों से बराबर युद्ध में संलग्न रहा और उसके उत्तराधिकारी अजय राज को गजनी के एक अधिकारी बहलीम ने 1112 ई0 में हराकर नागौर छीन लिया था। परन्तु विग्रहराज तृतीय ने 1167 ई0 में पंजाब में गजनवी सुल्तान से हांसी छीन लिया और उसके उत्तराधिकारी पृथ्वीराज द्वितीय ने तुर्क आक्रमणों से रक्षा करने के लिए हांसी की किलेबन्दी की। कालान्तर में पृथ्वीराज द्वितीय ने भटिण्डा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार चौहान राज्य की सीमाएं उत्तर में आधुनिक फीरोजपुर तक पहुॅच गयी थीं। महमूद के उत्तराधिकारियों के समय में पंजाब के तुर्की राज्य का पतन होने लगा। चारों ओर भ्रष्टाचार और अयोग्यता का बोलबाला था। गजनवी वंश का अन्तिम शासक मलिक खुसरव विलासी तथा निकम्मा था । उसने शासन की बागडोर पूर्णतया अपने पदाधिकारियों के हाथों में छोड़ दी और वे स्वतन्त्र बन बैठे। वास्तव में लाहौर के गजनवी सुल्तान को इस काल में सदैव राजपूतों के आक्रमण का भय बन रहता था।

14.4.2 करामाथियों की अधीनता में मुल्तान

मुल्तान में शिया सम्प्रदाय के अनुयायी करामाथी मुसलमान शासन करते थे। इस प्रान्त को महमूद ने जीत लिया था, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद करामाथी शासकों ने फिर स्वयं को स्वतन्त्र कर लिया था। सम्भवतः उच्छ भी करामाथी राज्य में सम्मिलित था।

14.4.3 सुम्त्र शासन के अन्तर्गत सिन्ध

मुल्तान के दक्षिण में निचले सिन्ध का प्रदेश स्थित था। देबल उसकी राजधानी थी। महमूद ने इसको भी जीत लिया था। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद सुम्त्र नाम की स्थानीय जाति ने पुनः अपनी स्वाधीनता स्थापित कर ली थी। सुम्त्र लोग मुसलमान थे, किन्तु उनकी उत्पत्ति के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। करामाथियों की भॉति वे भी शिया थे।

14.4.4 राजपूत

शेष भारत में राजपूत शासक राज्य करते थे। वे प्राचीन क्षत्रियों के वंशज होने का दावा करते थे और सूर्य तथा चन्द्र से अपनी उत्पत्ति मानते थे। किन्तु इतिहासकारों का मानना है कि राजपूत मिश्रित नस्ल के थे। उनकी नसों

में प्राचीन क्षत्रियों के अतिरिक्त उन विदेशी आक्रमणकारियों का रक्त भी था जो कालान्तर में हिन्दू समाज में विलीन हो गये थे।कर्नल टॉड राजपूतों के गुणों की अत्यधिक प्रशंसा करता है। राजपूत शूरवीर थे और निर्भिकता,साहस तथा वीरोचित सम्मान की दृष्टि से उनका चरित्र तुर्कों से कहीं ऊँचा था। उन्हें अपनी तलवार चलाने की कला पर घमण्ड था और युद्ध उनके लिए एक मनोरंजन का साधन था। किन्तु जाति श्रेष्ठता पर घमण्ड की भावना ने उनके इन गुणों को ढक लिया था। उनके सामाजिक संगठन का आधार मुख्यतया सामन्तवादी था और सैनिक यश प्राप्त करने की भावना उनमें इतनी बलवती थी कि उनके अन्य सभी काम केवल इसी उद्देश्य से किये जाते थे।यही दुर्गुण वास्तव में उनके पतन का कारण सिद्ध हुआ।

14.4.4.1 अन्हिलवाड़ा के चालुक्य

पश्चिमी भारत में सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजवंश अन्हिलवाड़ा के चालुक्यों का था। उनका राज्य मुस्लिमों द्वारा शासित उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों से लगा हुआ था। जयसिंह सिद्धराज (1102-1143ई0) के समय में इस वंश का अधिक उत्कर्ष हुआ। उसने मालवा के परमार राज्य का अधिकांश भाग जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। चित्तौड़ के गुहिलौतों को उसने पराजित किया और काठियावाड में गिरनार को जीतकर अपने राज्य का अंग बनाया। लेकिन अजमेर के चौहानों से उसका संघर्ष में चालुक्यों को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी और चालुक्यों की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी इसके उपरांत उनकी गणना द्वितीय श्रेणी के राजवंशों में होने लगी। धीरे-धीरे मालवा, चित्तौड़,पश्चिमी और दक्षिणी राजपूताना के क्षेत्रों ने पुनः अपनी स्वाधीनता स्थापित कर ली और केवल गुजरात और काठियावाड़ चालुक्यों के अधीन रह गये मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय यहां का शासक मूलराज द्वितीय था।

14.4.4.2 अजमेर के चौहान

राजपूतों का दूसरा महत्वपूर्ण राज्य अजमेर के चौहानों का था। इस वंश की स्थापना एक सामन्त ने की थी। बीसलदेव (विग्रहराज तृतीय) इस वंश का प्रतापी शासक था,उसने 1151 ई0 में तोमरों से दिल्ली और कुछ समय उपरान्त गजनवी वंश के लोगों से हॉसी छीन ली। पृथ्वी राज द्वितीय इस वंश का महत्वपूर्ण शासक हुआ। उसने 1167 से 1169 ई0 तक राज्य किया। उसी का पुत्र पृथ्वीराज तृतीय (1178-1193 ई0) था जो रायपिथौरा के नाम से विख्यात था। पृथ्वीराज तृतीय ने चन्देल राजा परमर्दी देव को हराकर महोबा पर अधिकार कर लिया। किन्तु अपने पड़ोसियों से उसके सम्बन्ध अच्छे न थे।

14.4.4.3 कन्नौज के गहड़वाल

इस युग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजपूत राजवंश कन्नौज के गहड़वालों का था। प्रारम्भ में गहड़वाल राज्य में केवल काशी,कोसल, कौशिक (इलाहाबाद), तथा इन्द्रप्रस्थ सम्मिलित थे। किन्तु गहड़वाल राजाओं ने धीरे-धीरे अपने राज्य का विस्तार प्रारम्भ किया। समय के साथ उनकी इस विजय नीति के कारण कन्नौज की गणना

देश के सबसे बड़े राज्यों में होने लगी। गोविन्दचन्द्र इस वंश का एक प्रतापी शासक था। उसके समय में कन्नौज की पूर्वी सीमा पटना तक पहुंच गयी थी। उसका उत्तराधिकारी विजय चन्द्र था जिसने 1155 से 1170 ई0 तक राज्य किया। उसने भी अपने पूर्वजों की नीति जारी रखी। मुहम्मद गोरी का समकालीन जयचन्द्र इस वंश का अन्तिम शासक हुआ।

14.4.4.4 बुन्देलखण्ड के चन्देल तथा कलचुरी के चेदि

दो अन्य राजपूत वंश, कालिजर और महोबा के चन्देल तथा कलचुरी के चेदि थे। चन्देलों ने 11 वीं शताब्दी में गंगा यमुना दोआब के दक्षिणी भाग पर अधिकार कर लिया था। बुन्देलखण्ड भी उनके राज्य में सम्मिलित था। मदनवर्मन इस वंश का प्रतापी शासक था। उसने मालवा के परमारों तथा गुजरात के जयसिंह सिद्धराज को पराजित किया। त्रिपुरी के कलचुरियों को भी उसने पराजित किया था। लगभग 12 वीं शताब्दी के अन्त में कलचुरी चन्देलों अधीनस्थ सामन्त हो गये थे। किन्तु आगे चलकर चन्देलों को भी गहड़वालों से पराजित होना पड़ा। परमर्दी देव इस वंश का अन्तिम महत्वपूर्ण शासक था। अजमेर के पृथ्वीराज द्वितीय ने उसे हराकर उसके राज्य का बड़ा भाग चौहान राज्य में मिला लिया था। इस युग के प्रारम्भ में चन्देल राज्य में महोबा, कालिंजर, खजुराहो तथा अजयगढ़ शामिल थे। मालवा के परमारों की राजधानी धार थी। भोज (1010-1055 ई0 के लगभग) के समय में परमार बहुत शक्तिशाली और प्रसिद्ध हो गये थे। किन्तु 12वीं शताब्दी में इस राज्य का अधःपतन हो गया। मुहम्मद गोरी के समय में इस वंश का शासक एक महत्वहीन सामन्त था और गुजरात के चालुक्यों के अधीन था।

14.4.4.5 उत्तरी बंगाल के पाल

पूर्वी भारत में पाल और सेन दो प्रसिद्ध राजपूत राज्य थे। 12 वीं शताब्दी में पाल वंश के एक राजा रामपाल ने उत्कल, कलिंग और कामरूप को जीतकर कुछ समय के लिए पुनः अपने पूर्वजों की साम्राज्यवादी प्रतिष्ठा की स्थापना की। किन्तु उसकी मृत्यु के बाद पुनः पाल राज्य का अधःपतन हो गया, ब्रहमपुत्र की घाटी स्वतन्त्र हो गयी,दक्षिण बंगाल भी पाल राज्य से पृथक हो गया। कुमारपाल (1126-1130 ई0), मदनपाल (1130-1150 ई0) आदि परवर्ती शासक अत्यन्त दुर्बल थे। उनके समय में विशाल पाल साम्राज्य संकुचित होकर छोटा सा राज्य रह गया। बिहार उनके हाथों से निकल गया तथा हजारीबाग में नये राजवंश ने सत्ता संभाली। पाल राज्य में केवल उत्तरी बंगाल रह गया।

14.4.4.6 बंगाल का सेन राज्य

सेन वंश के विषय में यह माना जाता है कि उनका मूल दक्षिण भारत था। राजेन्द्र चोल के वे सामन्त थे और राजेन्द्र चोल के दक्षिण वापस चले जाने के बाद वे बंगाल में रह गये और 11 वीं शताब्दी में उन्होंने पूरबी भारत में अपनी सत्ता की नींव डाली थी। इस वंश के एक सदस्य विजयसेन (1097-1159 ई0) ने पूर्वी बंगाल पर अधिकार कर लिया। उसने कामरूप, कलिंग और दक्षिण बंगाल से निरन्तर युद्ध किया और मिथिला (उत्तरी बिहार) को भी

हराया। बल्लाल सेन (1159-1170 ई0) और लक्ष्मण सेन (1170-1203 ई0) इस वंश के अन्तिम शासक हुए। उनके राज्य में उत्तरी तथा पूर्वी बंगाल, मिथिला और पश्चिम में मिथिला से लगे हुए कुछ जिले सम्मिलित थे। लक्ष्मण सेन के समय में उसकी वृद्धावस्था तथा आन्तरिक फूट के कारण सेन राज्य दुर्बल हो गया।

स्वमूल्यांकित प्रश्न

कृपया निम्नांकित प्रश्नों के समक्ष सत्य अथवा असत्य लिखिए।

1. करामाथी लोग मुल्तान में राज्य करते थे, फतेह दाऊद उनका शासक था।

2. महमूद के आक्रमण के समय में कश्मीर की रानी दिद्दा थी।

3. कन्नौज पर महमूद गजनवी ने 1018 ई0 में आक्रमण किया

4. चोल राजा राजेन्द्र चोल महमूद का समकालीन था

5. पृथ्वीराज तृतीय रायपिथौरा के नाम से विख्यात था

6. गहड़वाल वंश का जयचन्द्र महमूद गजनवी का समकालीन था

7. बल्लाल सेन, सेन वंश का अन्तिम शासक था

8. मुहम्मद गोरी के समय बंगाल पर चोल शासक राजेन्द्र चोल का आक्रमण हुआ

14.5 सामाजिक तथा धार्मिक दशा

अरबों की सिन्ध विजय के बाद लगभग 300 वर्षों तक हमारा देश वाह्य आक्रमणों से मुक्त रहा। इस प्रकार दीर्घकाल तक विदेशी आक्रमणों के भय से मुक्त रहने के कारण हमारी जनता में यह भावना उत्पन्न हो गयी कि भारत भूमि को कोई विदेशी शक्ति आक्रान्त कर ही नहीं सकती। हमारे शासक सैनिक विषयों में असावधान हो गये थे। उन्होंने उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की किलेबन्दी नहीं की और न उन पर्वतीय देशों की रक्षा का ही प्रबन्ध किया जिनमें होकर विदेशी सेनाऐं हमारे देश में प्रवेश कर सकती थी। इसके अतिरिक्त हमारे लोगों ने उस नवीन रण नीति और युद्ध प्रणाली में भी सम्पर्क नहीं रखा जिसका विकास अन्य देशों में हो चुका था। आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक के युग में विचारों की संकीर्णता हमारे देशवासियों के चरित्र का एक अंग बन गयी थी। अलबरूनी नामक प्रसिद्ध विद्वान महमूद गजनवी के साथ हमारे देश में आया था। उसने यहॉ रहकर संस्कृत भाषा, हिन्दू धर्म तथा दर्शन का अध्ययन किया। वह लिखता है कि ''हिन्दुओं की धारणा यह है कि हमारे जैसा देश, हमारी जैसी जाति, हमारे जैसा राजा, धर्म, ज्ञान और विज्ञान संसार में कहीं नहीं है।'' वह यह भी लिखता है कि हिन्दुओं के पूर्वज इतने

संकीर्ण विचारों के न थे जितने इस युग के लोग थे। उसे यह देक्षकर भी बडा आश्चर्य हुआ था कि ''हिन्दू लोग यह नहीं चाहते कि जो चीज एक बार अपवित्र हो चुकी है, उसे पुनः शुद्ध करके अपना लिया जाये।''

उस युग में हमारा देश शेष संसार से लगभग पूर्णतया पृथक था। यही कारण था कि हमारे देशवासियों का अन्य देशों से सम्पर्क टूट गया और वे वाह्य जगत में होने वाली राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं से भी सर्वथा अनभिज्ञ रहे। अपने से भिन्न जातियों और संस्कृति से सम्पर्क में न रहने के कारण हमारी सभ्यता गतिहीन होकर सड़ने लगी थी । वास्तविकता तो यह है कि इस युग में हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पतन के स्पष्ट लक्षण दिखायी देने लगे। इस युग के संस्कृत साहित्य में हम उतनी सजीवता और सुरूचि नहीं पाते, जितनी कि पांचवीं और छठी शताब्दियों के साहित्य में। हमारी स्थापत्य, चित्रकला तथा अन्य ललित कलाओं पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। हमारा समाज गतिहीन हो गया, जातिबन्धन अधिक कठोर हो गये, स्त्रियों को वैधव्य के नियमों का कठोरता से पालन करने पर बाध्य किया गया। उच्च वर्णों में विधवा विवाह की प्रथा पूर्णतया समाप्त हो गयी और खानपान के सम्बन्ध में भी अनेक प्रतिबन्धों का पता चलता है। अछूतों को नगर से बाहर रहने के लिए बाध्य किये जाने की सूचनाऐं भी मिलती हैं।

धार्मिक क्षेत्र में भी अधःपतन होने लगा था। शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म को पुनः संगठित किया था और उसे एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर खड़ा किया था, किन्तु सामाजिक दोषों को वे भी दूर नहीं कर सके। इस युग में वाममार्गी सम्प्रदायों की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इन संप्रदायों में सुरापान, मांसाहार, व्यभिचार आदि दुर्व्यसन आम थे, उनका दुष्प्रभाव भी समाज में पड़ रहा था। उनके दूषित विचार शिक्षा संस्थाओं में भी प्रवेश कर गय थे, विशेषकर बिहार में विक्रमशिला के विश्वविद्यालय में तन्त्रवाद एवं वाममार्गी शिक्षा का बोलबाला बड़ रहा था। इस काल में सन्यासियों का महत्व घट रहा था, यद्यपि साधारण जनता की उनके प्रति श्रद्धा बनी रही। देवदासी प्रथा इस युग का एक महान दोष थी। प्रत्येक मन्दिर में देवता की सेवा के लिए अनेक अविवाहित लड़कियां रखी जाती थीं। इससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिल रहा था और वैश्यागमन मन्दिरों में एक सामान्य नियम बन गया। निकृष्ट कोटि की अश्लीलता से पूर्ण तान्त्रिक साहित्य की इस युग में अधिक वृद्धि हुई। हमारे नैतिक जीवन पर इसका दूषित प्रभाव पड़ा। इस काल में महानतम विद्वानों के लिए अश्लील ग्रन्थ रचना बुरा न माना जाता था। काश्मीर के राजा क्षेमेन्द्र ने ''समय मैत्रक ' (वैश्या की आत्मकथा) नामक ग्रन्थ रचा। इस प्रकार की सब चीजों ने समाज के उच्च तथा मध्यम वर्गों के लोगों को भ्रष्ट कर दिया। सम्भवतः साधारण जनता प्रचलित साहित्य और वाममार्गी धर्म के दूषित प्रभाव से मुक्त रही।

14.6 आर्थिक जीवन

आर्थिक दृष्टि से देश समृद्ध था। आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार, उन्नत कुटीर उद्योगों,खानों और खेती से उत्पन्न होने वाली सम्पत्ति अनेक पीढ़ियों से जमा होती चली आयी थी। समाज के उच्च वर्ग ने खूब धन संचित कर लिया था

और मन्दिर तो उसके भण्डार थे। किन्तु आर्थिक दृष्टि से समाज के विभिन्न वर्गों में गहरी असमानता थी। राजपरिवारों के सदस्यों, सामन्तों तथा दरबारियों का जीवन अत्यन्त समृद्ध तथा विलासपूर्ण था। व्यापारी लोग धनपति थे और करोड़ों रूपया दान आदि में व्यय किया करते थे। गांव के साधारण लोग दरिद्र थे, यद्यपि अभाव पीड़ित वे भी न थे। फिर भी संचित धन, शान्ति तथा व्यापार के कारण साधारणतया देश की आर्थिक दशा अच्छी थी। इसी अपार सम्पत्ति के लालच ने ही वास्तव में महमूद गजनवी को भारत पर आक्रमण करने को प्रेरित किया। राजनीतिक ढांचा अत्यन्त दुर्बल था। नौकरशाही भ्रष्ट थी और जनता की शक्ति भी अनेक दूषित प्रभावों के कारण क्षीण हो चुकी थी।

महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के समय के भारत की यह दशा थी कि बाहर से शक्तिशाली दिखायी देने पर भी वह इस योग्य न था कि अपने धर्म और स्वाधीनता की रक्षा कर सके।

स्पष्ट है कि उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था जिनका एक दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार था। बहुधा एक राज्य पर अनेक राजवंशों के लोग अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। जब विदेशियों ने भारत में आक्रमण किये तो आपसी वैमनस्य के कारण वे एकजुट न हो सके और अलग-अलग पराजित होते रहे। इन्हीं परिस्थितियों में भारत में गुलाम वंश की नींव पड़ी थी।

14.7 साराशं

तुर्की आक्रमण की पूर्व संध्या में भारत शेष संसार से लगभग पूर्णतया पृथक था। यही कारण था कि हमारे देशवासियों का अन्य देशों से सम्पर्क टूट गया और वे वाह्य जगत में होने वाली राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं से भी सर्वथा अनभिज्ञ रहे। आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक के युग में विचारों की संकीर्णता हमारे देशवासियों के चरित्र का एक अंग बन गयी थी।धार्मिक क्षेत्र में भी अधःपतन होने लगा था। आर्थिक दृष्टि से देश समृद्ध था। आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार उन्नत था,कुटीर उद्योगों,खानों और खेती की दशा अच्छी थी। लेकिन समाज के विभिन्न वर्गों में गहरी असमानता थी। शासक वर्ग तथा व्यापारी लोग धनपति थे, अपार सम्पत्ति के लालच ने ही वास्तव में महमूद गजनवी को भारत पर आक्रमण करने को प्रेरित किया।राजनीतिक ढांचा अत्यन्त दुर्बल था। महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के समय के भारत की यह दशा थी कि बाहर से शक्तिशाली दिखायी देने पर भी वह इस योग्य न था कि अपने धर्म और स्वाधीनता की रक्षा कर सके।

14.8 तकनीकी शब्दावली

देवदासी प्रथा - सुन्दर बालिकाओं को मंदिर में अर्पण करने की कुप्रथा

वाममार्ग - तन्त्र साधना का वह मार्ग जिसमें पंच मकारों का आश्रय लिया जाता है

गंगईकोण्डचोलपुरम - राजेन्द्र चोल की उपाधि जिसका अर्थ गंगा घाटी का विजेता था

14.9 स्वमूल्यांकित प्रश्नों के उत्तर

भाग 14.4 के प्रश्न 1 का उत्तर- सत्य

भाग 14.4 के प्रश्न 2 का उत्तर- सत्य

भाग 14.4 के प्रश्न 3 का उत्तर- सत्य

भाग 14.4 के प्रश्न 4 का उत्तर- सत्य

भाग 14.4 के प्रश्न 5 का उत्तर- सत्य

भाग 14.4 के प्रश्न 6 का उत्तर- असत्य

भाग 14.4 के प्रश्न 7 का उत्तर- असत्य

भाग 14.4 के प्रश्न 8 का उत्तर- असत्य

14.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Habibullah, A.B.M. – *Foundation of Muslim Rule in India*

2. Prasad Ishwari – *History of Medieval India*

3. Prasad Ishwari – *A History of the Quraunah Turks in India*

4. Srivastav, A.L. – *The Sultanat of Delhi*

5. Majumdar (General Editor) – *Struggle for Empire*

6. Elliot & Dowson – *The History of India as Told by Its Own Historians*

7. Hodivala, S. H. – *Studies in IndoMuslim History*

8. Jackson, Peter – *The Delhi Sultanate: A Political and Military History*

9- gchc] eqgEen & *fnYyh lYrur* Hkkx 1

10- JhokLro],-,y-& fnYyh lYrur

11- ik.Ms;] foey pUnz & e/;dkyhu Hkkjr dk bfrgkl

9. हबीब, मुहम्मद - दिल्ली सल्तनत भाग 1

10. श्रीवास्तव,ए.एल.- दिल्ली सल्तनत

11. पाण्डेय, विमल चन्द्र - मध्यकालीन भारत का इतिहास

14.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Minhaj-i-Siraj – *Tabqat-i-Nasiri* (Eng Tr. Raverty, H. G.)

2. Isami – *Futu-us-Salatin* (Edited by Husain, A. M.)

2. Lane Poole – *The Mohammadan Dynasties*

3. Lane Poole – *Medieval India under Mohammadan Rule*

14.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. तुर्की आक्रमण की पूर्व संध्या में भारत की राजनीतिक अवस्था का वर्णन कीजिए।